CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

की ओर देखकर मैंने कहा, हे पूषन्! तुमने अपने रश्मिजाल को समेट लिया है। इस बार अपना कल्याणतम रूप प्रकाशित करो ताकि मैं उस पुरुष को देख सकूं जो तुम में और मुझ में एकरूप होकर विराजमान है।"

एक दूसरी कविता में उन्होंने लिखा है—"रंगमंच पर से एक-एक करके जब सभी दीपशिखाएं बुझ गईं, सभास्थल रिक्त हो गया, उस समय किसी 'निश्शब्द' के तर्जनी-संकेत द्वारा मेरा चित्त उस सुषुप्ति की भांति शांत हो गया, जिस में अन्धकार की कालिमा के पुत जाने से स्वप्नों के चित्र मिट गए होते हैं। अब तक अपने नाट्य परिचय के लिए मैं ने जो वेश बनाया था, वह पहली बार यवनिका टूटते ही क्षण भर में निरर्थक हो गया। मैंने अपने को जिन नाना चिह्नों और प्रसाधनों द्वारा चिह्नित किया था वे मिट गए, अपने में आप ही निगूढ़ पूर्णता ने मुझे निस्तब्ध कर दिया—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्यास्त के अन्तिम चितारोहण के समय दिनान्त की शून्यता में धरती की विचित्र चित्रलेखा जब प्रच्छन्न हो जाती है तो बाधामुक्त आकाश अपने ही तारा दीप्त परिचय से मौन विस्मय के साथ स्तब्ध हो रहता है।"

उस अवस्था में भी उन्हें संसार व्यापी लोभ और भय का घिनौना दृश्य व्याकुल कर रहा था। एक तरफ बलदृप्त गर्वान्ध राष्ट्रों के भयंकर लोभ का दारुण ताण्डव चल रहा था और दूसरी ओर निरीह, दुर्बल राष्ट्रों में दयनीय विभीषिका का आक्रमण हो रहा था। बेहोशी के बाद की उनकी एक कविता में यह बात बड़ी ही दृप्त भाषा में प्रकट की गई है। उन्होंने लिखा है—"जिस दिन मेरा चैतन्य लुप्ति की गुहा से मुक्त हुआ, उसने उस दिन एक दुस्सह विस्मय की आंधी के साथ दारुण दुर्योग के भीतर से न जाने किसी नरकाग्निवर्षी ज्वालामुखी के गिरि-गह्वर के किनारे लाकर मुझे खड़ा कर दिया। मैंने देखा कि वह ज्वाला-मुखी तप्त धूम के रूप में मनुष्य का तीव्र अपमान उगलता हुआ फुफकार रहा है, अमंगल ध्वनि से धरित्री को कंपित कर रहा है और वायुमण्डल के स्तरों में कालिमा पोत रहा है। वहीं से मैंने इस युग की आत्मघाती मूढ़ उन्मत्तता को देखा और यह भी देखा कि उसके समूचे शरीर में विकृति का घिनौना परिहास घर कर गया है। एक तरफ है स्पर्द्धित क्रूरता और मत्तता का निर्लज्ज हुंकार, और दूसरी तरफ है भीरुता का दुविधा भरा पद संचार और कृपण का छाती से चिपका हुआ वह सतर्क सम्बल जो संत्रस्त प्राणी की भांति क्षणिक गर्जन से ही तत्काल क्षीण स्वर से अपनी निरापद नीरव नम्रता को प्रकट कर देता है।

"(मैंने देखा) जितने प्रौढ़ प्रतापशाली राष्ट्रपति हैं उन सभी ने मन्त्रसभा के मण्डप तले संशय और संकोचवश अपने समस्त आदेशों और निर्देशों को अधरोष्ठों से दबा कर पीस रखा है। इधर वैतरणी नदी के उस पार से दल के दल दानव पक्षी क्षुब्ध शून्य से उड़े आ रहे हैं और ये नरमांस के भुक्कड़ गिद्ध अपने यन्त्र रूपी पक्षों को हुंकारित करके महाशून्य को अपवित्र कर रहे हैं।

"हे महाकाल के सिंहासन पर बैठे हुए विचारक, मुझे शक्ति दो, शक्ति दो, मेरे कंठ में वज्र वाणी संचारित करो ताकि मैं इस शिशु-घाती, नारीघाती कुत्सित वीभत्सता को धिक्कार दे सकूं—जो धिक्कार लज्जातुर इतिहास के हृदयस्पन्दन में उस समय भी स्पन्दित होता रहे जब कि यह रुद्ध कण्ठ, भयार्त, शृंखलित विश्व चुपचाप अपने चिता भस्म के नीचे विलुप्त हो गया रहेगा।"

इस प्रकार कवि ने अवसन्न चेतना की गोधूलि वेला में क्रूरता का मत्त अभियान और भीरुता का संशय भरा पद संचार ही अनुभव किया। भुक्खड़ गिद्धों के यन्त्र पक्षों की कोलाहल ध्वनि ही सुनी। महाकाल के सिंहासन पर बैठे हुए विचारक से उन्होंने दृढ़ कंठ की याचना की—ऐसी शक्तिशाली वाक्शक्ति, जो शिशुघाती, नारीघाती कुत्सित वीभत्सता को धिक्कार दे सके। यद्यपि उनका यह विश्वास पूर्ण शक्ति के साथ उस समय भी विद्यमान था कि एक दिन यह वीभत्स हिंसा अपने चिता भस्म के नीचे दब जाएगी। परन्तु व्याकुल वे अवश्य थे। अपनी अन्तिम कविताओं में उन्होंने अपने समस्त जीवन के विश्वासों पर मानो सही की मुहर लगाई। मृत्यु से लगभग डेढ़ वर्ष पहले लिखा था—"बार-बार मन में आता है कि अब मैं चला। कहां? जहां कोई नाम नहीं है। जहां विश्व का सारा परिचय मिट गया है, जहां 'हां' और 'ना' एक होकर मिल गए हैं; जहां आलोकहीन, अन्धकारहीन, अखण्ड दिन विराजमान हैं, जहां मेरे 'मैं' की धारा क्रमशः पूर्ण चैतन्य के समुद्र संगम में मिल जाएगी। मैं ठीक नहीं कह सकता कि अन्त में मेरा यह बाह्यावरण क्या होगा। क्या वह नाना रूप रूपान्तरों में होता हुआ कालस्रोत में बहता हुआ फिरेगा। और मैं अपनी स्वतन्त्रता में उसके बाहर के बहु पदार्थों से जड़ित अजाने तीर्थयात्री को निरासक्त होकर देख सकूंगा?"

पिछली पंक्ति : रामेन्द्र सुन्दर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मनमोहन चक्रवर्ती
सामने : अजित कुमार, शिवधान विद्यार्णव, कंजलाल घोष, नरेन्द्र भट्टाचार्य

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वस्तुतः रवीन्द्रनाथ मृत्युजय होकर ही जीते रहे। वे अपने जीवन-देवता को मृत्यु के अतीत समझते थे। मृत्यु जीवन के वेग को पवित्र बनाने के लिए आती है। गति का रोध ही मृत्यु है। अगजग में व्याप्त प्राण-धारा विराट् वेग से आगे बढ़ रही है। उन्होंने इस प्राण-धारा को 'निरवधि, विराम विहीन, अविरल, अविच्छिन्न, अजस्र' कहा है। अपनी एक अत्यन्त शक्तिशाली कविता 'चंचला' में उन्होंने इस जीवन-धारा को विराट् नदी कह कर सम्बोधित किया है। इसी विराट् नदी के विरामहीन प्रवाह के स्पन्दन से शून्य सिहर उठता है, और इस रूपात्मक जगत् की बहु विचित्र रूप-रस-वर्ण और गन्ध से आप्लावित सृष्टि रूप ग्रहण करती है। उन्होंने कहा है—"हे विराट् नदी, अदृश्य अशब्द तेरी वारिधारा, बह रही निरवधि, विरामविहीन —स्पन्दन से सिहरता शून्य तेरी रुद्र कायाहीन गति के, वस्तुहीन प्रवाह के खा-खा प्रचण्डाघात उठते वस्तु रूपी फेन के शतपुंज;—नवआलोक की तीव्र छटा विच्छुरित होती नित्य चित्र-विचित्र वर्णस्रोत में उठ-उठ निरन्तर धावमान विशाल तिमिर व्यूह से। इस चण्डगति से उठे घूर्णाचक्र के प्रत्येक स्तर में पतित-घूर्णित, भटकते-मरते अनेकों सूर्य शशि नक्षत्र बुदबुद की तरह दिन रात"। यह जो जीवनधारा की गति है उसका लक्ष्य क्या है ? कवि ने इस उन्मत्त अभिसार-यात्रा का बड़ा ही हृदय-ग्राही चित्र खींचा है। जीवनधारा की यह अभिसार-गति न जाने किस जीवन-देवता को प्राप्त करने का प्रयत्न है। इस प्रेम के कारण ही यह गति है और इस गति से ही सारा विश्व रूपायित हो रहा है। उसका एक क्षण रुकना भी रूप को विकृत करना है। जहां कहीं भी विश्व में विकार दिखाई दे रहा है वहीं गतिरोध है और जहां कहीं भी जीवन का स्वच्छन्द प्रवाह सहज गति में चल रहा है वहीं सौंदर्य है, प्रेम है, प्राण है। कवि ने कहा है "हे भैरवी, हे वैरागिणी, तुम जो चलीं उद्देश्यहीन अबाध—यह गति ही तुम्हारी रागिणी —निश्शब्द मोहनगान। क्या तुम को निरन्तर है पुकार रहा अनन्त सुदूर जिसका ओर-छोर न सका कोई जान ! उसकी ही निगोड़ी प्रीति से तुम हाय घर-छोड़ी बनीं, चल पड़ीं, हो उन्मत्त उस अभिसार-यात्रा को;—प्रणय का यह विकट संचार!— वक्षोहार बारम्बार टकराता, बिखरते जा रहे नक्षत्र मुक्ताकार ! घनमेचक चिकुर संभार उड़-उड़ व्योमतल को कर रहा है अन्ध तिमिराकार, हिल उठते चपल विद्युद्वलय के कर्णफूल दुरन्त, व्याकुल विकल अंचल छू रहा धरती, विलुण्ठित हो रहा कम्पित तृणों पर और बन-बन में नवोदित तरुण किशलयराजि पर निर्बाध; झड़ पड़ते कि बारम्बार—चम्पा, बकुल और जूही, पाटल मार्ग में गिर गिर तुम्हारे नवल ऋतु की थाल से।"

जीवनी शक्ति की यह वेगवती धारा विकारों को ध्वस्त करती जा रही है। उसकी चरितार्थता इसी बात में है कि वह अपने को निश्शेष भाव से दान करती हुई आगे बढ़ रही है। जो अपने को निश्शेष भाव से दे सकता है वही पवित्र होता है, वही जीवन देवता को प्राप्त कर सकता है। इस जीवन धारा के पादस्पर्श से मृत्यु प्राण बनती है, जीवन निर्विकार बनता है और मनुष्य देवत्व प्राप्त करता है। रवीन्द्रनाथ ने इसी जीवन धारा की महिमा को 'सुन्दर के मधुर आशीर्वाद' के रूप में उपलब्ध किया था। इसीलिए वे मृत्यु की विभीषिका से कभी विचलित नहीं हुए। इस महिमामयी जीवनधारा को लक्ष्य कर उन्होंने कहा था—

"केवल दौड़ती हो, दौड़ती हो, दौड़ती उद्दाम, उद्धत वामगति से ताकती भी हो। नहीं फिर कर, लुटाती जा रहीं सर्वस्व अपना खींच-खींच, उलीचकर सब शून्य करती हुई निज भण्डार, कुछ भी नहीं संचतीं-संजोतीं—लेतीं बटोर-बटोर। मन में कहीं शोक न मोह, तुम निर्भय, निधड़क, निछोह ! इस आनन्द में पथ के लुटाती जा रहीं निर्बाध निज पाथेय, जिस क्षण पूर्ण हो जातीं उसी क्षण कुछ नहीं रहता तुम्हारा, सभी हो जाता निखिल का, स्वयं को इस भांति दे देना उंडेल अशेष—मस्ती का कि अलबेला नशा निर्द्वन्द्व। इससे तुम सदैव पवित्र ! पादस्पर्श से है भूल जाती मलिनता निज विश्वधूलि सदा निमेष-निमेष में; उन्मिषित होकर मृत्यु बनती प्राण प्रति उल्लास में;——बस एक क्षण भी अगर थक कर, सांस लो विश्वास का तुम तनिक रुक कर, स्फीत हो उठ्ठे जगत् दुर्वार पुंजीभूत पर्वत-सदृश-वस्तु-समूह से; अति पंगु-मूक-कबन्ध, वधिर-निरन्ध, वह बाधा घमण्डी स्थूल तनु मोटी-मुचंडी खड़ी होवे छेंककर पथ रोक सबका—क्षुद्र से भी क्षुद्रतर परमाणु अपने आप के ही भार से—संशय-जनित दारुण-विरूप विकार से—हो उठे विद्ध असीम नभ के मूल में ही वेदना के शूल से। हे नटी, हे चपलाप्सरे, तुम हे अलक्ष्य-विहारि-मोहिनी सुन्दरी ! तेरे मनोहर नृत्य की मन्दाकिनी अहरह स्रवित होकर रही पावन निरन्तर विश्वजीवन को मरण के स्नान से;—निःशेष निर्मल नील में विकसा रही है इस असीम अनन्त तनु आकाश का आलोक।"

उन्होंने इस विचित्र विश्व को रूप देने वाली महाशक्ति को ही 'सुन्दर' कहा है। नाना वर्णों, रंगों और गन्धों में वही 'सुन्दर' रूपायित हो रहा है। सर्वात्मना अपने आप को उसे दे देना ही 'सुन्दर' की चरम उपलब्धि है। महाकाल के अधीश्वर की स्पन्दहीन, चांचल्य-हीन स्थिति में विक्षोभ होने से ही इस रूपात्मक जगत् की सृष्टि हुई है। महाकाल के सुन्दर रूप में अभिव्यक्त होने को ही उन्होंने कविजनोचित भाषा में अपनी 'तपोभंग' नामक कविता में अभिव्यक्त किया है। "उस दिन उन्मत्त भाव से नर्तन करते हुए तुम वन-वन में घूमते फिरे, (हे महाकाल,) मैं उसी छन्द और लय के साथ ताल मिलाता हुआ प्रतिक्षण छन्द और गीत रचा करता हूं, तुम्हारे ललाट देश में विराजमान चन्द्रमा के आलोक में मैं नन्दन वन के सपनों-भरी आंखों से जी भर कर नित्य नूतन की लीला देखा करता हूं और रूप की तरंगों से लहराती हुई, 'सुन्दर' की पुल-कम्पन वाली हंसी की रंगीनी देखा करता हूं।" विश्व को रूप देने वाले महान् सुन्दर के ताल के साथ ताल मिलाकर चलने वाला तत्व ही सौंदर्य है। जिसने इस अग-जग व्यापी सौंदर्य को समझ लिया है वही विश्व को मधुमय देख सकता है। जहां कहीं उस मूल छन्द के साथ ताल नहीं मिलता, तुक नहीं मिलता वहीं विकार होता है, वहीं कुरूपता होती है, वहीं आकर कवि का चित्त विक्षुब्ध होकर धिक्कार की वाणी सुनाने को व्याकुल हो उठता है। "मैं महेन्द्र का वह दूत हूं जो तुम्हारा तप भंग किया करता है। हे रुद्र संन्यासी, मैं स्वर्ग का षड्यन्त्र हूं—मैं कवि हूं। हर युग में आया करता हूं तुम्हारे तपोवन में !" रूप और सौंदर्य को महिमामण्डित करने वाला कवि ही इस जगत् में 'सुन्दर का मधुर आशीर्वाद' है। रवीन्द्रनाथ से अधिक उज्ज्वल रूप में यह आशीर्वाद कभी नहीं आया।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कवि और विश्वबन्धु : रवीन्द्रनाथ

कृष्ण कृपलानी

आज रवीन्द्रनाथ ठाकुर के देहावसान को बीस वर्ष हो चुके हैं और उनके जन्म को पूरी एक शताब्दी। उनके जीवन के ये अस्सी वर्ष उस स्वर्ण युग के साक्षी हैं जिसमें भारतवर्ष ने राष्ट्र के रूप में पुनरुज्जीवन पाया था। सन् १८६१ में जब उनका जन्म हुआ, भारतवर्ष अंग्रेजों के पद तले बिछा हुआ था। प्राचीन राजन्य वर्ग या तो मिट चुका था, या धूल में लोट रहा था। १८५७ का महाविद्रोह नृशंसतापूर्वक कुचला जा चुका था। भारतवर्ष में मरुभूमि की-सी शान्ति छाई हुई थी। उसकी रचनात्मक प्रतिभा कुण्ठित हो गई थी। राजनीतिक रूप से वह अपनी स्वाधीनता खो चुका था, और सांस्कृतिक रूप से अपनी आत्मा। जीहजूरियों और प्रतिक्रियावादियों का युग आ पहुंचा था, उनका जो या तो पाश्चात्य ढंगों की नकल करते थे या जो मृत रूढ़ियों और पाखण्डों के बन्धन में आश्वासन खोजते थे।

अस्सी वर्ष बाद जब रवीन्द्रनाथ ने अपनी इहलीला समाप्त की, भारतवर्ष की काया पलट चुकी थी। सांस्कृतिक क्षेत्र में वह फिर से अपना आत्म-सम्मान प्राप्त कर चुका था और राजनीतिक क्षेत्र में वह अगस्त १९४२ की महाक्रान्ति के पथ पर अग्रसर हो रहा था। यह सच है कि इस राजनीतिक जागरण का मुख श्रेय महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) को मिलना चाहिए। पर राजनीतिक जागरण और सांस्कृतिक चेतना पृथक-पृथक वातावरण में विकसित नहीं होते। उनके मूल परस्पर सम्बद्ध रहते हैं और अन्ततः रचनात्मक प्रेरणा की उसी एक धारा से सिंचित होते हैं। रवीन्द्रनाथ इस रचनात्मक प्रेरणा के प्रधान स्रोतों में थे।

यद्यपि रवीन्द्रनाथ मूलतः कवि थे, पर वे मात्र कवि न थे, ठीक उसी प्रकार जैसे गांधी जी मात्र राजनीतिज्ञ न थे। उनकी प्रतिभा ने जिस जिस का स्पर्श किया उसी को समृद्ध किया। अपने नाम को सार्थक कर उन्होंने रवि की ही भांति अपने युग को आलोक और ऊष्मा दी, अपने देश की नैतिक एवं मानसिक भूमि को जीवन दिया, चिन्तन के अपरिचित क्षितिजों का उद्घाटन किया, और पूर्व एवं पश्चिम की खाई पर सेतु बांधा। उनकी प्रतिभा की ऊर्जा सचमुच विस्मयकारी है। उतनी ही विस्मयकारी है उन साहित्यिक विधाओं की विविधता और चारुता, जो उन्होंने रचीं। उन्होंने अपने समाज को अपनी एकान्त साधना द्वारा वे गुण प्रदान किए जिनका विकास करने में अन्य देशों के समाज को सदियों तक तपस्या करनी पड़ी है—ऐसी भाषा जो चिन्तन एवं भावना के सूक्ष्मतम स्पन्दन को व्यक्त कर सके, ऐसा साहित्य जिसे विश्व भर के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान दिया जा सके। साहित्यिक सर्जना का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जिसका उन्होंने अपने साहसपूर्ण अभियान द्वारा अनुसन्धान और अलंकरण न किया हो। और इनमें से अनेक क्षेत्र तो बंगला के लिए बिल्कुल अछूते थे, क्योंकि बंगला सबसे पहले

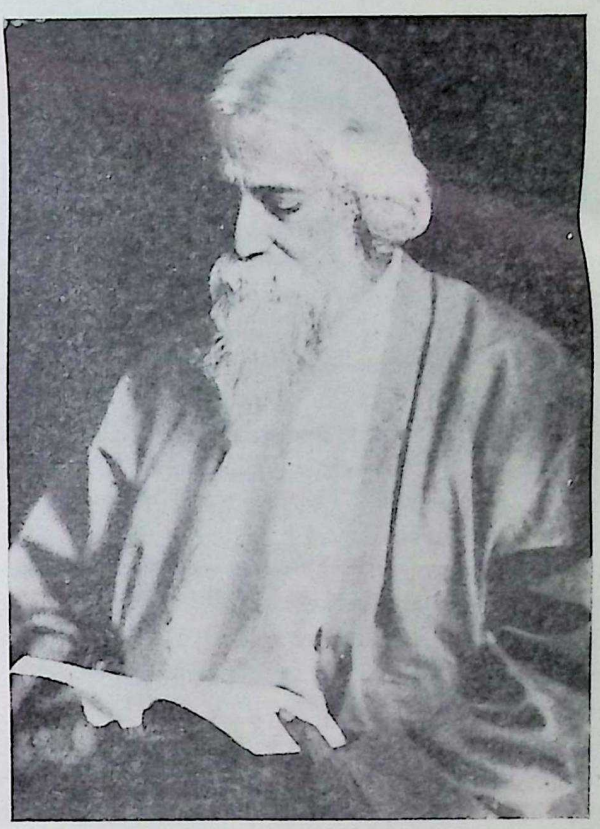

रवीन्द्रनाथ ठाकुर १९२६ में

उन्हीं के हाथों सफलीभूत हुई थी। रवीन्द्रनाथ विश्व के उन कतिपय लेखकों में हैं जिनकी रचना महान साहित्य की पूर्वीय या पाश्चात्य, प्राचीन या अर्वाचीन सभी कसौटियों पर खरी उतरती है।

आधुनिक लेखकों में उन्हें यह अद्वितीय विशेषता प्राप्त है कि यदि एक ओर बंगला के दक्ष से दक्ष कला-मर्मज्ञ उनके काव्य का आनन्द लेते हैं, और विद्वान प्राध्यापक उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में ग्रन्थ पर ग्रन्थ लिखते रहते हैं तो दूसरी ओर कलकत्ते की जन-संकुल गलियों और बंगाल के सुदूर गांवों के सरल अबोध जन उनके गीतों को मगन होकर गाते रहते हैं। ऋतुओं की एक-एक भंगिमा, बंगाल की शस्य-श्यामला भूमि का एक-एक दृश्य, मानव अन्तर का हर्ष-विषादमय एक-एक स्पन्दन उनके गीतों में ध्वनित है। आत्माभिव्यक्ति की शक्ति से वंचित

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मूक जन उनके गीत गाते हैं या उनकी वाणी सुनते हैं और अपनी शब्द-हीनता के भार को हलका कर लेते हैं।

पर यह बात उसी भाषा के भाषियों पर लागू होती है जिसमें रवीन्द्रनाथ ने लिखा और गाया। जो लोग रवीन्द्रनाथ को केवल अनुवादों के माध्यम से जानते हैं वे उनकी प्रतिभा के विस्तार और गौरव का कोई अनुमान नहीं कर सकते। उनका सच्चा स्वरूप जानने के लिए मूल बंगला में उनकी रचनाएं पढ़ना और उनके गीतों को स्वर-ताल से सुनना जरूरी है। तब मन एक साथ आनन्द और विस्मय से भर जाता है। जो गीतकार कवि के रूप में अद्वितीय हो, जिसके नाट्य सम्वादों ने मानवीय संघर्ष की गहनतम भंगिमाओं को अमर शब्दों में बांध दिया हो, जिसके भक्ति-काव्य की महिमा और मर्मस्पर्शिता में उपनिषदों की-सी आत्मीयता का कम्पन हो, और जिसके स्वर एवं शब्द--दोनों के उत्कृष्ट संयोग से उद्भूत गीतों की अजस्र धारा बहाई हो, उसे कौन-सी संज्ञा दी जाए। टाल्सटाय की प्रतिभा का वर्णन करने में असमर्थ होकर तुर्गनेव कह उठा था : 'वे गुरु हैं, गुरु!'। ठीक उसी प्रकार, रवीन्द्रनाथ के रचनात्मक कृतित्व पर मन हर्ष और आश्चर्य में भरकर मूक रह जाता है।

यद्यपि रवीन्द्रनाथ मूलतः कवि थे, हम यहां उनकी साहित्यिक प्रतिभा का विश्लेषण नहीं करेंगे। जो लोग उनकी साहित्यिक रचनाओं की भाषा के ज्ञाता हैं वे ही उनके अपार सौन्दर्य का थोड़ा-बहुत अनुमान कर सकते हैं। शेष देशवासियों के लिए तो रवीन्द्रनाथ का महत्व इस बात में है कि उन्होंने हमारे सांस्कृतिक विकास को प्रेरणा और दिशा दी, एवं ऐसी प्रतिभा का उदाहरण प्रस्तुत किया जो अपनी कला-साधना में डूबी रहने पर भी निरन्तर अपने समाज की सेवा में रत रही। ऐसा कलाकार जो अहम्मन्य न हो, और ऐसा सुधारक जो कट्टर नहीं--दुर्लभ ही होता है। प्रतिभा के ऐश्वर्य के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व में सर्वाधिक विलक्षण बात यह थी कि उनका विकास सर्वांगीण और संयोजित था। उनके व्यक्तित्व के धार्मिक, नैतिक, कलात्मक और बौद्धिक पक्षों में इतनी सम्पूर्णता और सामंजस्य था कि यह बात जितनी उन पर लागू होती है, उतनी और किसी पर नहीं कि वे जीवन को स्थिर एवं समग्र दृष्टि से देखते थे।

हम भारतीयों के चरित्र में असन्तुलन की प्रवृत्ति होती है। हम जीवन के कुछ पक्षों को भुलाकर अन्य पक्षों को आवश्यकता से अधिक-मूल्यवान मान लेने के आदी होते हैं। अपने धार्मिक आवेश में हम कभी-कभी जीवन को ही असार मान बैठते हैं। आध्यात्मिक शान्ति की खोज में हम जीवन के आनन्द से ही विमुख हो जाते हैं। इसीलिए उन्होंने लिखा : वैराग्य-साधन में जो मिलती हो, वह मुक्ति मेरी नहीं है, मैं तो आनन्द के असंख्य बन्धनों में मुक्ति का स्वाद पाता हूं।

× × ×

नहीं, मैं इन्द्रियों के द्वार बन्द कर योग-समाधि नहीं लगाऊंगा; दृश्य, गन्ध, गीत में जो आनन्द है उसी में मुझे तुम्हारा आनन्द मिलता है।

× × ×

संसार के इस मेले में लाखों-करोड़ों प्राणी भाग ले रहे हैं, तुम इसे महज बालकों का खेल समझते थे।

जातीय शुद्धता की रक्षा और सामाजिक स्थायित्व के उद्देश्य से हमारे मनीषियों ने समाज को दुर्लंघ्य कोष्ठकों में विभाजित कर दिया कि वर्ण-व्यवस्था का लौहबन्धन हमारे समाज का सबसे बड़ा अभिशाप बन बैठा। चारित्रिक असन्तुलन की प्रवृत्ति के ऐसे ही असंख्य उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनके कारण हम एक साथ बर्बर और सुसंस्कृत, विवेकशील और निर्बुद्धि, उदार और नृशंस प्रतीत होते हैं। व्यक्तिगत स्वच्छता का जो भूत हम पर सवार है उसका स्वास्थ्य-विज्ञान से शायद ही कोई सम्बद्ध हो। हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता है सन्तुलित चरित्र और प्रबुद्ध दृष्टिकोण, ताकि हम साहसी तो हों पर पाशविक न हों, सम्वेदनशील हों पर दीन न हों, बौद्धिक हों पर भौतिकवादी न हों, धार्मिक हों पर कट्टर न हों, और देशभक्त तो हों पर राजनीतिक पाखण्डी न हों।

यदि रवीन्द्रनाथ केवल कवि ही होते, निरे स्वप्नद्रष्टा और गायक, तो भी वे आज विश्व के अमर पुरुषों में गिने जाते। पर वे कुछ और भी थे। वे मानव थे, उदारमना थे, एक पूर्ण विकसित मानव, एक संयोजित व्यक्तित्व। वे अपने देशवासियों को प्यार करते थे, वे एक विवेकशील नागरिक थे, वे ऐसे राष्ट्रभक्त थे जिनकी समस्त मानव जाति में श्रद्धा थी। उन्होंने आजीवन सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया -- उन्होंने दीन जनों को भौतिक सुख-साधन का, नागरिकों को स्वराज्य का, अबोध जनों को ज्ञान का, बालक को अबाध विकास का और नारी को पुरुष के समकक्ष सम्मान का अधिकार दिलाने का प्रयास किया। जिस धर्म का उन्होंने प्रचार किया वह मानव-धर्म था, जिस वैराग्य की महत्ता उन्होंने गाई वह संसार से वैराग्य नहीं, घृणा और वासना से वैराग्य था। उन्होंने जिस मुक्ति के लिए संग्राम किया वह एक जन द्वारा दूसरे जन का शोषण करने की स्वतन्त्रता नहीं थी, वह मानव-मात्र के अवरोधक बन्धनों से मुक्ति थी -- बाह्य संगठन के अतिचार से मुक्ति, और उससे भी बढ़कर सत्तालोलुप मानव के अतिचार से मुक्ति।

राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में वे मार्गदर्शक थे। चालीस वर्ष तक वे तुच्छ ग्रामीण परिवेश में साधारण अध्यापक की भांति सहर्ष कार्य करते रहे, तब भी जब वे ऐसे यश के भागी बन चुके थे जिस पर राजाओं को भी ईर्ष्या हो सकती थी। उन्होंने सबसे पहले शिक्षक के वे सिद्धान्त निर्धारित और नियोजित किए जो आज शिक्षा-शास्त्र में सर्वमान्य हो चुके हैं, चाहे व्यवहार में वे अभी तक न आ पाए हों। आज तो हम सभी जानते हैं कि कालेज में जाकर विद्यार्थी जो ज्ञान अर्जित करता है, उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण ज्ञान वह है जो वह पाठशाला में आत्मसात् करता है, कि मातृभाषा के माध्यम के बिना वास्तविक शिक्षा नहीं हो पाती, कि पुस्तकों की अपेक्षा क्रिया-कलाप द्वारा दी गई शिक्षा ज्यादा सच्ची होती है, कि शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य रटी-रटाई विद्या से मस्तिष्क भर डालना नहीं अपितु भावों का विकास और परिष्कार है, कि संस्कृति निरे शास्त्रीय ज्ञान से कहीं बढ़कर है, आदि-आदि। पर जब सन् १९०१ में रवीन्द्रनाथ ने सबसे पहले अपने शिक्षा-गत प्रयोग आरम्भ किए थे तब ऐसे कितने देशवासी थे जिन्होंने इनकी कल्पना भी की हो। और आज भी हम में से ऐसे कितने हैं जो राष्ट्रीय जीवन में इन सिद्धान्तों का वास्तविक महत्व पहचानते हों? आज भी हमारे समाज में अध्यापक सबसे अधिक उपेक्षित, तिरस्कृत और अल्प वेतन-भोगी है, यद्यपि रवीन्द्रनाथ आक्सफोर्ड के विद्वानों के समक्ष दिए गए अपने हिबर्ट भाषणों की अपेक्षा उन पाठों को अधिक मूल्यवान मानते थे जो वे स्कूल में बालकों को पढ़ाते थे।

गांधीजी द्वारा कुटीर उद्योगों के माध्यम से शिक्षण की योजना अपनाने के वर्षों पहले रवीन्द्रनाथ शान्तिनिकेतन के अपने विद्यालय में यह पद्धति अपना चुके थे। ग्रामीण पुनर्निर्माण के क्षेत्र में भी, रवीन्द्रनाथ

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ने जब अपने प्रथम प्रयोग प्रारम्भ किए तब तक कांग्रेस अथवा अन्य कोई राष्ट्रीय संस्था इस कार्य की ओर अग्रसर नहीं हुई थी। यदि रवीन्द्रनाथ ने और कुछ न भी किया होता, तो भी वे शान्तिनिकेतन एवं श्रीनिकेतन के अपने कार्यों से ही भारतवर्ष के महान् राष्ट्र निर्माताओं में स्थान पा लेते।

प्रचारात्मक राजनीति को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। उसे ऐसे इंजिन की उपमा देते थे जो निरन्तर सीटी बजाता और धुआं उड़ाता रहता है, पर चलता कभी नहीं। अपने भाग्य-पोत के कर्णधारों के प्रति उनका उपदेश था "समुद्र की लहरों का भय मत करो, पर अपने पोत के छेदों पर ध्यान दो। हम दास बने, इसलिए नहीं कि ब्रिटिश दस्यु थे, वरन् इसलिए कि हम स्वयं ही असमर्थ हो गए थे। अपनी रचनात्मक प्रतिभा के स्रोतों का विकास करने की बजाय हम दूसरे के घूरों से चिथड़े बटोरने लग गए थे।" सन् १९०६ में ही उन्होंने लिखा था--

"ऐसी कोई शक्ति नहीं जो हमें देश-सेवा के पुण्य कार्य से वंचित कर सके--वह तो ईश्वर की देन है। स्वराज्य सदा हमारी मुट्ठी में है!.... यदि हम कार्य न करें तो अधिकार खो बैठेंगे। यदि हम सेवा का सहज अधिकार खो बैठें और अपनी कर्तव्य-हीनता के लिए दूसरों को दोषी ठहराएं, तो हमारे लिए इससे बढ़ कर लज्जा की बात और क्या हो सकती है। यह बड़े दुख और दुर्भाग्य की बात है कि एक ओर तो हम सेवा और त्याग से किनारा कसे बैठे हैं; दूसरी ओर हम उनसे कष्ट-निवारण की आशा लगाए रहें जिनके मन में सेवा अथवा स्नेह की कोई सहज प्रेरणा नहीं है, जो केवल दयाभाव से कभी-कभी कृपा के दान बिखेरते रहते हैं।"

गांधीजी के दर्शन का भी यही मर्म था। पर अपने दैनिक समाचार-पत्रों पर एक दृष्टि डालते ही हम समझ सकते हैं कि हमारे अधिकांश राजनैतिक वक्ता और सम्पादक इस सत्य की ओर कितना ध्यान देते हैं। जब हमारे शुद्ध राजनीतिज्ञ गांधीजी की वाणी पर ही ध्यान नहीं देते, तब यदि वे यह भूल गए हों कि कभी रवीन्द्रनाथ ने भी ये वचन कहे थे, तो आश्चर्य ही क्या।

हम अपना जीवन कैसे संवारें? रवीन्द्रनाथ ने इस प्रश्न का दुहरा उत्तर दिया। नगरों और गांवों के बीच की खाई पाट दो। गांव ही हमारे राष्ट्रीय बल के मूल स्रोत हैं। गांव के जीवन को फिर से पूर्णता प्रदान करो। अपने गांवों को आत्म-निर्भर और समर्थ, स्वस्थ और प्रसन्न बनाओ, उन्हें अपने देश की सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति सचेत करो और उन्हें यह क्षमता प्रदान करो कि वे अपनी भौतिक, बौद्धिक और आर्थिक परिस्थितियों के सुधार के लिए विज्ञान के आधुनिक साधनों का सुचारु रूप से उपयोग कर सकें। गांव ही हमारी राष्ट्रीय जीवनी शक्ति के आधारभूत कोष हैं। यदि उनका ह्रास हुआ तो शनैः शनैः सारे राष्ट्र का ह्रास हो जाएगा। अतः नगर और गांव के बीच की प्रवंचक खाई अवश्य भरनी चाहिए। हमारे सामाजिक संगठन और शैक्षणिक प्रणालियों ने हमारे राष्ट्रीय जीवन को एक ऐसी दुमंजिली इमारत का रूप दे दिया है, जिसमें निचले तल्ले की घुटन-भरी विषाक्त कोठरियों की चक्करदार दुनिया को ऊपर के तल्ले के डांवाडोल, सस्ते, अर्द्ध-आधुनिक कक्ष-लोक से जोड़नेवाला कोई जीना नहीं है।

दूसरे, अपने समाज की देह को विषमता और अंधविश्वास के कैन्सर से मुक्त करो। सामाजिक दासता की बालू पर कोई भी राजनीतिक चमत्कार नहीं टिक सकता। जो जड़ता हमें सामाजिक प्रथाओं के मृत पंजरों की पूजा करने को प्रेरित करती है, वही हमारी राजनीति में अचल दीवारों के कारागृह रच देगी; सहानुभूति की जो संकीर्णता हमें मानव के एक विशाल भाग पर सामाजिक हीनता का विषम जुआ लादने में प्रवृत्त करती है, वही एक न एक दिन हमारी जनतांत्रिक व्यवस्था को भी स्वाधीनता का उपहास बना डालेगी। यदि हमारा मन मुक्त नहीं है, तो कोई भी राजनीतिक व्यवस्था हमें स्वाधीनता नहीं दे सकती।

हे मेरे अभागे देश!
तुमने जिनका अपमान किया है,
उनके अपमान में आज तुम्हें समान रूप से भाग लेना होगा।
जिनको तुमने मानवीय अधिकारों से वंचित किया है
जो सामने खड़े रहने पर भी तुम्हारे अंक में स्थान न पा सके
उनके अपमान में आज तुम्हें समान रूप से भाग लेना होगा।

रवीन्द्रनाथ का कहना था कि भारतवर्ष ने आध्यात्मिक जीवन में तो चरम सत्य की उपलब्धि की है, पर उसकी गति का सदा निरादर किया है। यही कारण है कि हमारा अतीत इतना गौरवमय है, और हमारा वर्तमान इतना लज्जाजनक। अध्यात्म के क्षेत्र में तो हमने अज्ञात लोकों का उद्घाटन कर अपने असीम साहस का परिचय दिया, पर दैनंदिन जीवन के व्यवहार में प्रयोग की इस भावना को कार्यान्वित करने में असफल रहे। हम समाधि की स्थिरता में ही सन्तोष पाते रहे, गति की स्थिरता पाने का हमने कोई प्रयत्न नहीं किया। दूसरे शब्दों में, हम युग-परिवर्तन के साथ-साथ कदम बढ़ाने में असफल रहे, और इसीलिए आज उसका अनिवार्य दण्ड भोग रहे हैं। पर विलास-सामग्री के परिग्रह पर आधारित और यांत्रिक जीवन की पूजा में रत पाश्चात्य देशों की तथाकथित प्रगति के प्रति भी रवीन्द्रनाथ के मन में कोई भ्रम न था। प्रगति से उनका अर्थ था मानव व्यक्तित्व का निरन्तर विकास--व्यष्टिगत और समष्टिगत। उन्होंने कहा था:

मैं उसी जीवन में विश्वास करता हूं जो प्रगतिशील है, और उसी प्रगति में विश्वास करता हूं जो जीवन की सहयोगिनी है। मैं जड़ विराट को चरण-सेवा से मानव की मुक्ति का पाठ पढ़ाता हूं!

उनकी दृष्टि में वास्तविक संघर्ष पूर्व और पश्चिम का नहीं था, अपितु मानव और यंत्र का, व्यक्तित्व और संगठन का था। यंत्र और संगठन, मानव को इन दोनों की अपेक्षा है, पर यह आवश्यक है कि मानव इन दोनों पर वश प्राप्त करे, उनका मानवीकरण करे, यह नहीं कि वह इन के वश में हो जाए, जड़ बन जाए।

अन्य आधुनिक विचारकों की भांति रवीन्द्रनाथ के पास विश्व के उद्धार का कोई नक्शा नहीं था। उनका किसी विशिष्ट 'वाद' में कोई विश्वास न था। वे तो बस कुछ आधारभूत सत्यों पर जोर देते थे, ऐसे सत्यों पर जिनकी उपेक्षा अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारने के समान है। यही कारण है कि उनके विचार कभी पुराने नहीं पड़ सकते। गांधी जी ने ठीक ही कहा था कि वे हमारे महान् प्रहरी थे। उनका काव्य हमें सदा आनन्द देता रहेगा, उनके गीत हमें सदा मुग्ध करते रहेंगे, उनकी शिक्षा सदैव हमारा मार्ग आलोकित करती रहेगी। संसार इस महान् विभूति का सदैव ऋणी रहेगा जिसने अपनी सारी प्रतिभा मानव-हित में समर्पित कर दी थी।

आज राजनीतिक समस्याओं ने हमें घेर रखा है। यकृत का रोगी जिस प्रकार और किसी भी ओर ध्यान नहीं दे पाता और हर अनाड़ी को चिकित्सक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यूरोप में गुरुदेव का स्वागत

मान बैठता है, उसी प्रकार हम भी सदा उसी रोग की सोचते रहते हैं जो हमारे राष्ट्रीय जीवन को क्षीण बनाए दे रहा है और उन सभी राजनीतिज्ञों के वचनों पर भरोसा करने लग जाते हैं जो हमारे रक्षक बनने का दम भरते हैं। आज के सबसे बड़े परोपजीवी राजनीतिज्ञ हैं, पुजारी या साधू नहीं। जिस प्रकार रोग की दुश्चिन्ता हमें औषधि पर अधिकाधिक निर्भर बना कर स्वास्थ्य के नैसर्गिक स्रोतों को बन्द कर देती है, उसी प्रकार राजनीतिक दुश्चिन्ताएं 'वादों' के प्रति लोगों के मन में भ्रम का प्रचार कर उन शक्तियों का ही पथ मूंद देती हैं जो राष्ट्रीय मानस के स्वास्थ्य और चैतन्य की मूल हैं। रोगी की ही भांति हम नुस्खों और फार्मूलों में विश्वास करने लग गए हैं।

राष्ट्रीय जीवन अथवा वैयक्तिक जीवन को अलग-अलग क्षेत्रों में बांट कर नहीं रखा जा सकता। जीवन के राजनीतिक और नैतिक क्षेत्रों के बीच, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। राजनीतिक बहुधा इस तरह बातें करते हैं मानों कुछ थोड़े-से राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन कर देने से ही भूमि पर स्वर्ग उतर आएगा। वे यह भूल जाते हैं कि व्यवस्था की सफलता तो उसको चलाने के ढंग पर निर्भर करती है, और चलाने का ढग उसको चलानेवाले व्यक्तियों के चरित्र और विवेक पर। उदाहरणार्थ, संसदीय व्यवस्था मात्र से देश में जनतन्त्र की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, उसके लिए नागरिकों में कुछ विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक है, यथा, अपने अधिकारों पर अड़े रहने का साहस, विरोधियों के प्रति सहिष्णुता, भावनाओं का संयम, और ऐसी विनोदशीलता जो राजनीतिज्ञों के चेहरे उघाड़ सके। जिस समाज के नागरिकों में ये गुण नहीं, वह कभी भी जनतंत्रात्मक नहीं हो सकता, चाहे उसकी राजनीतिक संस्थाएं कैसी ही क्यों न हों।

इसी प्रकार, यह दावा नहीं किया जा सकता कि राजनीतिक स्वाधीनता की प्राप्ति और आधारभूत अधिकारों की घोषणा अपने आप भारतीय जनों को सच्ची स्वाधीनता दे देगी। सच पूछिए तो विदेशी सता के चले जाने पर ही स्वाधीनता के लिए हमारी योग्यता की सच्ची परीक्षा प्रारम्भ हुई है। यही कारण था कि गाधी जी राष्ट्रीय आन्दोलन के रचनात्मक पक्ष पर इतना जोर देते थे। वह स्वाधीनता की प्राप्ति का ही नहीं, स्वाधीनता के संरक्षण का भी मार्ग है। और इसीलिए रवीन्द्रनाथ अपने देश की रचनात्मक क्षमता के अवरुद्ध स्रोतों को मुक्त करने का उद्यम करते रहे, क्योंकि वह क्षमता विनाश में भी निर्माण कर सकती है। रवीन्द्रनाथ राजनीतिज्ञ नहीं थे। वे दूसरों के जीवन को संचालित करना नहीं चाहते थे, चाहे हित हो अथवा अहित। पर उनकी निर्मल दृष्टि निरन्तर मानव-भविष्य पर लगी हुई थी और उन चरम सिद्धान्तों की उन्होंने अचूक झलक पा ली थी जिनका परित्याग करने पर व्यक्ति और राष्ट्रों का समूल विनाश हो जाता है। सत्तात्मक राजनीति की विडम्बना को उन्होंने कितनी सुन्दरता से इस सूक्ति में बांध दिया है: "सत्ता की जड़ता चाभी को तो खराब कर देती है, और फिर कुल्हाड़ी से ताला खोलना चाहती है।"

आज भारतीय राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीयता एक फैशन बन गई है। जो राजनीतिज्ञ अपने दैनिक जीवन में अपने आस-पास की चीजें भी नहीं देख पाते, वे भी एक विश्व की चर्चा करते नहीं अघाते। उस एकमात्र व्यक्ति को हम भूल बैठे हैं जिसने ऐसे समय में उस संसार की झांकी देखने और घोषणा करने का साहस किया था जो "संकीर्ण प्राचीरों से खण्डों में विभाजित न हो गया हो" जब उसकी संवेदना की विशालता ही उपहास का कारण बन गई थी। वह ऐसे समय में एशिया और योरप के देशों में एक विश्व का एकान्त सन्देशवाही बनकर विचरण करता रहा जब सद्य-जात राष्ट्रीयतावाद की उत्तेजना में उसके शब्द बंजर में बीज के समान व्यर्थ हो गए। अपने अत्यन्त सीमित साधनों से उन्होंने शान्ति-निकेतन में अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन का एक केन्द्र स्थापित किया था जो अपने विद्वान समकालीनों से तिरस्कार ही पा सका। तिस पर जब भारतीय स्वाधीनता की प्रत्यूष वेला में नई दिल्ली में पहला एशियाई सम्मेलन हुआ तो किसी ने रवीन्द्रनाथ का नामोल्लेख तक न किया। इसका क्या कारण था—ऐतिहासिक विस्मृति या अकृतज्ञता?

रवीन्द्रनाथ ने अपनी अनुपम साहित्यिक कृतियों द्वारा अमर पद पा लिया है। भविष्य की पीढ़ियां उन्हें श्रद्धांजलि देकर उनकी महत्ता बढ़ाने का प्रयत्न करें, इसकी उन्हें कोई जरूरत नहीं। उनका स्मरण कर हम स्वयं ही गौरव-लाभ करते हैं, और जो महान् थाती उन्होंने हमें सौंपी है, उसके भागी बनते हैं।

अनुवादक: भारतभूषण अग्रवाल

रवीन्द्रनाथ कोपेनहागन में (१९२६)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

निर्झर का स्वप्न-भंग

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

आज इस प्रभात-काल में सूर्य की किरणें
प्राणों के भीतर कैसे प्रवेश कर गईं ?
गुहा के अंधकार में प्रभात-पक्षी का गान कैसे समा गया ?
न जाने, इतने दिनों बाद प्राण क्योंकर जाग उठे हैं ?
प्राण जाग उठे हैं,
अरे, पानी उछल कर उमड़ पड़ा है ।
अरे ! प्राणों की वेदना, प्राणों के आवेग को रोक रखना अब शक्य नहीं ।

पहाड़ थर-थर काँप रहे हैं,
राशि-राशि शिलाएँ टूट कर गिर रही हैं ।
फेनिल जल फूल-फूल कर दारुण रोष में गरज उठता है ।

प्रमत्त जल पागल के समान घूमकर
इधर-उधर चक्कर खाता है;
बाहर निकलना चाहता है, पर देख नहीं पाता, कारा का द्वार कहाँ है ।
क्यों रे विधाता ! यह पाषाण क्यों ?
चारों ओर पत्थरों का यह बन्धन कैसा ?
हृदय ! तोड़ो, इस बंधन को तोड़ो,
आज प्राणों के साधन का उपयोग करो ।
लहरों पर लहरें उठाकर
आघातों पर आघात करो ।
जब प्राण प्रमत्त हो उठे हों
तब किसका अँधेरा और किसका पाषाण ?
जब वासना उमड़ पड़ी हो
तब जगत् में भय किसका ?

मैं करुणा की धारा ढालूँगा,
मैं पाषाण-कारा को तोड़ डालूँगा ।
मैं संसार को प्लावन में डुबोकर
व्याकुल पागल के समान नृत्य करूँगा ।
मैं कुन्तल खोल कर, कुसुम बटोर कर
इन्द्र-धनु-अंकित पंखों पर उमड़ता हुआ
सूर्य की किरणों में हँसी बिखेरूँगा,
सर्वत्र प्राणों का संचार करूँगा ।

मैं शिखर-शिखर पर दौड़ लगाऊंगा,
पर्वत-पर्वत पर लौट जाऊँगा,
ठठा कर हँसूँगा, कल-कल स्वरों में गान गाऊँगा,
प्रत्येक ताल पर ताली बजाऊंगा ।
मेरे पास इतनी कथाएँ हैं, इतने गान हैं, इतने प्राण हैं,
इतने सुख हैं, इतनी साधें हैं कि प्राण विभोर हो उठे हैं ।

न जानें, आज क्या हुआ कि प्राण जाग उठे हैं,
मानों, दूरस्थ महासागर का गान कानों में पड़ा हो ।
अरे, मेरे चारों ओर
यह कठिन कारागार क्या है ?
तोड़ो, तोड़ो, इस कारा को भंग करो,
आघातों पर आघात देते चलो ।
अरे, आज पक्षी ने क्या गान गाया ?
सूर्य की किरणें आई हुई हैं ।

रूपान्तरकार : 'दिनकर'

दुःसमय

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

यद्यपि अनन्त अम्बर में संगी नहीं एक
यद्यपि अंगों में क्लान्ति उतरती आती है
जप रही महा-आशंका बैठी मौन मंत्र
छाई है दिग्-दिगन्त पर अब तम की चादर
पर फिर भी ओ विहंग, ओरे विहंग मेरे !
ओ पगले ! अपने पंख अभी तू बन्द न कर !
यह मुखरित स्वर वन-मर्मर की गुंजार नहीं
यह अजगर-सा सागर फूत्कारें करता है
यह कुन्द-कुसुम से रंजित कोई कुंज नहीं
कल-कल्लोलों पर फेन हिलोरें भरता है
रे कहाँ तीर वह पुष्प-पल्लवों से पुंजित
रे कहां नीड़ वह, आश्रय-शाखा वह निर्भर ?
पर फिर भी ओ विहंग, ओरे विहंग मेरे !
ओ पगले ! अपने पंख अभी तू बन्द न कर!
है खड़ी सामने तेरे अभी रात काली
वह अरुण अभी सो रहा दूर अस्ताचल पर
भय से अपना निश्वास रोक यह विश्व जगत्
निस्तब्ध अचल बैठा गिनता है कठिन प्रहर
बस, अभी-अभी तो दूर क्षितिज पर दीखा है
वह क्षीण वक्र चन्द्रमा चीरता तम-सागर
ओ रे विहंग! ओ रे विहंग ! ओ तू मेरे!
ओ पगले ! अपने पंख अभी तू बन्द न कर !
ऊपर नभ में अंगुली उठा कर तारक-दल
इंगित कर तेरी ओर ताकता जाता है
नीचे गंभीर अधीर विलोड़ित मरण-सिन्धु
सौ-सौ लहरों में तुझको ग्रसने आता है
अंजलि बांधे टेरते तुझे 'आओ, आओ'।
वे दूर तीर से कौन अरे । करुणा-कातर ?
ओ रे विहंग ! ओ रे विहंग ! ओ तू मेरे !
ओ पगले ! अपने पंख अभी तू बन्द न कर !
भय नहीं, नहीं रे स्नेह-मोह-बन्धन कोई
ओरे अब आशा नहीं कि आशा छलना है
रे नहीं निवेदन, नहीं व्यर्थ क्रंदन कोई
घर नहीं, न फूलों की शय्या की कलना है
अब तो हैं बस ये पंख और नभ का आंगन
यह उषा-दिशा से रहित निविड़ तम-मय अम्बर
ओ रे विहंग ! ओ रे विहंग ! ओ तू मेरे ।
ओ पगले ! अपने पंख अभी तू बन्द न कर !

रूपान्तरकार : भारतभूषण अग्रवाल

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

घोड़ा

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

सृजन का काम प्रायः समाप्त होने पर जब छुट्टी का घण्टा बजने आया, तभी ब्रह्मा के मस्तिष्क में एक भावोदय हुआ।

भंडारी को बुलाकर बोले, "अजी भण्डारी, मेरे कारखाने में थोड़े-से पंचभूत तो ले आओ, एक और नवीन प्राणी का निर्माण करूँगा।"

भण्डारी ने कर जोड़ निवेदन किया, "पितामह, आपने जिस समय परम उत्साहपूर्वक हाथी गढ़े, तिमि गढ़े, अजगर सांप गढ़े, सिंह और व्याघ्र गढ़े, उस समय व्यय के हिसाब की ओर तनिक भी भ्रूक्षेप नहीं किया। पचभूतों में भारी और कड़ी जाति के जो भूत हमारे भण्डार में थे, वे सब प्रायः चुकने आ गए हैं। क्षिति, अप्, तेज सभी तलहटी से आ लगे हैं। बचे हुओं में रह गए हैं मरुत् और व्योम। सो चाहे जितने ले लीजिए।"

चतुर्मुखी विधाता अपनी चार जोड़ा मूंछों पर ताव देते हुए कुछ सोचकर बोले, "अच्छी बात, भण्डार में जो कुछ बच रहा है वही ले आओ। तनिक देखा जाय।"

इस बार नए प्राणी की रचना करते समय ब्रह्मा ने पृथ्वी, जल और अग्नि को बहुत संकोच के साथ खर्च किया। इस प्राणी को न तो सींग दिए, न नख और जो दांत दिए, उनसे चबाना भले ही सम्भव हो, काटने का काम नहीं चल सकता था। तेज के भाण्ड से अवश्य कुछ खर्च किया—जिससे यह प्राणी युद्ध-क्षेत्र के किसी-किसी काम के योग्य बन गया, पर लड़ाई का शौक उसे नहीं रहा। यही है घोड़ा। यह अण्डे नहीं देता, फिर भी बाजार में इसके अण्डे को लेकर शोर है* अतएव इसे द्विज भी कहा जा सकता है।

सो जो हो, सृष्टिकर्त्ता ने इसकी रचना में मरुत और व्योम मानो ओतप्रोत कर दिए। फल यह हुआ कि इसका मन लगभग सोलहों आने मुक्ति की ओर प्रभावित हुआ। यह हवा से भी आगे निकल जाना चाहता है, असीम आकाश के पार जाने का हठ कर बैठता है। अन्य सभी प्राणी कोई कारण उपस्थित होने पर दौड़ते हैं किन्तु यह है कि अकारण दौड़ता है, मानो उसे स्वयं अपने से ही दूर भागने की गहरी साध हो। कुछ छीनना नहीं चाहता, कुछ झपटना नहीं चाहता, चाहता है केवल दौड़ना। दौड़ते-दौड़ते चूर हो जाए, ढेर हो जाए, सुन्न हो जाए, उसके बाद निश्चिह्न हो जाए—जैसे यही उसका अभिप्राय है। ज्ञानीजन कहते हैं, किसी की प्रकृति में जब मरुत्-व्योम क्षिति-अप्-तेज को कहीं पीछे छोड़ उमड़ उठते हैं, तब कुछ ऐसा ही घटित होता है।

ब्रह्मा प्रसन्न हो उठे। आवास के लिए उन्होंने अन्य जन्तुओं में किसी को दिया वन तो किसी को दी गुहा, किन्तु इसकी बेतहाशा दौड़ देखना उन्हें प्रिय था, इसलिए इसे उन्होंने दिया उन्मुक्त मैदान।

मैदान के छोर पर रहता था मनुष्य। छीना-झपटी करके वह जो कुछ इकट्ठा करता, सो एक जबर्दस्त बोझ बन बैठता था। इसी से जब उसने मैदान में घोड़े को दौड़ते देखा तो सोचा, काश किसी हिकमत से इसे बाँध पाता तो हाट-बाजार करने में बड़ा सुभीता होता।

फन्दा लगाकर एक दिन उसने पकड़ भी लिया घोड़े को। पीठ पर लाद दी जीन और मुंह में पहना दी कांटेदार लगाम। गर्दन पर चलाता चाबुक और कन्धों पर चुभाता जूते की कील। दलन और मर्दन तो था ही।

मैदान में खुला छोड़ने से हाथ से निकल जाएगा, इसलिए घोड़े के इर्द-गिर्द उसने चहारदीवारी चुन दी। बाघ को मिला था जंगल, सो जंगल ही रहा; सिंह के थी गुहा, सो किसी ने छीनी नहीं, किन्तु घोड़े को मिला था खुला मैदान, सो वह अन्त में बन गया अस्तबल। इस प्राणी को वातास और आकाश ने मुक्ति की ओर उत्तेजित तो किया किन्तु बन्धन से उसे बचा नहीं सके।

जब असह्य होने लगा तब दीवारों पर उसने लत्ती चलानी शुरू की। उसके पैर जितने जख्मी हुए दीवार उतनी नहीं हुई। हां, चूना-सुरखी उखड़ जाने से दीवार की शोभा अवश्य नष्ट होने लगी।

इस पर मनुष्य को बेहद गुस्सा आया। वह बोला, "एहसान-फ़रामोशी इसी को कहते हैं। दाना-पानी देता हूं, मोटी तलब पर एक साईस आठों पहर इसकी खुशामद में खड़ा कर रखा है, तब भी मिज़ाज नहीं मिलते।"

सो मिज़ाज मिलाने के लिए साईसों ने उठते-बैठते इस तरह डण्डे चलाने शुरू किए कि घोड़े का लत्ती चलाना फिर नहीं चला। तब मनुष्य ने अपने पुरा-पड़ोसियों को बुलाकर कहा, "मेरे इस वाहन के समान भक्त वाहन दूजा नहीं मिलेगा।"

लोगों ने तारीफ़ करते हुए कहा, "इसमें क्या शक। एकदम पानी की तरह ठण्डा है। ठीक तुम्हारे धर्म के समान शान्त-शीतल।"

एक तो शुरू से ही इस जीव के उपयुक्त दांत नहीं थे। नख नहीं थे, सींग नहीं थे, तिस पर पहले दीवार पर और फिर शून्य में लत्ती चलाना भी बन्द होगया। तब अपने अवरुद्ध मन को तनिक हल्का करने के लिये उसने आकाश की ओर मुंह उठा कर हिनहिनाना शुरू किया। इससे मनुष्य की नींद टूट गई और पुरा-पड़ौसियों को भी लगा, आवाज विशेष भक्ति-गद्गद् स्वर में नहीं सुनाई पड़ रही। सो मुंह बन्द करने के लिए तरह-तरह के यन्त्र निकले। पर दम बन्द किए बिना तो मुख सर्वथा बन्द होता नहीं, इसीसे दबा हुआ स्वर—मरणासन्न के अन्तःश्वास के समान—बीच-बीच में निकलता रहा।

(शेष पृष्ठ १५ पर)

*बोलचाल की बंगला में अलीक वस्तु के लिए 'घोड़े का अंडा' लोकोक्ति प्रचलित है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और छायावादी काव्य

रामकुमार वर्मा

भारतीय भाषाओं में बंगला ही ऐसी भाषा है जिसने नवयुग के आलोक में अपना साहित्य शतदल की भांति प्रस्फुटित किया। इसका कारण यह था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सन् १८०० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना कलकत्ते में की और पश्चिम की सभ्यता का प्रसार बंगाल में किया। यद्यपि भारतीय साहित्य और समाज में क्रान्ति का शंखनाद अतीत में भी गूंजा है किन्तु उस क्रान्ति-नाद में पश्चिमी सभ्यता द्वारा उत्पन्न की हुई क्रान्ति का स्वर भी सम्मिलित हुआ और समाज, साहित्य और शिक्षा को नवीन प्रेरणा देने वालों में बंगाल के राजा राममोहन राय, राजर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का नाम चिरस्मरणीय माना गया।

उसी परम्परा में भारतीय स्वतन्त्र चिन्तन के अग्रणी श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उपनिषद् साहित्य की चिन्तन शैली में सन्तों की सहज अनुभूति को हृदयंगम कर एक नवीन जीवन-दर्शन की सृष्टि की। यह जीवन दर्शन अन्तर्मुखी था। इसने परम्परा से आए हुए समस्त वाह्याचारों की मान्यता पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया और एकमात्र हृदय की भाषा में सत्य को सौन्दर्य के साथ उपस्थित करने की दृष्टि प्रदान की। वास्तव में उन्होंने सत्य की साधना की और उस साधना में समस्त अवरोधों की शृंखलाओं को तोड़कर एकमात्र मानवता के सच्चे स्वरूप के दर्शन किए। उसी मानवता के विकास और उसके स्वस्थ सौन्दर्य में उनकी साहित्यिक एवं कलात्मक प्रेरणा जीवन भर कार्य करती रही। उपनिषदों की पृष्ठभूमि रहने के कारण श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का साहित्य अपने दृष्टिकोण में पूर्णतः भारतीय रहा और उसने समस्त मानवीय व्यापारों में एक अन्तर्व्यापी सौन्दर्य के दर्शन किए तथा उनमें निगूढ़ रहस्यात्मक संकेतों की ध्वनि सुनी। इसी विशिष्ट दृष्टिकोण पर सन् १९१३ में उन्हें नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। पुरस्कार के कारणों में लिखा गया--

"जीवन की अन्तर्व्यापिनी गहराई और काव्य रचनाओं में उच्चादर्शों के अभिव्यक्तीकरण के लिए, साथ ही उस तेजस्वी शैली के लिए जिसमें वे प्राच्य चिन्ता धारा के सौन्दर्य और नूतन रूप को पाश्चात्य साहित्य शिल्प में अनूदित करते हैं।"

यही कारण है कि अपने मानवतावादी दृष्टिकोण तथा सौन्दर्य दर्शन के रहस्य में वे रहस्यवादी कवि संत कबीर से अत्यधिक प्रभावित हुए।

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की यह विचारधारा धीरे-धीरे अन्य भारतीय भाषाओं में भी प्रवाहित हुई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य से ही हिन्दी का सम्पर्क बंगला भाषा से होने लगा था। भारतेन्दु युग में तो सभी प्रतिष्ठित बंगला उपन्यासकारों और नाटककारों की कृतियों का अनुवाद हिन्दी में हो गया था। जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि का संसार-व्यापी प्रभाव हुआ तो हिन्दी में भी उसी शैली से प्रभावित काव्य रचना की ओर प्रवृत्ति लक्षित हुई। गीतों की परम्परा हिन्दी में प्राचीन काल से चली आ रही है। कबीर, तुलसी, सूर, मीरा आदि के पद अपने आराध्य के आत्म-निवेदन में न जाने कितने भक्त-हृदयों को आन्दोलित करते रहे हैं। रीतिकाल में यह शैली कवित्त और सवैयों के कारण अधिक नहीं चली। भारतेन्दु ने पुनः गीतों की शैली आरम्भ की किन्तु द्विवेदी युग में वर्णन-वैचित्र्य को प्रश्रय मिलने के कारण यह शैली अधिक नहीं उभर सकी। हां, द्विवेदी युग के अन्तिम चरण में ही पंत और प्रसाद की रचनाओं में यह शैली लाक्षणिक संकेतों को लेकर प्रमुख रूप से सामने आई और इसे छायावाद का नाम दिया गया।

छायावाद वस्तुतः स्थूल से नीचे उतर कर सूक्ष्म जीवन और जगत के रहस्यों की कुतूहलजनक जिज्ञासा है। इसी में उसे अन्तर्व्यापिनी सत्ता के दर्शन होते हैं और उसके सत्य के सम्बन्ध में अनेक विस्मयजनक व्यापार दृष्टिगत होते हैं। इन व्यापारों का क्षेत्र अधिकतर प्रकृति का प्रांगड़ ही होता है क्योंकि वही एकमात्र सत्य, शिव और सौन्दर्य की क्रीड़ा-स्थली है। सूरदास ने अपने भ्रमर गीत में इसी प्रकृति को लिया है, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी अन्तर्व्यापिनी गहराई इसी प्रकृति में प्राप्त की है और छायावादी कवियों को भी इसी प्रकृति में स्थूल की सूक्ष्म छाया में अपना जीवन दर्शन अथवा अपार्थिव संकेत प्राप्त हुआ है। सूक्ष्म छाया दर्शन के कारण ही इसे छायावाद नाम मिला है।

वस्तुतः छायावाद उन्हीं रास्तों से होकर चला है जिनका संकेत महाकवि रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में प्राप्त होता है। यह कहना कठिन है कि छायावाद के सभी कवियों ने रवीन्द्र साहित्य का गहन अध्ययन किया है तथापि यह अवश्य कहा जा सकता है कि जिस भांति कबीर का अन्तर्दर्शन रवीन्द्रनाथ ठाकुर में है, रवीन्द्रनाथ ठाकुर का अन्तर्दर्शन छायावादी काव्य में है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का संकेत हिन्दी छायावादी काव्य का एक विस्तृत आकाश है जिसमें जीवन के सौन्दर्य दर्शन की ज्योत्स्ना राशि राशि बिखरी हुई है।

घोड़ा—(पृष्ठ १४ का शेषांश)

एक दिन वह स्वर पहुंचा ब्रह्मा के कानों तक। ध्यान भंग करके उन्होंने एक बार खुले मैदान की ओर दृष्टि डाली। यहां घोड़े का चिह्न भी नहीं था।

पितामह ने यम को बुलाकर कहा, "यह अवश्य तुम्हारी ही करतूत है। मेरा घोड़ा तुम्हीं ने लिया है।"

यम बोले, "सृष्टिकर्त्ता, सब सन्देह आप सदा मुझ पर ही करते हैं। टुक मनुष्यों के मुहल्ले की ओर दृष्टि डालिए।"

ब्रह्मा ने देखा, एक अत्यन्त संकरी जगह है, चारों ओर प्राचीर खड़ी है, उसी के बीच घोड़ा खड़े-खड़े क्षीण स्वर में हिनहिना रहा है।

हृदय विचलित हो गया। मनुष्य से बोले, "मेरे इस जीव को यदि तुम मुक्ति नहीं दोगे तो मैं उसके व्याघ्र के समान नख और दांत बना दूंगा; यह तुम्हारे किसी काम नहीं आएगा।"

मनुष्य बोला, "छिः, छिः, यह तो हिंस्रता को ही प्रश्रय देना होगा।

(शेष पृष्ठ १६ पर)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

नासिक से 'रविकाका' का पत्र

(एक बार वर्षाकाल में गुरुदेव घूमने के लिए नासिक गए थे। वहाँ से उन्होंने कलकत्ता-स्थित अपने भतीजे सुरेन्द्रनाथ को एक कौतुक एवं कुतूहलपूर्ण पत्र बंगला-मिश्रित 'हिन्दुस्थानी' में लिखा था। पत्र के हलके परिहास के अन्तराल में छिपी प्रवासी की वेदना स्पष्ट पहचानी जा सकती है। साथ ही कलकत्तावासियों के मुंह से राह चलते सुनी जानेवाली नाम-गोत्रहीन हिन्दी के प्रति भी कवि की मीठी चुटकी स्पष्ट है।)

कलकत्ता में चला गया रे सुरेन बाबू मेरा,
सुरेन बाबु, आसल बाबू, सकल बाबु को सेरा।
खुड़ा साब को काय को नहि पतिया भेजो बाच्छा--
महिनाभर, कुछ खबर मिले ना इयेत नहि आच्छा!
टपाल्, टपाल् कहाँ टपालरे, कपाल हमारा मन्द,
सकाल वेलाते नाहि मिलता टपाल् को नाम गन्ध!
घर को याके कायको बाबा, तुम्से हम्से फर्खत्,
दो-चार कलम लीख् देओड़े इस्मे क्या हय हर्कत्।
प्रवास को एक सीमापर हम् बैठके आछि एकला--
सुरि बाबा को वास्ते आँखसे बहुत् पाणि नेकला।
सर्वदा मन केमन कर्ता केंदे उठ्ता हिर्दय--
भात खाता, इस्कुल याता, सुरेन बाबु निर्दय!
मन्का दुःखे हुहु करके निक्ले हिन्दुस्थानी--
असम्पूर्ण ठेक्ता काने बाङलाको जवानी।
मेरा उपर जुलुम कर्ता तेरि बहिन बाइ,
कि करेङा कोथाय याङा भेबे नाहि पाइ!
बहुत् जोर से गाल टिपता दोनो आङलि देके,
बिलाती एक पैनि बाजना बाजाता थेके थेके,
कभी कभी निकट आके ठोंटमे चिमटि काट्ता,
काँचि लेकर कोंक्ड़ा कोंकड़ा चुलगुलो सब छाँटता,
जज साहेब कुच बोल्ता नहि रक्षा करबे केटा
कहाँ गयोरे कहां गयोरे जज साहेबकि बेटा!
गाड़ि चड़के लाठिन पड़के तुम्त याता इस्किल,
ठोंटे नाके चिमटि खाके हमरा बहुत मस्किल!
एदिके आबार party होता, खेल्नेकोबि याता,
जिमखानामे हिमझिम एवं थोड़ा बिस्कुट खाता।
तुम छाड़ा कोइ समजे नात हम्रा दुरावस्था,
बहिन तेरि बहुत merry खिल खिल कर्के हास्ता!
चिठि लिखिओ माके दिओ बहुत् बहुत् सेलाम,
आजकेर मत तबे बाबा विदाय होके गेलाम।

—लिप्यन्तर एवं शब्दार्थ : हरिशंकर शर्मा

बाबुको मेरा—बाबुओं में श्रेष्ठ। खुड़ा साबको—काका साहब को। इयेत—यह तो। टपाल—डाक। याके—जाकर। हरकत्—हानि। आछि—हूं। एकला—अकेला। पाणि—पानी। केमन करता—कैसा हो जाता है। केंदे उठता—रो उठता है। भात खाता—भोजन करता। हु हु करके—वेग से। असम्पूर्ण····जवानी—बँगला भाषा कानों को अधूरी लगती है। बाई—भाई। कि करेङा—क्या करूँ। कोथाय याङा—कहाँ जाऊँ। भेबे····पाइ—सोच नहीं पाता। टिपता—दबाता भींचता। देके—द्वारा। पैनि बाजना—पिआनो बाजा। थेके थेके—रह रहकर। ठोंटमे··काटता—ओठों में चुटकी भर लेता है। काँचि—कैंची। कोंकड़ा··चुलगुलो—कुंचित, घुंघराले केशों को। लाठिन पड़के—लैटिन पढ़कर। एदिक आबार—(और) फिर यहाँ। छाड़ा—अतिरिक्त। ना तो—भी तो नहीं। आजकेर···आज फिलहाल विदा लेता हूँ।

घोड़ा—(पृष्ठ १५ का शेषांश)

सो आप चाहे जो कहें, पितामह आपका यह प्राणी मुक्ति के योग्य ही नहीं। इसी के हित के लिए कितना व्यय उठाकर मैंने अश्वशाला बनवाई है। अपूर्व है यह अश्वशाला।"

ब्रह्मा ने हठपूर्वक कहा "इसे छोड़ना ही होगा।"

मनुष्य बोला, "अच्छी बात है, छोड़े देता हूँ। किन्तु सात दिन की अवधि है। यदि इसके बाद भी आप कहेंगे कि मेरा अस्तबल आपके मैदान की अपेक्षा बेहतर नहीं, तो मैं नाक कटाने को तैयार हूँ।"

मनुष्य ने किया क्या कि घोड़े को तो मैदान में छोड़ दिया पर उसकी अगली दोनों टांगों को कसकर रस्सी से बाँध दिया। तब घोड़ा इस तरह चलने लगा, कि मेंढ़क की चाल भी उससे सुन्दर दीखे।

ब्रह्मा निवास करते हैं सुदूर स्वर्गलोक में। उन्होंने घोड़े की चाल तो देखी पर उसके घुटनों का बन्धन नहीं देखा। वे अपनी ही कीर्ति की यह भांडों जैसी चाल-ढाल देखकर शर्म से लाल हो उठे। बोले, "सचमुच, भूल हो गई।"

मनुष्य हाथ जोड़कर बोला, "अब इसे लेकर करूं तो क्या। वरन् आपके ब्रह्मलोक में कोई मैदान हो तो इसे वहीं रवाना कर दूँ।"

ब्रह्मा व्याकुल होकर बोले, "जाओ, जाओ, लौटा ले जाओ उसे अपने अस्तबल में।"

मनुष्य ने कहा, "आदिदेव, मनुष्य के लिए तो यह एक भारी बोझ हो गया।"

ब्रह्मा बोले, "यही तो मनुष्य का मनुष्यत्व है।"

अनुवादक : मोहनलाल वाजपेयी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

गुरुदेव

बनारसीदास चतुर्वेदी

"क्या शान्तिनिकेतन न देखोगे ?" यह प्रश्न दीनबन्धु एण्डरूज ने तीसरी मई सन् १९१८ को किया था। म उनके दर्शनार्थ कलकत्ता गया था और वे कविवर के जोरासांको वाले मकान पर ठहरे हुए थे।

मैंने उत्तर दिया--"शांतिनिकेतन तो हम लोगों के लिए तीर्थ स्थान की तरह है, अवश्य ही वहां की यात्रा करूंगा।"

इस प्रकार आज से ४३ वर्ष पूर्व मुझे शान्तिनिकेतन जाने का अवसर प्रथम बार मिला था। सौभाग्य से दूसरे दिन बुधवार था और वहां प्रत्येक बुधवार को प्रार्थना मन्दिर में गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रवचन हुआ करता था। मन्दिर में सब एकत्रित थे--विद्यार्थी समाज, अध्यापकगण तथा अतिथि लोग--और गुरुदेव की प्रतीक्षा कर रहे थे। धीरे-धीरे वे पधारे और वेदी के निकट बैठ गए। गुरुदेव का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था। उनका दिव्य मुखमंडल दर्शक को मंत्रमुग्ध-सा कर देता था। दीनू बाबू और उनकी पार्टी ने बड़े मधुर स्वर में गुरुदेव का कोई गीत गाया, और तत्पश्चात् गुरुदेव का प्रवचन हुआ। वाणी की वह तेजस्विता, स्वर का वह उतार-चढ़ाव और शब्दों का वह चयन सभी चीजें निराली थीं। ऐसा प्रतीत होता था कि हम उपनिषद् काल के किसी ऋषि का प्रवचन सुन रहे हों! बंगला भाषा में बहुत थोड़ी ही जानता था, इसलिए उसका सारांश ही समझ पाया।

दूसरे दिन जब मैं गुरुदेव की सेवा में उपस्थित हुआ और चरणस्पर्श करके उनकी आज्ञानुसार बैठ गया तो गुरुदेव ने अंग्रेजी में पूछा--"मेरा कल का भाषण क्या आप समझ सके? मैंने प्रार्थना मन्दिर में उसी समय सोचा था कि सम्भवतः आप मेरी बंगला न समझ पा रहे होंगे।"

मैंने निवेदन किया--"गुरुदेव! विद्यासागर और बंकिम की बँगला तो मैं बहुत कुछ समझ लेता हूँ, पर आपकी बंगला का तो सारांश ही मैं समझ पाया।" गुरुदेव ने मुस्करा कर कहा--"वे लोग संस्कृतमय भाषा लिखते थे और मैं बोलचाल की भाषा का व्यवहार करता हूं।"

बातचीत के प्रसंग में मैंने गुरुदेव को सत्यनारायण कविरत्न के स्वर्गवास का खेदप्रद समाचार सुनाया। गुरुदेव ने कहा, "वे कवि तो अभी युवक ही थे। अपनी सुन्दर कविता में 'रवि' और 'इन्द्र' किस चतुरता से लाए थे, इसका मुझे अब भी स्मरण है। उनकी असामयिक मृत्यु की बात सुनकर दुःखित हूं।"

सन् १९१४ में जब गुरुदेव आगरा पधारे थे तो सत्यनारायण कविरत्न ने उनकी अभ्यर्थना के लिए एक कविता लिखी थी--'रवीन्द्र वन्दना'। उसमें एक जगह पर ये पंक्तियां आई थीं --

रवि इन्द्र मिले दोउ एक जहँ,
तउ अचरज कैसौ अहै।

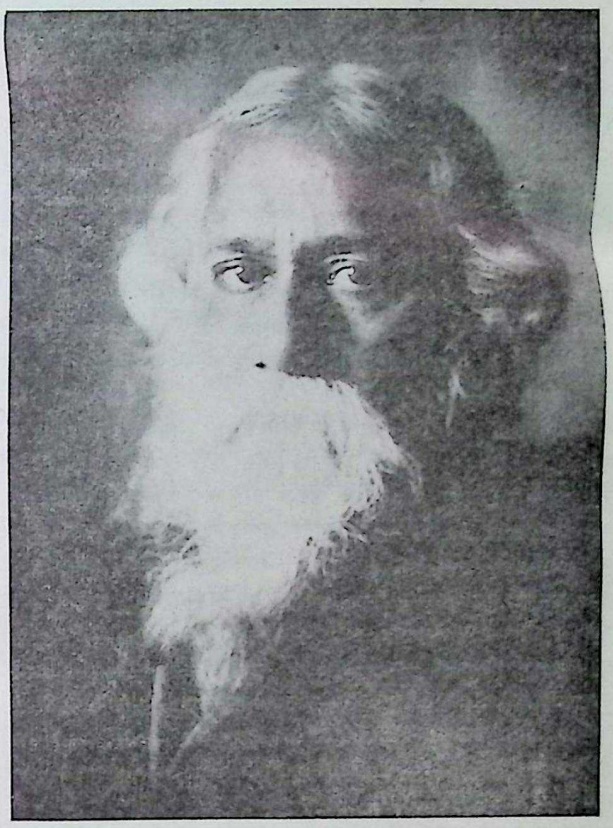

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

यह हिन्दी प्यारी चातकी
तव रस कों तरसत रहै।

उस बार मैं शान्तिनिकेतन में केवल तीन-चार दिन ही रह सका, पर उसके दो वर्ष बाद सन् १९२०-२१ में चौदह महीने तक वहां रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ और तब तो गुरुदेव के दर्शन प्रायः नित्य ही हुआ करते थे और उनसे वार्तालाप करने के अनेक अवसर भी प्राप्त हुए। मुझे इस बात का पछतावा है कि मैंने उसी समय गुरुदेव की सभी बातचीतों को लिख नहीं लिया, फिर भी कुछ को तो मैंने तभी लिपिबद्ध कर लिया था।

दीनबन्धु एण्डरूज के निवास स्थान वेणुकुंज में गुरुदेव पधारे थे। दीनबन्धु एण्डरूज से उनकी बातचीत चल रही थी, तत्पश्चात् गुरुदेव ने मेरी ओर देख कर कहा :

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

"मैं तुम से हिन्दी सीखना चाहता हूं। हिन्दी कुछ-कुछ तो मैं जानता ही हूं। हिन्दी भाषा में स्त्रीलिंग, पुल्लिंग का जो भेद है, वह मुझे सबसे अधिक कठिन प्रतीत होता है। क्या तुम कुछ समय मेरे लिए निकाल सकोगे?"

मैंने निवेदन किया, "यदि आपकी कुछ सेवा कर सकूं, तो उसमें मैं अपना परम सौभाग्य ही समझूंगा।"

गुरुदेव, "मैं अपनी शान्तिनिकेतन पुस्तक-माला में से कुछ का अनुवाद स्वयं ही हिन्दी में करना चाहता हूं। मुझे आशा है कि थोड़ा-सा प्रयत्न करने पर मैं कर सकूंगा।"

मैंने कहा, "हम हिन्दी भाषाभाषी आपकी किसी हिन्दी रचना को पाकर अपने को धन्य मानेंगे और हम लोग उस पर अभिमान भी करेंगे।"

शाल वृक्षों के कुंज के नीचे गुरुदेव टहल रहे थे और मैं उनके पीछे-पीछे चल रहा था। अंग्रेज़ी में एकाध बात मैंने निवेदन की। गुरुदेव ने मुड़ कर कहा, "आप मुझ से अंग्रेज़ी में क्यों बातचीत करते हैं? जब मैं आपसे हिन्दी सीखना चाहूं तो हिन्दी में वार्तालाप कीजिए, नहीं तो बंगला में।"

मैंने निवेदन किया कि बंगला समझ तो मैं लेता हूं पर बोल नहीं सकता। गुरुदेव ने कहा—"तब आप बंगला बोलना सीखिए।"

मैंने प्रार्थना की—"विधिवत् बंगला पढ़ने का अवसर मुझे नहीं मिला। हिन्दी बंगला शिक्षक से छः सात वर्ष पूर्व जो कुछ सीख ली थी उसी से काम चलाता रहा हूं।"

गुरुदेव ने कहा—"तब आप विधिवत् बंगला सीखिए। मैं पढ़ाऊंगा।" अत्यन्त व्यस्त होने पर भी गुरुदेव ने मुझे और पूर्व अफ्रीका से लौटे हुए एक गुजराती सज्जन मि० पटेल को बंगला पढ़ाना प्रारम्भ किया, पर दुर्भाग्यवश यह क्रम बहुत दिनों तक नहीं चल सका, क्योंकि मुझे शान्तिनिकेतन छोड़ कर बम्बई चला जाना पड़ा। पर एक चिट्ठी मैंने अपनी टूटी-फूटी बंगला में उन्हें अवश्य भेजी थी और उसके उत्तर में गुरुदेव ने लिखा था—"आपनार बांगला चिठिखानि सुन्दर हइया छे—दुइ एकटि जा भूल आछे ताहा यत्सामान्य।" अर्थात् आपकी बंगला चिट्ठी सुन्दर हुई है। जो दो एक भूलें हैं, वे मामूली हैं।

गुरुदेव के एक जन्म दिन के समारोह का मुझे अब तक स्मरण है। कवीन्द्र की वर्षगांठ का दिन था। सघन आम्रवृक्षों के नीचे एक चौक पूरा गया था। उसमें गुरुदेव के बैठने के लिए स्थान बनाया गया था। आम की डालियों में पतली डोरियों से चारों ओर कमल पुष्प बांधे गए थे। कवीन्द्र पधारे और श्री विधुशेखर भट्टाचार्य (शास्त्री महाशय) ने इस अवसर के लिए लिखे गए १० संस्कृत श्लोक पढ़े, जिन में अन्तिम श्लोक यह था—

मंगलं भवतु ते जगत्कवेर्मंगलं भवतु ते प्रियस्य नः,
मंगलं भवतु नस्त्वदाश्रयाद् मंगलं भवतु विश्वतोभुवः।

"हे जगत्कवे, यह शुभ दिन आपके लिए मंगल हो, आपके आश्रय में रहने वाले हम सब लोगों के लिए मंगल हो, सम्पूर्ण विश्व के लिए मंगलमय हो।"

शास्त्री महाशय के उस मुस्कराते हुए चेहरे की याद मुझे इस समय आ रही है, जब वे गुरुदेव के हाथ में राखी बांध रहे थे या माथे पर चन्दन लगा रहे थे।

अनेक हिन्दी लेखकों तथा कवियों को गुरुदेव के दर्शन कराने मैं ले गया था और अत्यन्त व्यस्त होने पर भी उन्होंने समय देने से भी इंकार नहीं किया। दिन भर काम करने के बाद चाहे वे कितने ही थक गए हों, मेरे लिए १५-२० मिनट वे सदैव निकाल लेते थे और मैंने भी यह नियम बना लिया था कि जहां कोई हंसी की बात आई और गुरुदेव ने उल्लास के साथ कोई मज़ाक किया कि उसके बाद मैं इंटरव्यू को समाप्त करते हुए नमस्कार करके शीघ्र ही चल देता था। 'मधुरेण समापयेत्' की नीति का मैंने निरन्तर अवलम्बन किया। इस बात का हमेशा ख्याल रखा कि गुरुदेव ऊबने न पाएं।

गुरुदेव बड़ा मधुर मज़ाक करते थे। हिन्दी लेखकों के एक दल के सामने बातचीत आरम्भ करते हुए उन्होंने अंग्रेज़ी में कहा—

"I hope you will excuse me for not being able to speak in your language—Hindi as I excuse Banarsi Das for not being able to speak in my language Bengali."

अर्थात् मुझे क्षमा कीजिए मैं आपकी भाषा हिन्दी नहीं बोल सकता, जिस प्रकार मैंने बनारसीदास को बंगला न बोल सकने के लिए क्षमा कर दिया है। पौन घण्टे की बातचीत में एक बार फिर उन्होंने मुझपर मधुर व्यंग किया—"पचास वर्ष पहले जब मैं हिन्दी सीखना चाहता था, तब इन महाशय का, जो मेरे दाहिने हाथ की ओर बैठे हैं, जन्म भी नहीं हुआ था।"

इस मज़ाक को सुनकर हम सबको हंसी आ गई। दाहिनी ओर मैं ही बैठा हुआ था।

पर इससे यह न समझना चाहिए कि गुरुदेव हिन्दी जानते न थे। उन्होंने अनेक हिन्दी ग्रन्थ पढ़े थे। जब हिन्दी-शब्द-सागर निकला था तो उन्होंने न जाने उसके कितने पृष्ठों पर निशान लगा दिए थे। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के लेख भी वे बड़ी सरलता से पढ़ लेते थे। मुझे भली भांति स्मरण है कि 'विशाल-भारत' के प्रथम अंक में प्रकाशित 'प्रेमचंद जी का गद्य-काव्य' नामक लेख को उन्होंने आरम्भ से अन्त तक पढ़ा था। वह लेख श्री रामदास गौड़ का लिखा हुआ था। जब मैं शान्तिनिकेतन गया तो गुरुदेव ने उस लेख का ज़िक्र किया और श्री प्रेमचन्द जी से मिलने की इच्छा भी प्रकट की। स्वयं मेरी भी यह बड़ी अभिलाषा थी कि मैं इन दोनों महान कलाकारों के संभाषण को सुन सकूं, पर बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुआ।

एक बार मैंने गुरुदेव की सेवा में अपनी इस असफलता का ज़िक्र करते हुए कहा—

"प्रेमचंद जी बड़े संकोचशील हैं, शायद इसी कारण वे शान्तिनिकेतन नहीं पधार सके।" इस पर गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा—

Please do not forget that I am a poet and I too am very shy by nature, though I have had to travel all over the world.

अर्थात् कृपया यह न भूलिए कि मैं कवि हूं और मैं भी स्वभावतः बहुत संकोचशील हूं, यद्यपि मुझे तमाम दुनियां की यात्रा करनी पड़ी है।

गुरुदेव हिन्दी भाषा के लचीलेपन पर मुग्ध थे और उन्होंने कई बार 'आंख की किरकिरी' (चोखेर वाली) के हिन्दी अनुवाद की प्रशंसा भी की। उन्होंने एक बार बन्धुवर श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी से कहा था, "तुम्हारी भाषा बड़ी शक्तिशाली है। खेद इसी बात का है कि इस युग में उसे कोई वैसा ही शक्तिशाली आदमी नहीं मिला।"

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

गुरुदेव हिन्दी के परम शुभचिन्तक थे और न जाने कितने परामर्श उन्होंने श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा श्री भगवतीप्रसाद चंदोला को हिन्दी ग्रन्थों के लिखने लिखाने के विषय में किए थे। हिन्दी बोलने में उन्हें संकोच इसलिए होता था कि उन्हें बार-बार यह आशंका बनी रहती थी कि कहीं उनसे कोई भूल न हो जाए और किसी भी भाषा को अशुद्ध बोलने में उनकी अन्तरात्मा हिचकती थी।

गुरुदेव हिन्दी का प्रचार चाहते थे और खूब चाहते थे, यद्यपि उनकी कार्य पद्धति विभिन्न थी। उन्होंने एक बार कहा था--

Do not rest contented with the accidental advantage of your numbers, attract people by creating great literature.

अर्थात् आप लोग इस बात से सन्तुष्ट न बने रहें कि हमारी भाषा हिन्दी के बोलने वाले इतने ज्यादा हैं, क्योंकि संख्या का अधिक होना आकस्मिक ही है। आप लोग उच्च साहित्य की सृष्टि करके अन्य भाषा-भाषियों को अपनी ओर आकर्षित करें।

पारस्परिक सहयोग की भावना

जब श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार तथा उनकी पार्टी शान्तिनिकेतन गई थी, उस समय गुरुदेव ने ४०-४५ मिनट तक बड़े आनन्दपूर्वक हम सबके साथ वार्तालाप किया था। इस बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा था--

"हम लोग एक-दूसरे को बहुत ही कम जानते हैं। हम एक-दूसरे की मनोवृत्ति को नहीं समझते, निकट सम्पर्क में नहीं आते और वस्तुतः एक-दूसरे से अलग रहते हैं। इस अज्ञान से असत्य धारणाएं उत्पन्न होती हैं और वे ही सर्वव्यापी प्रान्तीयता के मूल में हैं। प्रान्तीयता की यह भावना मूर्खतापूर्ण ही नहीं, धूर्त्ततापूर्ण भी है। जैसा कि मैंने कहा है, इसकी जड़ अज्ञान में है। हम आपको नहीं जानते, मानो आप हमारे लिए विदेशी हों। हमें एक-दूसरे से परिचित होना चाहिए।"

जब कविवर श्री माखनलाल चतुर्वेदी तथा जैनेन्द्र जी गुरुदेव के दर्शनार्थ शांतिनिकेतन गए थे, तब उन्होंने कहा था--

"मैं हिन्दी भाषा-भाषी लोगों के निकट सम्पर्क में आने के लिए उत्सुक हूं। यहां हम लोग संस्कृति-प्रचार के लिए जितना भी कुछ कर सकते हैं, कर रहे हैं। हम चाहते हैं कि हिन्दी-भाषी लोग यहां आएं, हमारे अनुभव में हिस्सा बटाएं और अपने अनुभव से हमें लाभान्वित करें।" इसपर जब मैंने कहा--"हम लोगों को तो यहां तीर्थयात्रा के विचार से भी आना चाहिए", तो गुरुदेव ने तुरन्त उत्तर दिया--"हम तो यह चाहते हैं कि हिन्दी कवि और लेखक यहां पधार कर हमारे साथ रहें, न कि सिर्फ तीर्थयात्रा के खयाल से यहां आएं। मैं हिन्दी को आश्रम में एक सजीव भाषा बनाना चाहता हूं। मेरी इच्छा है कि शान्तिनिकेतन समस्त भारतीय संस्कृतियों का एक केन्द्र बने। मेरी अभिलाषा है कि शांतिनिकेतन में समस्त भारतीय भाषाओं और एशिया की संस्कृतियों के बीच सरलतापूर्वक पारस्परिक सहयोग तथा आदान-प्रदान हो।"

गुरुदेव के इस आदेश को ध्यान में रख कर हमने वहां शान्तिनिकेतन में हिन्दी भवन बनवाने का निश्चय किया था। तीन वर्ष के प्रयत्न के बाद हमारा वह स्वप्न सत्य सिद्ध हुआ। हलवासिया ट्रस्ट की ओर से हिन्दी भवन का निर्माण हो गया। यह बात ध्यान देने की है कि उसकी नींव दीनबन्धु एण्डरूज ने रखी थी और उस भवन का उद्घाटन

शान्तिनिकेतन का हिन्दी भवन

श्रीमान पं० जवाहरलाल जी नेहरू ने किया था। इस महान यज्ञ में श्रीमान भगीरथ जी कानोड़िया तथा सीताराम जी सेकसरिया ने बड़ी मदद दी थी।

अनेक हिन्दी भाषाभाषियों को शान्तिनिकेतन की तीर्थ यात्रा और गुरुदेव के दर्शन कराने का जिम्मा मेरा ही था। एक बार मैंने मजाक में गुरुदेव से कहा--Gurudeva, I am the Panda of Shantiniketan as well as of Wardha.

अर्थात् गुरुदेव, मैं शान्ति निकेतन और वारधा दोनों का पंडा हूं।

गुरुदेव ने तुरन्त ही उत्तर दिया--And your trade is flourishing these days very much.

अर्थात् आजकल आपकी पंडागिरी का यह व्यापार खूब चमक भी रहा है।"

बात यह हुई थी कि मैं उन्हीं दिनों अनेक साहित्यिकों को गुरुदेव के दर्शन कराने ले गया था। भाई हजारीप्रसाद जी द्विवेदी मेरे असिस्टेण्ट पंडा ही नहीं थे, वे हिन्दी भवन की आत्मा भी थे।

एक बार मैंने गुरुदेव से प्रार्थना की, "कृपा कर आप अपनी उस सुन्दर बंगला कविता को जो आपने दीनबन्धु एण्डरूज के स्वागत में सन् १९१३ या १४ में लिखी थी, मेरे लिए अपने अक्षरों में नकल कर दीजिए।"

गुरुदेव ने पूछा--"आपको वह कविता मिल कहां गई?" मैंने निवेदन किया, "यहीं की एक पुरानी हस्तलिखित पत्रिका में।"

गुरुदेव ने कहा, "अच्छा लाइए मैं पुनः लिखे देता हूं।"

गुरुदेव के अक्षरों में लिखी हुई वह कविता अब भी मेरे संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही है--

प्रतीचिर तीर्थ हते प्राण रसधार
हे बन्धु, ऐनेछ तुमि, करि नमस्कार।
प्राची दिल कंठे तव वरमाल्य तार,
हे बन्धु, ग्रहण कर, करि नमस्कार।
खुलेछे तोमार प्रेमे आमादेर द्वार,
हे बन्धु, प्रवेशकर, करि नमस्कार।
तोमारे पेयेछि मोरा दानरूपे जांर
बे बन्धु, चरणे तार करि नमस्कार।

--रवीन्द्रनाथ ठाकुर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

गुरुदेव के दर्शन मैंने अनेक परिस्थितियों में किए थे। उन्हें शान्तिनिकेतन के लिए आर्थिक चिन्ताओं से युक्त देखकर हृदय को बड़ा क्लेश होता था। एक बार निजी बातचीत में उन्होंने कहा था—

"देश के एक बड़े नेता ने मुझसे पूछा, आपको शान्तिनिकेतन के लिए कितना रुपया चाहिए ? मैंने कहा—यही पांच-छै लाख रुपए पर्याप्त होंगे। उन्होंने कहा—बस केवल इतने ही ?

"इतनी छोटी रकम बतलाकर मैं उनकी इज्जत में गिर गया, पर वे कुछ भी सहायता न कर सके।"

यद्यपि वे नेता महोदय शान्तिनिकेतन को कुछ न दिला सके, तथापि आगे चलकर महात्मा गान्धी जी ने एक अच्छी रकम उन्हें दिलाकर उस समय चिन्तामुक्त कर दिया था। यहां पर यह बतला देना आवश्यक है कि हमारे राष्ट्रपति श्रद्धेय बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी ने विशेष रूप से उस दिशा में प्रयत्न किया था। उन्होंने पटना से आकर महात्मा गांधी जी की सेवा में शान्तिनिकेतन के आर्थिक संकट की बात बतलाई थी।

गुरुदेव का आत्म-दान निरन्तर चलता ही रहता था। अपनी भाषा, अपने देश और फिर संसार को उन्होंने क्या नहीं दिया ? अपने ग्रन्थों की समस्त आय वह शांतिनिकेतन को ही अर्पित कर देते थे और सबसे अधिक श्रम उन्हें तब पड़ता था, जबकि वृद्धावस्था में भी उन्हें चन्दा मांगने के लिए देश-विदेश की यात्रा करनी पड़ती थी। सैंकड़ों, सहस्रों शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के जीवन को विकसित करने में उन्होंने अपूर्व सहायता दी थी। घी, स्याही इत्यादि बीसियों चीजों के लिए उन्हें प्रमाणपत्र देने पड़ते थे। एक बार किसी आश्रमवासी ने गुरुदेव की इस प्रवृत्ति की आलोचना की तो मुसकराकर उन्होंने कहा—"देखो एक चीज के लिए मैं कभी प्रमाणपत्र न दूंगा—यानी सेफ्टी रेजर के लिए।"

एक बार लोकमान्य तिलक ने गुरुदेव से प्रार्थना की थी, "आप विलायत की यात्रा कीजिए।" उन्होंने उत्तर दिया, "मैं तो कोई राजनैतिक नेता नहीं। मेरी यात्रा से क्या लाभ होगा ?" लोकमान्य तिलक ने तुरन्त ही कहा, "विलायत में आपकी उपस्थिति ही हमारे स्वराज्य-संग्राम में सहायता प्रदान करेगी।"

गुरुदेव का जिक्र करते हुए स्वर्गीय रामानन्द चट्टोपाध्याय का स्मरण आ जाना स्वाभाविक ही है। बड़े बाबू ने शान्तिनिकेतन के लिए क्या-क्या नहीं किया ? उन्होंने लिखा था कि गुरुदेव ने ६७-६८ वर्ष तक अपनी साहित्य सेवा निरन्तर जारी रखी थी और मुद्रित रूप में उनकी रचनाएं बड़े रायल अठपेजी के १७-१८ हजार पृष्ठों में आएंगी।

जब गुरुदेव स्वर्गवासी हुए थे तो बड़े बाबू ने लिखा था, "मेरी आकांक्षा थी कि कवि के सामने ही मेरी मृत्यु हो। रवीन्द्र विहीन जगत् की कल्पना मैंने कभी न की थी।" निस्सन्देह बड़े बाबू गुरुदेव के बड़े भक्त थे। यही बात दीनबन्धु सी० एफ० एण्डरूज के विषय में भी कही जा सकती है। उन्होंने भी शान्तिनिकेतन के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था।

उन दिनों का स्मरण करके हृदय में एक हूक सी उठती है जब कि गुरुदेव, एण्डरूज और बड़े दादा की त्रिमूर्ति के दर्शन प्रायः नित्यप्रति शान्तिनिकेतन में होते थे।

गुरुदेव के अंतिम दर्शन करने का सौभाग्य मुझे सन् १९४० में प्राप्त हुआ था। उस समय उनके नेत्रों की ज्योति मन्द हो चली थी। गुरुदेव ने मजाक में कहा—"तुम्हारी लम्बाई से ही मैंने अनुमान कर लिया कि तुम बनारसीदास हो।"

जब मैंने यह बात बन्धुवर सियारामशरण जी गुप्त को लिखी तब उन्होंने उत्तर में लिखा—"जिन नेत्रों ने इतना देखा और हम लोगों को इतना दिखलाया, उनकी ज्योति का मन्द होना अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है।"

शान्तिनिकेतन में गुरुदेव के चरणों के निकट बिताए हुए दिनों की अनेक मधुर स्मृतियां इस समय मेरे दिमाग में चक्कर काट रही हैं।

गुरुदेव अपनी 'सेकाल' शीर्षक कविता 'आमि यदि जन्म नितेम कालिदासेर काले' (यदि मैं कालिदास के समय में जन्म लेता) पढ़ रहे हैं और श्रोतागण उसका आनन्द ले रहे हैं। दूर पर खड़ा हुआ मैं भी उनके शब्दों की ध्वनि से मुग्ध होकर सुन रहा हूं और आधी पढ़ी जो कुछ बंगला समझ में आ रही है उसी से अपना सन्तोष कर रहा हूं। (मालूम नहीं कि उस कविता को गुरुदेव के शब्दों में टेप रैकर्ड पर ले लिया गया था या नहीं)।

अपने मारवाड़ी मित्रों को लेकर मैंने शांतिनिकेतन की यात्रा की है और उनमें से किसी ने गुरुदेव से प्रार्थना की है, "गुरुदेव आप गायत्री मन्त्र हमें पढ़ कर सुनाइए।" गुरुदेव उनकी इस फर्मायश को पूरा कर रहे हैं। उसी समय मैंने भी धृष्टता करके एमर्सन का एक अंग्रेजी जीवन-चरित गुरुदेव के हस्ताक्षरों के लिए आगे बढ़ा दिया है और गुरुदेव ने उस पर एक वेद मन्त्र लिख दिया है।

असहयोग आन्दोलन के दिन हैं और गुरुदेव अभी अमरीका की यात्रा से लौटे हैं। कुछ उत्साही किन्तु नासमझ असहयोगियों द्वारा उन पर दबाव डाला जा रहा है कि वे आन्दोलन के पक्ष में अपना सहयोग प्रदान करें। उन्हीं दिनों एक विदेशी यात्री शांतिनिकेतन आए हुए हैं और गुरुदेव उनसे कह रहे हैं, "इस देश में जब भगवान गौतम बुद्ध पधारे थे तब सब लोगों ने उन्हें अपनी सर्वोत्तम चीज भेंट की थीं। उसी तरह महात्मा गांधी जी के आगमन पर मैं अपनी सर्वोत्तम वस्तु शांतिनिकेतन उन्हें भेंट करना चाहता हूं। वसन्त के आगमन पर प्रत्येक वृक्ष या पौधा अपना विशेष फल या पुष्प भेंट करता है। कोई यह नहीं चाहता कि गुलाब का पौधा जूही का पुष्प प्रदान करे या गेंदे का पौधा चमेली दे दे। फिर मुझ से अन्य किसी दान की आशा क्यों की जाती है ?"

मैं भी दूर खड़ा-खड़ा छिप कर इस बातचीत को सुन रहा हूं।

अपने प्राचीन नियमानुसार मैं अतिथिशाला में दोपहर का विश्राम कर रहा हूं कि किसी ने आकर मुझे जगा दिया है—"गुरुदेव आपको याद कर रहे हैं।" मैं उठकर उनकी सेवा में उपस्थित होता हूं। गुरुदेव कहते हैं, "मैं आपके मारवाड़ी मित्रों से अपील करना चाहता हूं कि वे हमारे महिला विद्यालय के छात्रावास के लिए एक-आध कमरा बनवा दें। क्या यह ठीक होगा ?" और मैं आग्रहपूर्वक कह रहा हूं, "नहीं गुरुदेव, आप को हिन्दी भवन के लिए ही मांग करनी चाहिए।" गुरुदेव मेरी प्रार्थना पर वैसा ही कर रहे हैं। वह दृश्य अब भी मेरी आंखों के सामने है जब मारवाड़ी बालिका विद्यालय की छात्राओं के साथ श्री सीताराम जी सेकसरिया को गुरुदेव की सेवा में ले गया था और गुरुदेव

(शेष पृष्ठ २६ पर)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रवीन्द्रनाथ ठाकुर : आत्म-परिचय

कविगुरु की जीवन-स्मृति से संकलित

स्मृति-पट पर जीवन की छवि कौन आंक जाता है, मैं नहीं जानता किन्तु जो भी आंकता हो वह केवल छवि ही आंकता है। अर्थात् जो कुछ घटित हो रहा है उसकी हूबहू नकल करने को ही वह हाथ में तूलिका लेकर नहीं बैठा है। वह अपनी अभिरुचि के अनुसार कितना-कुछ छोड़ देता है और कितना कुछ ले लेता है। कितने बड़े को छोटा और छोटे को बड़ा बना देता है। वह आगे की चीज़ को पीछे और पीछे की चीज़ को आगे रख देने में तनिक भी नहीं हिचकिचाता। वास्तव में उसका काम ही छवि आंकना है, इतिहास लिखना नहीं।

कुछ-एक बरस पहले एक दिन मेरे जीवन की घटनाओं के बारे में किसी के जिज्ञासा करने पर इस छवि-गृह का हाल-चाल जानने गया था। मोटेतौर पर जीवन-वृत्त के दो-चार उपकरण संग्रह कर विरत हो जाऊंगा। किन्तु जब द्वार खोला तो दिखाई दिया कि जीवन-स्मृति जीवन का इतिहास नहीं, वह तो किसी एक अदृश्य चित्रकार की निज हाथों से निर्मित रचना है। उस (रचना) में नाना स्थानों पर जो नाना रंग लगे हुए हैं वे बाहर के प्रतिबिम्ब नहीं उसके अपने भण्डार के रंग हैं। उसे उन रंगों को अपने रस में घोल लेना पड़ा है। अतः चित्रपट पर जो छाप उभरी है वह अदालत में गवाही के काम नहीं आएगी।

इस (स्मृति-कथा) में ऐसा कुछ नहीं है जिसे चिरस्मरणीय मानकर रखा जा सके। किन्तु विषय की मर्यादा पर ही साहित्य निर्भर करता हो, सो नहीं। जिसे मैंने भलीभांति अनुभव किया है उसे अनुभवगम्य रूप में व्यक्त कर पाने पर ही मनुष्य उसकी कद्र करता है। मेरी अपनी (जीवन) स्मृति में चित्र-रूप में जो प्रस्फुटित हुआ है उसे लेखनी द्वारा व्यक्त कर पाने पर ही वह साहित्य में स्थान पाने का अधिकारी है?

उसी प्रकार ये स्मति-चित्र भी साहित्य की सामग्री हैं। इनको 'जीवन वृतान्त लिखने की चेष्टा' के अन्तर्गत गिनना भूल होगी। उस रूप में यह रचना नितान्त अधूरी और अनावश्यक है।*

* * *

हम तीन बालक† एक साथ पढ़ रहे थे। मेरे दोनों संगी मुझ से दो बरस बड़े थे। जब उन दोनों ने गुरु से पढ़ना आरम्भ किया तो मेरी शिक्षा भी उसी समय शुरू हुई किन्तु मुझे उसकी याद तक नहीं।

याद है केवल 'जल पड़े पाता नड़े'‡ (पड़ता पानी, हिलतीं पाती)। उस समय 'कर, खल' आदि शब्दों की वर्तनी के तूफान को पार कर बस किनारे पर लगा ही था। उस दिन पढ़ रहा था, 'जल पड़े पाता नड़े'। मेरे जीवन में आदि कवि की यही प्रथम कविता है। आज भी उन दिनों के आनन्द की जब याद आती है तो समझ पाता हूं कि कविता में तुक मिलना इतना आवश्यक क्यों है। तुक मिलती है इसी कारण कथन समाप्त हो जाने पर भी समाप्त होता नहीं। (कविता का) कथन जब समाप्त हो जाता है तब भी उसकी झंकार समाप्त नहीं होती। तुक को लेकर कानों के साथ, मन के साथ खेल चलता ही रहता है। उन दिनों इसी प्रकार लौट-लौटकर मेरी सम्पूर्ण चेतना में पानी पड़ने और पत्ता हिलने लगा।

इसके बाद की जो घटना याद पड़ती है वह स्कूल जाने की सूचना है। एक दिन देखा, मेरे दादा और आयु में मुझ से बड़े मेरे भांजे सत्य स्कूल गए किन्तु मुझे स्कूल जाने लायक नहीं माना गया। ऊंचे स्वर में रोने के अतिरिक्त अपनी योग्यता के प्रचार का अन्य कोई साधन मेरे हाथ में नहीं था। इसके पूर्व किसी दिन भी गाड़ी में नहीं चढ़ा था और न घर से बाहर ही गया था। इसलिए जब सत्य ने अतिशयोक्ति अलंकार द्वारा समुज्ज्वल करके स्कूल-मार्ग का भ्रमण वृत्तान्त सुनाना आरम्भ किया तो मन ने किसी तरह भी घर पर टिकने से साफ़ इन्कार कर दिया। हमारे जो शिक्षक थे उन्होंने मेरा मोह दूर करने के लिए प्रबल चपेटाघात सहित यह बात कही थी, "आज जिस प्रकार स्कूल जाने के लिए रो रहे हो, (स्कूल) न जाने के लिए इसकी अपेक्षा कहीं अधिक रोना पड़ेगा।" उन शिक्षक का नाम-धाम, आकृति-प्रकृति की तो मुझे याद नहीं किन्तु वह गुरु-वाक्य और गुरुतर चपेटाघात मेरे मन में स्पष्ट उभर आते हैं। इतनी बड़ी अव्यर्थ भविष्यवाणी जीवन में फिर कभी सुनने को नहीं मिली।

रुदन के बल पर समय से पहले ही मैं 'ओरिएन्टल सेमिनारी' में दाखिल हो गया। वहां मैंने क्या शिक्षा पाई यह तो याद नहीं पड़ता किन्तु दण्ड-प्रणाली की एक बात याद आती है। पाठ न सुना पाने पर लड़के को बेंच पर खड़ा कर दिया जाता था और क्लास की बहुत सारी स्लेटें इकट्ठी करके उसके फैले हुए दोनों हाथों पर लाद दी जाती थीं। इस रूप में धारणाशक्ति का अभ्यास बाहर से अन्तर की ओर संचारित हो सकता है या नहीं यह मनोवैज्ञानिकों के सोचने की बात है।**

ऐसा कहा जा सकता है कि हमारे शैशव काल में भोग-विलास के उपकरण नहीं के बराबर थे। मोटे तौर पर उस समय का रहन-सहन आज की अपेक्षा बहुत ही सीधा-सादा था। उस युग के भले आदमियों की मान-रक्षा के उपकरणों को देखकर आज का युग लज्जा से उसके साथ अपने सभी प्रकार के सम्बन्धों को अस्वीकार करना चाहेगा। यही तो उस काल की विशेषता थी, तिसपर और विशेषकर हमारे घर में बच्चों पर बहुत कड़ी नज़र रखने का उत्पात तो बिल्कुल ही नहीं था।

---

*रवीन्द्रनाथ ठाकुर : जीवन-स्मृति

†मेरे दादा सोमेन्द्रनाथ, भांजे सत्यप्रसाद और मैं।

‡ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कृत 'वर्ण-परिचय' की एक पंक्ति।

**शिक्षारम्भ

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हम लोग चाकरों के शासन की अधीनता में थे। अपने कर्त्तव्य को सरल बना लेने के लिए उन्होंने हमारा हिलना-डुलना एक प्रकार से बन्द ही कर दिया था। उधर बन्धन चाहे जितने भी कठोर क्यों न हों, अनादर अपने-आप में एक बड़ी स्वाधीनता है--इसी स्वाधीनता में हमारा मन मुक्त था। खिलाने-पहनाने, सजाने-संवारने के द्वारा हमारे मन को चारों ओर से बिल्कुल जकड़ नहीं दिया गया था।

हमारे आहार में आडम्बर का नामो-निशान तक नहीं होता था। कपड़े-लत्ते इतने स्वल्प होते थे कि आजकल के लड़कों की नजरों के सामने उसकी लिस्ट रखने पर सम्मान-हानि की आशंका है। अपनी आयु के दस वर्ष पार करने के पूर्व किसी भी कारण मैंने कभी मोजे नहीं पहने। सर्दियों के दिनों में एक सादे वस्त्र के ऊपर एक और सादा वस्त्र ही यथेष्ट होता था। इसके लिए मैंने कभी अदृष्ट को दोष नहीं दिया। केवल अपने पारिवारिक दर्जी नियामत खलीफा की उपेक्षा से, जो हमारे कपड़ों में 'पाकेट-योजना' को अनावश्यक समझते थे, दुःख होता था। कारण, ऐसा बालक तो किसी अकिंचन के घर भी नहीं जन्मा जिसके पास जेब में रखने लायक थोड़ी-सी भी स्थावर-अस्थावर सम्पत्ति न हो। विधाता की कृपा से शिशुओं के ऐश्वर्य के सम्बन्ध में धनी-निर्धन के घर में भी बहुत-कुछ कमी-बेशी दिखाई नहीं देती। मेरे पास एक जोड़ी स्लीपर थे किन्तु जहां पैर पड़ते हैं वे वहां नहीं हुआ करते थे--हर कदम के साथ साथ उन्हें आगे ही आगे फेंकता चलता था। इससे चलते-फिरते समय पग-चालन की अपेक्षा जूता चालन इतनी अधिक मात्रा में होता था कि पादुका निर्माण का उद्देश्य ही पग-पग पर व्यर्थ हो जाता था।

जो लोग हमसे बड़े थे उनकी गति-विधि, वेशभूषा, आहार-विहार, आमोद-प्रमोद, बातचीत और चर्चा सब कुछ हमारी पहुंच के बाहर थे। उसका आभास तो मिलता था किन्तु वहां तक पहुंच नहीं पाते थे। आजकल के लड़कों ने गुरुजनों को लघु बना लिया है, उनके लिए कहीं कोई बाधा नहीं और बिन मांगे ही वे सब-कुछ पा जाते हैं। हमें इतने सहज में कुछ भी नहीं मिला। कितनी ही तुच्छ वस्तु भी हमारे लिए दुर्लभ थी। बड़े होने पर कभी न कभी मिल जाएगी इस आशा से उन वस्तुओं को सुदूर भविष्य के जिम्मे समर्पित कर बैठे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उन दिनों सामान्य-सी जो कोई भी वस्तु पा जाता था उसका सारा रस निचोड़ लेता--उसके छिलके से लेकर गुठली तक कुछ भी फेंका न जाता। किन्तु आजकल के सम्पन्न घरों के लड़कों को देखता हूं उन्हें सहज ही में सब वस्तुएं मिल जाने के कारण वे उसमें बारह आने-भर दांत लगाकर छोड़ देते हैं। उनकी दुनियां की अधिकांश वस्तुएं उनके अपव्यय में ही नष्ट हो जाती हैं।

घर के बाहरी भाग में दूसरी मंजिल के दक्षिण-पूर्वी कोने के कमरे में हमारा दिन बीता करता।

हमारा एक नौकर था, उसका नाम था श्याम। श्याम-वर्ण, दोहरे बदन का बालक, सिर पर लम्बे बाल, खुलना जिले में उसका घर था। वह कमरे में मुझे एक निर्दिष्ट स्थान पर बिठाकर मेरे चारों ओर खड़िया से एक घेरा खींच देता था। गंभीर सूरत बनाकर, तर्जनी उठाकर वह कह जाता--'घेरे से बाहर निकलते ही बड़ी मुसीबत होगी।' यह विपत्ति आधिभौतिक होगी या आधिदैविक यह तो ठीक से नहीं समझ पाता था किन्तु मन में एक बड़ी आशंका बनी रहती। रेखा पार करने के कारण सीता पर कितनी भयंकर विपत्ति आई थी यह मैंने रामायण में पढ़ा था। इसीलिए उक्त रेखा को नितान्त अविश्वासी की तरह उड़ा देना मेरे लिए सम्भव नहीं था।

हमारी हवेली के भीतर जो बाग था उसे बाग कहना अत्युक्ति होगी। एक चकोतरा, एक बेरिया, एक विलायती आमड़ा और नारियल के वृक्षों की एक पांत उसकी प्रधान सम्पत्ति थी। बीचों-बीच एक पक्का गोलाकार चबूतरा था। जिसकी हर दरार में घास एवं नाना प्रकार के गुल्मों ने अनधिकार प्रवेश कर बलात् आधिपत्य की पताका गाड़ रखी थी। फूलों के जो पौधे उपेक्षा के बावजूद मरना नहीं चाहते केवल वे ही माली के प्रति किसी प्रकार का दोषारोप न कर, निरभिमान यथाशक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन करते चले जाते। उत्तरी कोने के कमरे में धान कूटने की ढेंकली लगी हुई थी; वहां पर घरेलू काम-काज से बीच-बीच में अन्तः पुरिकाओं का समागम होता था। कलकत्ता में ग्रामीण जीवन की पूर्ण पराजय स्वीकार कर यह 'ढेंकलीशाला' जाने किस दिन चुपचाप मुंह ढांपकर अन्तर्धान हो गई। आदि मानव आदम का स्वर्गोद्यान हमारे इस बाग से अधिक सुसज्जित था, मुझे तो ऐसा विश्वास नहीं है। कारण, आदि-मानव का स्वर्गलोक आवरणहीन था, प्रयासपूर्वक उसने स्वयं को आच्छन्न नहीं किया। ज्ञान-वृक्ष का फल खाने के बाद से जब तक कि वह फल पूरी तरह से हजम नहीं हो जाता तब तक मनुष्य की साज-सज्जा की आवश्यकता निरन्तर बढ़ती ही जाती है। हवेली के भीतर की बगिया मेरे लिए स्वर्ग का वही उद्यान थी—मेरे लिए वही बहुत थी। मुझे अच्छी तरह याद है, सर्दियों में भोर में नींद टूटते ही मैं उस बगिया में पहुंच जाता। ओस से भीगी हुई घासपात की गन्ध का एक झोंका आता और स्निग्ध नई किरणों को लेकर हमारे पूर्वी प्राचीर पर नारियल के पत्तों की कम्पायमान झालरों के तले पहुंच कर प्रभात अपना मुंह बढ़ा देता।*

सम्भवतः 'ओरिएन्टल सेमिनारी' में बहुत दिन मैं नही रहा तत्पश्चात् (ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा १८५५ में स्थापित) नार्मल स्कूल में भर्ती हुआ। उन दिनों मेरी आयु बहुत कम थी। एक बात याद आती है--विद्यालय का कार्य आरम्भ होने के पूर्व गैलरी में सारे छात्र बैठकर जाने किन कविताओं का सस्वर पाठ किया करते थे। जिससे शिक्षा के साथ-साथ कुछ हद तक छात्रों के मनोरंजन की भी व्यवस्था हो, निश्चित रूप से इसके द्वारा वही चेष्टा की गई थी। किन्तु गानों की भाषा भी अंग्रेजी और उनका स्वर भी तथैव च--अतः हम लोग किन मंत्रों का पाठ कर रहे हैं, कौन-सा अनुष्ठान कर रहे हैं, सो मैं कुछ भी न समझ पाता। प्रति-दिन उसी एक अर्थहीन, नीरस कार्य में योग देना हम लोगों के लिए सुखद न था। तथापि स्कूल के पदाधिकारी तत्कालीन किसी 'थ्योरी' का अवलम्बन कर यह मानकर बहुत ही निश्चिन्त थे कि वे लड़कों के लिए आनन्दविधान कर रहे हैं। किन्तु प्रत्यक्ष बैठे हुए लड़कों पर एक नजर डालकर उसके फलाफल का निर्णय करना बिल्कुल अनावश्यक समझते थे। मानो उनकी 'थ्योरी' के अनुसार आनन्द प्राप्त करना एक कर्त्तव्य है और आनन्द न पाना उनका अपराध। इसलिए जिस पुस्तक में उन्होंने उक्त 'थ्योरी' पाई थी उससे पूरा का पूरा अंग्रेजी गान लेकर उन्होंने चैन की सांस ली। हमारे मुंह से निकली हुई वह अंग्रेजी किस भाषा में परिणत हो गई थी, भाषावैज्ञानिकों के लिए इसकी विवेचना करना निःसन्देह मूल्यवान होगा। केवल एक पंक्ति याद आ रही है :

---

*घर ओ बाहिर।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कौलोकी पुलोकी सिंगिल मैलालिंग मैलालिंग मैलालिंग ।

बहुत सिर खपाकर मूल के कुछ अंश का उद्धार कर पाया हूं किन्तु 'कौलोकी' किस शब्द का रूपान्तर है यह आज भी नहीं सोच पाया । अवशिष्ट अंश सम्भवतः इस प्रकार है :

फुल आँफ ग्लो, सिंगिंग मैरीली, मैरीली, मैरीली ।

उस समय मेरी आयु सात-आठ बरस से अधिक न रही होगी । मेरे एक भांजे थे श्रीयुक्त ज्योतिःप्रकाश, आयु में मुझ से बहुत-कुछ बड़े । उन्होंने तभी अंग्रेजी-साहित्य में प्रवेश किया था और खूब उत्साहपूर्वक 'हैमलेट' के स्वगतकथनों को दुहराया करते थे । मेरे समान शिशु से कविता लिखवाने का उन्हें हठात् क्योंकर उत्साह हुआ यह तो मैं नहीं कह सकता किन्तु एक दिन दोपहर के वक्त अपने कमरे में बुलाकर उन्होंने कहा--"तुम्हें पद्य लिखना होगा ।" यह कहकर चौदह अक्षरों के बंगला पयार छन्द सम्बन्धी संघटन की रीति-नीति मुझे समझा दी ।

आज तक मैंने पद्य नामक पदार्थ को केवल छापे की पुस्तकों में ही देखा था । काट-पीट नहीं, सोचना-विचारना नहीं, मर्त्यजनोचित दुर्बलता का कहीं कोई लक्षण ही दिखाई नहीं पड़ता । ऐसा पद्य स्वयं चेष्टा करके लिखा जा सकता है, इस बात की तो कल्पना करने का भी साहस नहीं होता था । एक दिन हमारे घर में चोर पकड़ा गया था । बहुत ही डरते-डरते तथापि अत्यन्त कौतूहलपूर्वक मैं उसे देखने गया । देखकर लगा कि वह तो बिल्कुल साधारण मनुष्य की तरह ही है । इस अवस्था में दरबान ने जब उसे मारना आरम्भ किया तो मेरे मन को बड़ी व्यथा पहुंची थी । पद्य के सम्बन्ध में भी मेरी वही दशा हुई । अपने हाथ से कई-एक शब्दों को जोड़-तोड़कर बैठा देने से ही तो वह पयार छन्द हो गया । तब तो पद्य रचना की महिमा के सम्बन्ध में मेरा मोह और न टिक सका । अब लगता है, बेचारा पद्य भी मार नहीं सह सकता । जब-तब दया भी आती है किन्तु उसे मार से भी नहीं बचाया जा सकता, हाथ खुजलाने लगते हैं । चोर की पीठ पर भी शायद इतने लोगों के इतने प्रहार न हुए होंगे ।

बंगला-शिक्षा जब काफी आगे बढ़ गई तो हम लोगों ने अंग्रेजी सीखना आरम्भ किया । हमारे मास्टर अघोर बाबू मैडिकल कालेज में पढ़ते थे । संध्या समय वे हम लोगों को पढ़ाने आते । काष्ठ से अग्नि का आविष्कार ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ा आविष्कार है, इसका विवरण हमें शास्त्र-ग्रन्थों में पढ़ने को मिलता है । मैं इसका प्रतिवाद नहीं करना चाहता किन्तु पक्षी सांझ को बाती नहीं जला सकते यह पक्षियों के बच्चों का परम सौभाग्य है, इस बात को सोचे बिना मैं नहीं रह सकता । वे पक्षी जो भाषा सीखते हैं वह प्रातःकाल ही सीखते हैं और सहज उल्लास से सीखते हैं, इस बात को लक्ष्य करें । निश्चय ही वह भाषा अंग्रेजी नहीं है-- यहां इस बात को याद करना उचित होगा ।

जब सारी बातों को याद करता हूं तो देख पाता हूं कि अघोर बाबू बहुत ही कठोर मिजाज के लोगों में से रहे हों, सो नहीं । वे भुजबल से हम लोगों पर शासन नहीं करते थे । यह कहा जा सकता है कि मुंह से वे जो थोड़ा-बहुत तर्जन करते थे उसमें गर्जन का कुछ विशेष अंश नहीं होता था । किन्तु वे कितने भी भलेमानस क्यों न रहे हों उनके पढ़ाने का समय सांझ को था और पढ़ाने का विषय था--अंग्रेजी । दुःखपूर्ण सारे दिन के बाद सांझ को टिमटिमाती हुई बाती जलाकर बंगाली बालक को अंग्रेजी पढ़ाने का भार यदि स्वयं विष्णुदूत को दिया जाए तो वह भी यम-दूत के समान ही जान पड़ेगा इसमें सन्देह नहीं । मुझे भली-भांति याद है, अघोर बाबू ने हमारे सामने एकदिन यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि अंग्रेजी नीरस भाषा नहीं है । उसकी सरसता का--गद्य अथवा पद्य यह तो मैं ठीक नहीं कह सकता --उदाहरण देते हुए उन्होंने मुग्धभाव से अंग्रेजी का कोई अंश हमारे सामने दुहराया । हमें वह बहुत ही अद्भुत लगा था । उसे सुनकर हम इतना हंसे थे कि उस दिन उन्हें पढ़ाई-लिखाई बन्द कर देनी पड़ी । इससे वे समझ गए कि मामला बहुत सहज नहीं है, डिग्री पाने के लिए इसी तरह और दस-पन्द्रह बरस बाकायदा लड़ाई-झगड़ा करना पड़ेगा ।*

वह नीली कापी क्रमशः टेढ़ी-मेढ़ी लाइनों और मोटे पतले अक्षरों से कीड़ों के विवर की भांति भरने लगी । बालक के आग्रहपूर्ण चंचल हाथों के उत्पीड़न से पहले तो वह कुंचित हो गई और क्रमशः उसके किनारों ने फटकर बहुत कुछ अंगुलियों का आकार ले लिया मानो उसमें लिखी हुई रचनाओं को मुट्ठी में दाब कर रख लिया हो । उस फुलस्केप कापी को करुणामयी विलुप्ति देवी ने वैतरणी में भाटे के समय, किस स्रोत में कब प्रवाहित कर दिया मैं नहीं जानता । आह, उसके लिए अब कोई भव-भय नहीं रहा । मुद्रण यन्त्र की जठर यन्त्रणा के हाथों से वह बच गई ।

मैं कविता लिखता हूं--यह खबर जिससे चारों ओर फैल जाए, निश्चय ही इस ओर से मैं उदासीन नहीं था । (नार्मल स्कूल के अध्यापक) सात-कौड़ी दत्त महाशय यद्यपि हमारे कक्षा शिक्षक नहीं थे फिर भी उनका मेरे प्रति विशेष स्नेह था । उन्होंने 'प्राणी-वृतान्त' नामक एक पुस्तक लिखी थी । आशा करता हूं कोई चतुर परिहासरसिक व्यक्ति उक्त ग्रंथ में वर्णित विषय के प्रति लक्ष्य कर उनके स्नेह के कारण का निर्णय न करेंगे । उन्होंने एक दिन मुझे बुलाकर पूछा--"तुम तो कविता लिखते हो न ?" लिखता तो हूं, इस बात को मैंने छिपाया नहीं । इसके बाद से वे मुझे उत्साहित करने के लिए बीच-बीच में कविता के दो-एक पद पढ़कर उन्हें पूरा कर लाने को कहते । उनमें से एक मुझे याद है :--

रविकरे ज्वालातन आछिल सबाई,
वरषा भरसा दिल आर भय नाइ ।

मैंने इसके साथ जो पद जोड़े थे उसकी केवल दो पंक्तियां याद हैं । मेरी उस समय की कविताओं को किसी प्रकार भी क्लिष्ट नहीं कहा जा सकता, इसके प्रमाणस्वरूप यहां इस मौके पर उन दोनों पंक्तियों को दस्तावेज में लिख रखता हूं :--

मीनगण हीन हये छिल सरोवरे,
एखन ताहारा सुखे जल-क्रीड़ा करे ।

इसमें जितनी भी गम्भीरता है वह सरोवर सम्बन्धी है--अत्यन्त ही स्वच्छ ।

एक और व्यक्तिगत वर्णन से चार पंक्तियां उद्धृत करता हूं । आशा है अलंकारशास्त्र के अनुसार इसकी भाषा और भाव प्रांजल माने जाएंगे :-

आमसत्त्व दुधे फेलि, ताहाते कदलि दलि,
सन्देश माखिया दिया ताते
हापुस हुपु स शब्द, चारि दिक निस्तब्ध,
पिंपिड़ा कांदिया याय पाते ।†

---

*नाना विचार आयोजन ।

†काव्यरचना चर्चा ।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हठात् इसी बीच हमारा नार्मल का क्रम बन्द हो गया। इसके पीछे छोटा-सा इतिहास है। हमारे विद्यालय के किसी शिक्षक ने किशोरीमोहन मित्र की अंग्रेजी में रचित मेरे पितामह* की जीवनी पढ़ने को मांगी थी। मेरा सहपाठी भांजा सत्यप्रसाद साहस करके पितृदेव से उक्त पुस्तक मांगने गया। उसने मन में सोचा, सामान्य लोगों से जिस सहज स्वाभाविक चलती बंगला में वह प्रायः बोलता रहता है वह तो वहां चलेगी नहीं। अतएव प्रांजल साधु गौड़ देशीय भाषा में उसने ऐसी अनिन्द्य रीति से वाक्य-विन्यास किया जिससे पिता को यह समझते देर न लगी कि हमारी बंगला भाषा बढ़ते-बढ़ते आखिर अपने बंगलापन को ही पीछे छोड़ जाने का उपक्रम कर बैठी है। जब अगले दिन यथानियम प्रातःकाल दक्षिण के बराण्डे में मेज डालकर, दीवार पर काला बोर्ड लटका कर हम लोग नीलकमल बाबू से पढ़ने बैठे कि इसी बीच पिता ने तीसरी मंजिल के कमरे में हम तीनों को बुलाया। उन्होंने कहा--"आज से तुम लोगों को बंगला पढ़ने की और आवश्यकता नहीं।" हमारा मन खुशी से नाचने लगा।

विदा लेने से पूर्व पण्डित महाशय ने कहा--"कर्त्तव्यवश कई बार तुम लोगों के प्रति बहुत कठोर व्यवहार करना पड़ा है, उस बात को मन में मत रखना। तुम लोगों को जो कुछ सिखाया है उसका मूल्य भविष्य में समझ सकोगे।"

उसका मूल्य समझ सका हूं। बचपन में बंगला पढ़ता था इसीलिए मन का समग्ररूप से संचालन सम्भव हो सका। शिक्षा नामक वस्तु यथासम्भव आहार-विषय के समान होनी चाहिए। खाद्य पदार्थ में दांत लगाते ही उसका स्वाद का सुख मिलना आरम्भ होता है, पेट भरने के पहले से ही पेट में उछल-कूद मचने लग जाती है। इससे उसके पाचक रसों का आलस्य दूर हो जाता है। बंगाली के लिए अंग्रेजी की शिक्षा में ऐसा होने की कोई सम्भावना नही। पहली कुतरन में ही उसके दांतों की दोनों पातें आदि से अन्त तक हिल उठती हैं--मुख-विवर में एक छोटा-मोटा भूचाल आ जाता है। तिस पर वह लोष्ठवत पदार्थ नहीं अपितु रस में पगी हुई मोदक वस्तु है, यह समझ में आते-आते ही तो आधी उम्र बीत जाती है। हिज्जे (स्पैलिंग) और व्याकरण का धसका लगने पर आंख नाक से जब लगातार पानी झर रहा हो तब तो अन्तर बिल्कुल उपासा ही रह जाता है। आखिर बड़ी मुश्किल और बहुत देर से जब खाने से परिचय हो पाता है तब तक भूख ही मर जाती है। आरम्भ से ही मन को संचालित करने का सुयोग न मिलने से मन की गतिशील शक्ति मन्द पड़ जाती है। जब चारों ओर बहुत जोर-जोर से अंग्रेजी पढ़ाने की धूम मची हुई थी उस समय जिन्होंने साहस करके लम्बे समय तक हमें बंगला सिखाने की व्यवस्था की थी उन्हीं स्वर्गीय मंझले दादा के प्रति अपने सकृतज्ञ प्रणाम निवेदन करता हूं।**

इस बीच उस छिन्नविच्छिन्न नीली कापी को विदाकर मैंने एक सजिल्द लेट्स डायरी जुटा ली। अब से (सुन्दर) कापी एवं बाह्य उपकरणों के द्वारा कवित्व की प्रतिष्ठा बचा रखने की ओर दृष्टि गई। केवल कविता लिखना ही नहीं अपनी कल्पना के सम्मुख अपने को कवि बनाकर खड़ा करने की चेष्टा भी उत्पन्न हुई। इसलिए बोलपुर (शान्तिनिकेतन) में जब कविता लिखता तो बाग के कोने में एक छोटे-से नारियल के नीचे बैठकर, पैर फैलाकर अपनी डायरी भरना मुझे सुहाता था जो एक-अच्छा कविजनोचित कार्य जान पड़ता। तृणहीन कंकरशैया पर बैठकर धूप के उत्ताप में 'पृथ्वीराज की पराजय' नामक एक वीररसात्मक काव्य लिखा था। उक्त काव्य का यथेष्ट वीर रस भी विनाश के हाथों से उसकी रक्षा न कर सका। उस (काव्य) का उपयुक्त वाहन वह सजिल्द लेट्स डायरी भी अपनी ज्येष्ठा सहोदरा नीली कापी का अनुसरण करते हुए कहां चली गई इसका पता-ठिकाना वह किसी के पास नहीं छोड़ गई।†

मेरे पिता का अनुचर किशोरी चाटुज्जें 'पांचालि' (बंगाल का लोक--गीतिकाव्य) वालों की मण्डली में गायक था। पहाड़ पर रहते हुए वह मुझ से प्रायः कहा करता--"ओह दादा जी, तुम्हें यदि पाता तो पांचालि मण्डली ऐसी जमाता कि अब क्या कहूं?" यह सुनकर मुझे बहुत लोभ होता--पांचालि-मण्डली में सम्मिलित होकर गान गाते हुए देश-देशान्तरों में घूमते फिरना एक बड़े सौभाग्य के समान जान पड़ता। उस किशोरी से मैंने पांचालि के बहुत से गान सीखे थे। 'ओरे भाइ, जानकीरे दिये एसो वन', 'प्राण तो अन्त होल आमार कमल-आँखि', 'रांडग जवाय की शोभा पाय पाय', 'कातरे रेखो रांगा पाय, मा अभये', 'भावो श्रीकान्त नरकान्त-कारीरे नितान्त कृतान्त भयान्त हवे भवे'--इन गानों से हमारी बैठक जैसी जमती थी वैसी सूर्य के अग्नि-उच्छ्वास अथवा शनिग्रह में चन्द्रमा है या नहीं इसकी चर्चा में भी न जमती।

इसके बाद मेरे लिए स्कूल जाना पहले की अपेक्षा और भी कठिन हो गया। नाना प्रकार के छल कर के बंगाल एकेडेमी से भागना शुरू कर दिया। हम लोगों को सैण्ट जैवियर्स में भर्ती करा दिया गया, किन्तु वहां भी कोई फल न निकला।

बड़े भाइयों ने जब तब एकाध बार चेष्टा करके मेरी आशा बिल्कुल छोड़ दी। मेरी भर्त्सना करना भी छोड़ दिया। एक दिन बड़ी दीदी ने कहा--"हम सभी को आशा थी कि रवि बड़ा होकर आदमी बनेगा किन्तु सबकी अपेक्षा उसी की आस जाती रही।" मैं यह अच्छी तरह समझता था कि भद्र-समाज की हाट में मेरी दर गिरती जा रही है किन्तु फिर भी जो विद्यालय चारों ओर के जीवन और सौन्दर्य से विच्छिन्न जेलखानों तथा अस्पतालों के समान एक निर्मम विभीषिका स्वरूप हैं, उनकी निरन्तर चक्कर काटती हुई घानी के साथ मैं स्वयं को युक्त न कर सका।‡

आनन्द चन्द्र वेदान्तवागीश के पुत्र ज्ञानचन्द्र भट्टाचार्य महाशय घर पर हमारे शिक्षक थे। स्कूल की पढ़ाई में जब वे किसी तरह भी मुझे न बांध सके तो उन्होंने इसकी आशा छोड़कर दूसरा रास्ता अपनाया। बंगला में अर्थ करते हुए वे मुझे 'कुमारसम्भव' पढ़ाने लगे। इसके अतिरिक्त थोड़ा-थोड़ा कर 'मैकबैथ' बंगला अर्थ साहित मुझे समझाते और जब तक मैं बंगला छन्दों में उसका अनुवाद न कर देता तब तक मुझे कमरे में बन्द रखते। सम्पूर्ण ग्रंथ का अनुवाद पूरा कर लिया था। सौभाग्य से उसके खो जाने के कारण कर्मफल का भार उसी परिमाण में हलका हो गया है।

मुझे संस्कृत पढ़ाने का भार था रामसर्वस्व पण्डित महाशय पर। अनिच्छुक छात्र को व्याकरण पढ़ाने की दुःसाध्य चेष्टा छोड़कर वे मुझे अर्थ सहित 'शाकुन्तल' पढ़ाते थे। अपना 'मैकबैथ' का अनुवाद विद्यासागर (ईश्वरचन्द्र) महाशय को सुनाना होगा इसलिए वे मुझे एक दिन उनके पास ले गए। उस समय उनके पास राजकृष्ण मुखोपाध्याय बैठे

---

* मेमोयर ऑफ़ द्वारकानाथ टैगोर (१८७०)

** बांगलाशिक्षार अवसान।

† हिमालययात्रा।

‡ प्रत्यावर्तन।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हुए थे। पुस्तकों से ठसे हुए उनके कमरे में घुसते मेरी छाती धड़कने लगी। उनका चेहरा देखकर मेरी हिम्मत बढ़ी ही यह तो नहीं कह सकता। इसके पूर्व विद्यासागर जैसा श्रोता तो मिला नहीं। अतः वहां से ख्याति पाने का बहुत प्रबल लोभ मन में था। सम्भवतः वहां से कुछ उत्साह पाकर लौटा था। मुझे याद है, राजकृष्ण बाबू ने उपदेश दिया था कि नाटक के अन्यान्य अंशों की अपेक्षा पिशाचिनी के कथनोपकथन की भाषा और छन्दों में कुछ असाधारण विशेषता होने से उचित होता।*

बचपन में मुझे एक बहुत बड़ा सुयोग यह मिला कि घर में आठों पहर साहित्यिक वातावरण बना रहता था। मुझे याद है, जब शिशु ही था तो किसी-किसी दिन सांझ के समय बरामदे की रेलिंग पकड़कर चुपचाप खड़ा रहता। सामने की बैठक में बत्तियां जल रही हैं, लोग-बाग चल-फिर रहे हैं, द्वार पर बड़ी-बड़ी गाड़ियां आकर खड़ी हो रही हैं। क्या हो रहा है यह तो मैं भली-भांति न समझ पाता, अंधेरे में खड़ा हुआ केवल उस आलोकमाला की ओर टकटकी लगाए रहता। बीच में यद्यपि कुछ-अधिक व्यवधान न था तथापि मेरे शिशु-जगत् से वह बहुत दूर का प्रकाश था। उन दिनों मेरे चचेरे भाई गणेन्द्र दादा रामनारायण तर्करत्न से 'नवनाटक' लिखवाकर घर पर उसका अभिनय करवा रहे थे। साहित्य और ललित कलाओं में उन लोगों के उत्साह की कोई सीमा न थी। बंग देश और बंगला भाषा के आधुनिक युग को चारों ओर से उद्बुद्ध करने की चेष्टा कर रहे थे। वेश-भूषा, काव्य-गान, चित्र-नाट्य, धर्म और राष्ट्रीयता आदि सभी विषयों में एक परिपूर्ण राष्ट्रीयता का आदर्श उन लोगों के मन में जागने लगा था।†

अब तक मैं जो कुछ लिखता था उसका प्रचार अपनों तक ही सीमित था। इसी बीच 'ज्ञानांकुर' नामक पत्रिका प्रकाशित हुई। पत्रिका के नाम के उपयुक्त एक अंकुरोद्गत कवि भी पत्रिका के व्यवस्थापकों ने जुटा लिया। उन्होंने मेरा समस्त पद्य-प्रलाप बिना सोचे-विचारे प्रकाशित करना शुरू कर दिया। काल के दरबार में मेरी सुकृतियों और दुष्कृतियों पर विचार के समय किस दिन उन्हें तलब किया जाएगा एवं कौन उत्साही प्यादा उन्हें भूले-बिखरे कागज़-पत्रों के अन्तःपुर से, स्त्रियों की दुहाई को अनसुना कर, निर्लज्जतापूर्वक जन-समाज के सामने खींच लाएगा, मेरे मन में यह भय तो बना ही है।

मैंने जो पहला निबन्ध लिखा वह 'ज्ञानांकुर' में ही प्रकाशित हुआ था। वह पुस्तक-समालोचना थी। इसके पीछे भी एक छोटी-सी कहानी है।

उन दिनों 'भुवनमोहिनी प्रतिभा' नामक एक कविता-पुस्तक प्रकाशित हुई थी। जनसाधारण में ऐसी धारणा उत्पन्न हो गई थी कि उक्त पुस्तक भुवनमोहिनी नामधारिणी किसी महिला की कृति है। 'साधारणी' पत्रिका में अक्षय सरकार एवं 'एज्युकेशन गजट' में भूदेव बाबू तुमुल जय-वाद्य के साथ इन कवयित्री के अभ्युदय की घोषणा कर रहे थे।

उस जमाने के मेरे एक मित्र हैं, जिनकी आयु मुझ से अधिक है। वे मुझे जब-तब 'भुवनमोहिनी' हस्ताक्षरित चिट्ठियां लाकर दिखाते। 'भुवनमोहिनी'—कविता पर ये मुग्ध हो गए थे एवं 'भुवनमोहिनी' के पते पर वे प्रायः कपड़ा, पुस्तक आदि भक्त के उपहार स्वरूप भेज दिया करते थे।

इन कविताओं में स्थान-स्थान पर भाषा और भावों में इतना असंयम था कि उन कविताओं को किसी स्त्री की रचना मानना मुझे सुहाता न था। चिट्ठियां देख लेने पर भी पत्र-लेखक को स्त्री जाति का मान लेना मेरे लिए असम्भव हो गया। किन्तु मेरे संशय के बावजूद मित्र की निष्ठा न डिगी, उनका प्रतिभा-पूजन चलता रहा।

तब मैंने 'भुवनमोहिनी प्रतिभा', 'दुःखसंगिनी' और 'अवसर सरोजिनी' इन तीन पुस्तकों के आधार पर 'ज्ञानांकुर' में एक समालोचना लिखी।

समालोचना खूब बढ़ा-चढ़ा कर लिखी थी। खण्डकाव्य के क्या लक्षण हैं और गीतिकाव्य के क्या, इसकी चर्चा अपूर्व पाण्डित्य सहित की गई थी। सुविधा इतनी ही थी कि छापे के सभी अक्षर एक समान निर्विकार रहते हैं, उनकी आकृति देखकर यह पहचान लेने का कोई उपाय नहीं कि लेखक कैसा है, उसकी विद्या-बुद्धि की पहुंच कहां तक है! मेरे मित्र ने बहुत उत्तेजित अवस्था में आकर कहा—"एक बी० ए० तुम्हारी इस आलोचना का उत्तर लिख रहे हैं।" बी० ए० सुनकर मेरे मुंह से बोल न फूटा—बी० ए०! मैं अपनी आंखों के सामने स्पष्टतः यह देखने लगा—खण्डकाव्य-गीतिकाव्य के सम्बन्ध में मैंने जो कीर्ति-स्तम्भ खड़ा किया था, बड़े-बड़े 'कोटेशनों' के निर्मम आघात से वह धूलिसात हो गया है और पाठकों को मुंह दिखाने का मार्ग बिल्कुल बन्द हो चुका है। किस घड़ी में जनमी तू, अरी समालोचना! दुश्चिन्ता में एक-एक कर दिन बीतने लगे किन्तु बी० ए० समालोचक के दर्शन न हुए।‡

श्रीयुत अक्षयचन्द्र सरकार तथा श्री सारदाचरण मित्र द्वारा संकलित 'प्राचीन काव्य संग्रह' में विशेष उत्सुकतापूर्वक पढ़ता था। उसकी मैथिली मिश्रित भाषा मेरे लिए दुर्बोध थी। किन्तु इसी कारण इतने अध्यवसाय-पूर्वक मैंने उसमें पैठने की चेष्टा की थी। वृक्ष के बीज के भीतर जो अंकुर छिपा हुआ है एवं मिट्टी के नीचे का जो अनाविष्कृत रहस्य है, जिस प्रकार इनके प्रति मैं एक उत्कट कौतूहल अनुभव करता था, प्राचीन पद रचयिताओं की कृतियों के सम्बन्ध में भी मेरा ठीक वही भाव था। आवरण मोचन करते-करते किसी अपरिचित भंडार में से एक-आध काव्य-रत्न नजर में आता रहेगा, इस आशा ने ही मुझे उत्साहित कर दिया था। इस रहस्य के अन्तर में प्रवेश कर दुर्गम अन्धकार के भीतर से जब रत्न निकाल लाने की चेष्टा कर रहा था तब अपने को भी एक बार इसी प्रकार रहस्यावरण में आवृत्त कर प्रकाशित करने की धुन सवार हो गई।

इसके पूर्व अक्षय बाबू से अंग्रेजी के बाल-कवि चैटर्टन का वर्णन सुना था। उनका काव्य कैसा है यह तो नहीं जानता था—सम्भवतः अक्षय बाबू भी कुछ विशेष नहीं जानते थे एवं जानने पर शायद रस-भंग होने की पूर्ण सम्भावना थी। किन्तु उनके वर्णन में जो एक नाटकीयता थी उसने मेरी कल्पना को खूब उद्दीप्त कर दिया था। चैटर्टन ने प्राचीन कवियों की नकल कर ऐसी कविता लिखी थी कि बहुत-से लोग उसे पकड़ ही नहीं पाए। आखिर सोलह वर्ष की आयु में इस अभागे बाल-कवि ने आत्महत्या कर ली। सम्प्रति आत्महत्या सम्बन्धी उस अंश को ताक पर रख कर कमर कस कर दूसरा चैटर्टन बनने की चेष्टा में प्रवृत्त हो गया।

एक दिन दोपहर को खूब बादल घिरे हुए थे। उस बदली के दिन छाया द्वारा घनीभूत अवकाश के आनन्द में घर के भीतर खाट पर उलटे लेटकर एक स्लेट पर लिखा—'गहन कुसुम कुंज माझे'। लिख कर बहुत खुश हुआ और तत्काल ऐसे व्यक्ति को पढ़कर सुनाया जो समझ पाने की आशंका से कोसों दूर था। अतः उसने गम्भीरतापूर्वक सिर हिलाकर कहा—"अच्छी तो है, यह तो बहुत अच्छी बन पड़ी है।"

---

*घरेर पड़ा। †बाड़िर आबहाओया। ‡रचना प्रकाश।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पूर्वोल्लिखित अपने मित्र से एक दिन मैंने कहा—"समाज की लाइब्रेरी में खोजते-खोजते एक अति प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पोथी मिली है। उसमें से भानुसिंह नामक किसी प्राचीन कवि के पद नकल कर लाया हूं।" इतना कहकर उन्हें वे कविताएं सुनाईं। कविताएं सुनकर वे अत्यन्त विचलित हो उठे। बोले—"यह पोथी मुझे अवश्य चाहिए। ऐसी कविताएं विद्यापति-चण्डीदास की लेखनी से भी न निकल पातीं। मैं इस प्राचीन काव्य संग्रह को छापने के लिए अक्षय बाबू को दूंगा।"

इस पर मैंने अपनी कापी दिखाकर स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित कर दिया कि ये रचनाएं निश्चय ही विद्यापति-चण्डीदास की लेखनी से न निकल पातीं क्यों कि ये मेरी रचनाएं हैं। मेरे मित्र ने गम्भीर होकर कहा—"कुछ बहुत बुरी तो नहीं हुईं।"

भानुसिंह जब 'भारती' में निकल रहा था उन दिनों डाक्टर निशिकान्त चट्टोपाध्याय जर्मनी में थे। उन्होंने यूरोपीय साहित्य से तुलना करते हुए हमारे देश के गीतिकाव्य के सम्बन्ध में एक पतली-सी पुस्तक लिखी थी। उक्त पुस्तक में उन्होंने भानुसिंह को प्राचीन पदकर्त्ता के रूप में जो प्रभूत सम्मान दिया, किसी आधुनिक कवि के भाग्य से वह सहज में नहीं मिलता। इस ग्रन्थ को लिखने पर उन्हें डाक्टर की उपाधि मिली थी*।

एक बार ज्योति दादा भ्रमण करने परदेस गए हुए थे। तीसरी मंजिल की छत पर के कमरे खाली पड़े थे। उन दिनों मैं उस कमरे और छत पर दखल जमाकर अपने सूने दिन बिताया करता था।

एक स्लेट लेकर कविता लिखा करता। सम्भवतः यह भी मुक्ति का एक लक्षण था। इसके पूर्व जब कमर बांधकर कविता लिखता था तो उसके पीछे निश्चय ही यथारीति काव्य-रचना का एक प्रण था। कवियश के पक्के बही-खाते में वे रचनाएं जमा हो रही हैं इसलिए निश्चय ही दूसरों से तुलना करके मन-ही-मन हिसाब मिला लेने का एक विचार तो था ही किन्तु स्लेट पर जो कुछ लिखा वह लिखने के लिए ही लिखता था। स्लेट नामक वस्तु कहती— तुम्हें डर किस बात का है, तुम्हारे जो जी में आए वही लिखो न, हाथ फिराते ही तो मिट जाएगा।

मेरी उन उच्छृंखल कविताओं को सुननेवाले उस समय एक ही व्यक्ति थे—अक्षय बाबू! उन्होंने मेरी रचनाओं को देख कर हठात् अत्यन्त प्रसन्न होकर अपना विस्मय व्यक्त किया, उनका समर्थन पाकर मेरा पथ और भी प्रशस्त हो गया।

मेरी काव्य रचना के इतिहास में मेरे लिए यही काल सर्वाधिक स्मरणीय है। काव्य के रूप में 'संध्यासंगीत' का मूल्य अधिक नहीं हो सकता। उसकी कविताएं पर्याप्त कच्ची हैं। 'संध्यासंगीत' की भाषा, भाव और छन्द—मूर्तरूप धारण कर परिस्फुटित नहीं हो सके। उसमें गुण इतना ही है कि एक दिन हठात् अपने पर भरोसा कर अपनी खुशी से जो जी में आया लिखता चला गया। अतएव 'संध्यासंगीत' की रचनाओं का कोई मूल्य नहीं भी हो सकता, किन्तु उस खुशी का तो मूल्य है ही।**

'संध्यासंगीत' का जन्म [१८८२] होने पर सूतिकागृह में उच्च स्वर से शंख जरूर नहीं बजे किन्तु इसीलिए किसी ने उसकी अगवानी न की हो सो नहीं। मैंने अपने किसी अन्य निबन्ध में लिखा है—रमेश (चन्द्र) दत्त महाशय की बड़ी कन्या के विवाह स्थल के द्वार पर बंकिम (चन्द्र चट्टोपाध्याय) बाबू खड़े हुए थे। रमेश बाबू बंकिम बाबू के गले में माला पहनाने को उद्यत ही हुए थे कि इसी समय मैं वहां जा पहुंचा। बंकिम बाबू ने जल्दी से उस माला को मेरे गले में पहनाते हुए कहा—"यह माला इन्हीं का प्राप्य है, रमेश—तुमने 'संध्यासंगीत' पढ़ा है?" उन्होंने कहा "नहीं"! इस पर बंकिम बाबू ने 'संध्यासंगीत' की कविता के सम्बन्ध में जो मत व्यक्त किया उससे मैं पुरस्कृत हुआ था।†

* * *

यह रचना जीवनी नहीं है। यह तो केवल अतीत की स्मृति मात्र है। इस स्मृति में अनेक बड़ी घटनाएं छोटी और छोटी घटनाएं बड़ी हो गई हैं, इसमें संदेह नहीं। जहां पर कोई व्यवधान नहीं था वहां शायद व्यवधान पड़ गया है और जहां व्यवधान था सम्भवतः वह स्थान भरा हुआ दिखाई देता है। पृथ्वी की परतें जिस क्रम से बनी थीं आज सर्वत्र उसी क्रम से सभी जगह वे नहीं टिकी हुईं, बहुत-सी जगहों पर उसमें उलट-फेर हो गया है? मेरी स्मृति में जीवन की परतों का क्रम सम्भवतः आज सभी जगह एक के बाद एक प्रकट नहीं हो पा रहा है। शायद कहीं पर आगे की बात पीछे और पीछे की बात आगे आ गई है। अतः इसको जीवन का पुरावृत्त नहीं कहा जा सकता — यह स्मृति-चित्र है। इससे यथार्थ सूचनाओं की प्रत्याशा कोई न करे; अतीत-जीवन मन में जो रूप धारण कर पाया है इसमें वही मूर्ति दिखाई पड़ेगी।‡

संकलनकर्ता : हरिशंकर शर्मा

---

*भानुसिंहेर कविता। ‡द्वितीय पाण्डुलिपि।
**सन्ध्यासंगीत। †गंगातीर।

गुरुदेव—(पृष्ठ २० का शेषांश)

ने उनसे हिन्दी भवन के लिए सहायता की प्रार्थना की थी। वस्तुतः शांतिनिकेतन के हिन्दी भवन की नींव उसी दिन पड़ी थी।

और उस रात की बात मुझे अब भी याद है जब लगभग १२ बजे मैंने अपनी पुस्तक 'भारत भक्त एण्डरूज' को समाप्त किया था, जिसकी भूमिका बहुत महीने पहिले महात्मा जी ने लिख दी थी और बाद में गुरुदेव ने भी लिखी। शांतिनिकेतन के इस मुक्त आकाश के नीचे मैंने केवल एक ही प्रार्थना की थी कि मुझे खूब अवकाश मिले और मुक्त आकाश मिले। पिछले ४० बरसों में यह दोनों ही मुझे प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुए हैं और उन्हें मैं शांतिनिकेतन का ही वरदान मानता हूं।

शांतिनिकेतन के उन प्रातःकालों की याद मुझे अब भी आ रही है जब चिड़ियों के चहचहाने के साथ-साथ विद्यार्थी अपना गान गाते हुए निकलते थे। आश्रम के शाल वृक्ष, लताएं, अशोक और आम्र वृक्षों तथा लताओं और पारिजात के पुष्पों की स्मृति भी ज्यों की त्यों ताजा है।

१५ जून सन् १९२० को दीनबन्धु एण्डरूज ने मुझ से कहा था—"तुम डेली कालेज इन्दौर की नौकरी छोड़कर मेरे पास आ जाओ।" मैंने उनके आदेश का पालन किया और तत्पश्चात चौदह महीने मुझे शांतिनिकेतन में रहने और गुरुदेव के नित्यप्रति दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसे मैं अपने पूज्य माता-पिता के आशीर्वाद अथवा पूर्वजन्म के पुण्यों का फल ही मानता हूं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पितृदेव के साथ शिलाइदह में

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मेरे प्रपितामह द्वारकानाथ ठाकुर की अगाध सम्पत्ति थी। किन्तु विलायत में जब अकस्मात् उनकी मृत्यु हो गई तो पता चला कि वे अगाध ऋण भी छोड़ गए हैं। तब महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने जमीन-जायदाद ही नहीं घर का माल-असबाब तक बेचकर कुल क़र्ज चुका दिया। इतने पर भी जो बचा वह बिल्कुल ही नगण्य हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जमीन-जायदाद से सम्बन्धित सारा काम-काज महर्षि की देख-रेख में ही होता था। इसके बाद एक दिन मेरे पिता को आदेश मिला कि उन्हीं को ज़मीदारी की देख-भाल करनी होगी एवं कलकत्ता छोड़कर बिराहीमपुर की कचहरी-कोठी शिलाइदह में रहना होगा। शिलाइदह में बिराहीमपुर का कचहरी-घर खरसेदपुर नामक ग्राम के पास ही था। अच्छा बड़ा ग्राम होने के अलावा इस स्थान का एक अपना इतिहास और महत्व है। ग्राम का नाम यद्यपि मुसलमानी ढंग का है किन्तु खरसेदपुर ब्राह्मणों का ग्राम है। ग्राम के मध्य में गोविन्दजी का एक पुराना मन्दिर है जिसकी प्रतिष्ठा रानी भवानी ने की थी। इसी ग्राम के बाहर ईस्ट इंडिया कम्पनी के ज़माने में एक बहुत बड़ी नील की कोठी बनवाई गई थी। नील का व्यवसाय छोड़कर जब अंग्रेज चले गए तो प्रकाण्ड तिमंजिली कोठी के निचले खण्ड में ज़मीदारी-कचहरी स्थापित हुई और ऊपर के खण्ड जमीदार परिवार के वासस्थान के तौर पर काम में आते थे। उस ज़माने में कोठी के चारों ओर एक सुन्दर विशाल बाग था। कोठी पद्मा और मधुमती नदी के मुहाने के निकट बनी हुई थी। बाग के दोनों ओर से ये नदियां बहती थीं जिससे कोठी की छत पर से एक अपूर्व दृश्य दिखाई देता था।

पिता जब हमें लेकर शिलाइदह पहुंचे तब नील की उक्त कोठी नहीं थी। हम लोग जब नदी किनारे घूमने निकलते तो उस कोठी के ध्वंसावशेष ही दिखाई देते थे। बंगाल की सीमा पार करते ही पद्मा नदी बड़े अस्थिर स्वभाव की हो जाती है। प्रायः गांवों से सटकर बहते हुए एक के बाद एक न जाने कितने गांवों को उजाड़ देती है और दूसरे किनारे पर बहाव के साथ लाई चिकनी मिट्टी डालकर उर्वर भूमि तैयार कर देती है। पद्मा नदी कब किस से रुष्ट और किस से तुष्ट है इस बारे में निश्चित् रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार उसका लुका-छिपी का खेल चलता ही रहता है। जो लोग पद्मा के किनारे रहते हैं वे इसी कारण सदैव आतंकित रहते हैं। बहुत दिनों तक नील की कोठी पर पद्मा की नजर नहीं पड़ी। हठात् क्या ख्याल आया कि दूसरी ओर का किनारा कटने लगा। पूरी की पूरी कोठी नदी के गर्भ में न समा जाए, इस भय से उसे पहले ही तोड़ डाला गया। उसी पुरानी कोठी के माल-मसाले से नदी से तनिक दूर एक और कचहरी-घर और कोठी बनवाई गई। हम लोग जब शिलाइदह पहुंचे तो इसी नई कोठी में रहे। यह कोठी अब तक है। सुनने में आया है, पाकिस्तान सरकार उस कोठी को म्यूजियम के रूप में सुरक्षित रखने की व्यवस्था अब कर रही है। किन्तु आश्चर्य हुआ यह देखकर कि जब पुरानी कोठी तोड़ डाली गई तो नदी बाग के द्वार को छूकर ही लौट गई। जितने दिन हम शिलाइदह में रहे उस नील की कोठी के भग्नावशेष अडिग बने रहे।

शिलाइदह मधुमती और पद्मा नदी के मुहाने पर अवस्थित है। नदी यहां घूम गई है इसलिए मुहाने के निकट ही धारा की भंवर से एक बहुत बड़ा दह बन गया है। इसी कारण गांव का शिलाइदह नाम पढ़ा है। आंधी-पानी में भी तूफान उस दह में नहीं घुस पाता। नौका बांधने के लिहाज से यह बड़ा सुविधाजनक स्थान था। नाना प्रकार की नावें शिलाइदह के घाट पर आकर लगतीं— चपटे मुंहवाली पछाहीं महाजनों की नावें, लम्बोतरी, गोल छाजन-युक्त ढाके की छोटी नावें और मछुओं की छोटी-बड़ी नाना प्रकार की डोंगियां। शिलाइदह के घाट पर बहुतेरे महाजनों की आढ़तें हैं और उनका कारबार रात-दिन चला करता। इन सब कारणों से पद्मा के किनारे शिलाइदह एक अच्छा-खासा बन्दरगाह-सा बन गया था।

हम लोग शिलाइदह पहुंच कर जिस वातावरण में रहने लगे वह कलकत्ता की पारिवारिक और सामाजिक जीवन-धारा से बिल्कुल उल्टा था। हमारा घर खुले मैदान के बीच—खरसेदपुर ग्राम, कचहरी-घर या शिलाइदह के घाट से थोड़ी ही दूर था। माता-पिता और हम पांच भाई-बहन घर पर रहते थे। मेरी छोटी बहनें रानी और मीरा तथा छोटा भाई शमी उस वक्त बिल्कुल बच्चे थे। इस निर्जनता के बीच मैंने और दीदी ने माता-पिता को अपने और भी निकट पाया। उन दिनों पिता ने हम दोनों को लिखना पढ़ना सिखाने के लिए कुछ विशेष ध्यान दिया। पिता स्वयं तो स्कूल-कालेज में पढ़े नहीं थे। कलकत्ता के दो एक स्कूलों में थोड़े ही दिनों में जो अनुभव उन्हें हुआ था, वह इतना पीड़ादायक था कि उसकी स्मृति को वे कभी भुला नहीं सके। इसी कारण अपने लड़के-लड़कियों को स्कूल भेजने में उन्हें आरम्भ से ही आपत्ति रही। हमारे देश में अंग्रेजी सरकार की आधीनता में जो शिक्षा प्रणाली प्रचलित थी उस में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में पिता बहुत दिन पहले से ही सोच-विचार कर रहे थे। इस सम्बन्ध में सन् १८९३ में 'साधना' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित 'शिक्षार हेरफेर' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने अपने विचार भी व्यक्त किए। वे जिस शिक्षा प्रणाली को नापसन्द करते थे उनके बच्चे वही शिक्षा पाएं यह वे क्यों कर सहन कर पाते? अतः पिता स्वयं ही हमें बंगला पढ़ाने लगे। दीदी ने तो फिर भी थोड़ी बहुत बंगला सीखी किन्तु मैं तो तब निपट अबोध था। पिता इस बात की चिन्ता न कर हमें अच्छी-अच्छी कविताएं सुनाकर उन्हें

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कण्ठस्थ कर डालने को कहते। भले ही हम वे कविताएं समझते हों या न समझते हों। कम उम्र नौसिखुओं की नीरस और अटपटी भाषा में लिखी गई, बचपने से भरी पाठ्य-पुस्तकें हमें पढ़नी पड़ें, यह वे तनिक भी पसन्द नहीं करते थे। सहज-पाठ्य और वास्तविक साहित्य आरम्भ से ही बच्चों को पढ़ाना उचित है, ऐसा वे मानते थे। आरम्भ में सब-कुछ न भी समझ पाने पर, सुनते-सुनते, पढ़ते-पढ़ते बच्चे स्वयं ही समझने लग जाएंगे। उस समय तक 'कथा ओ काहिनी' छप चुकी थी। कुछ ही दिनों में उसकी आदि से अन्त तक सारी कविताएं हमें याद हो गईं। तदुपरान्त विद्यासागर, मधुसूदन, संजीव चट्टोपाध्याय आदि की रचनाएं उन्होंने पढ़ाईं। हमें पढ़ाते हुए शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में पिता को जो अनुभव हुआ, कालान्तर में शांतिनिकेतन आश्रम में उससे उन्हें बड़ी सहायता मिली। हम लोगों को लेकर ही उन्होंने प्रत्यक्ष-रीति (*Direct Method*) से पढ़ाने का अभ्यास किया था एवं इस प्रणाली के द्वारा कितने सहज ढंग से और कितनी जल्दी भाषा सिखाई जा सकती है, इसका परिणाम देख उन्हें बहुत सन्तोष हुआ था।

पिता इस बात में विश्वास करते थे कि लिखने-पढ़ने के साथ-साथ बच्चे के आंख-नाक-कान तथा प्रत्येक अंग का विकास होना बहुत आवश्यक है। प्रकृति की सहायता से यह विकास जितना सहज में होता है उतना और किसी प्रकार नहीं होता। बच्चों के ढिठाई करने पर पिता कभी भयभीत नहीं होते थे और न उन्हें कभी डांटते-फटकारते ही थे। उस छोटी-सी आयु में भी इच्छानुसार घूमने-फिरने, घुड़सवारी करने, मछली पकड़ने, नाव खेने, लाठी-भाला चलाने, तैरना आदि सभी प्रकार के खेल-कूद और दौड़-भाग करने की मुझे पूरी स्वतन्त्रता थी। अपनी पसन्द की चीजें खरीदने के लिए मुझे मां ५ रु० मासिक जेब-खर्च के लिए दिया करती थीं। कई महीने तक ये रुपये जमा करके मैंने उनसे खिलौनों की बजाय एक डोंगी खरीदी। उस छोटी-सी डोंगी को डांड़ चलाकर, रस्सी से खींचकर, पाल चढ़ाकर शनि-रविवार को सारे दिन नदी में इस पार से उस पार और उस पार से इस पार करता रहता। पिता ने स्वयं मुझे तैरना सिखाया था। तैरना सिखाने की उनकी प्रणाली बड़ी सहज थी। उन्होंने एक दिन बोट के ऊपर से मुझे नदी में फेंक दिया। कुछ गोते खाकर एक दिन में ही तैरना आ गया। पिता स्वयं भी बड़े अच्छे तैराक थे। मधुमती नदी में आर-पार तैरते हुए उन्हें मैंने बहुत बार देखा था।

हमें संस्कृत और अंग्रेजी सिखाने के लिए उन्होंने दो शिक्षक नियुक्त किए। शिवधन विद्यार्णव यद्यपि श्री हट्ट की टोल में पढ़े हुए पण्डित थे किन्तु उनका संस्कृत उच्चारण विशुद्ध था। महर्षि (देवेन्द्रनाथ ठाकुर) की भांति पिता भी बंगाली ढंग का संस्कृत उच्चारण पसन्द नहीं करते थे। शिवधन विद्यार्णव का काशी के पण्डितों के समान विशुद्ध उच्चारण देख कर संस्कृत पढ़ाने के लिए पिता ने उन्हें रख लिया। कालान्तर में महर्षि ने शिवधन पण्डित महाशय को आदि ब्राह्मसमाज का आचार्य बनाया था।

अंग्रेजी पढ़ाने के लिए साक्षात् अंग्रेज ही मिल गया। देश-देशान्तरों में घूम-घाम कर आखिर को वे भारत में ही टिक गए। उनका नाम मिस्टर लारेन्स था। वे बहुत ही अच्छा पढ़ाते थे—उनके द्वारा हमारी अंग्रेजी भाषा की बड़ी पक्की नींव पड़ी। किन्तु आदमी मजेदार—कुछ सनकी—से थे। राजसाही से जब-तब इतिहासकार अक्षय मैत्र महाशय पिता के पास आते रहते थे। उनका पांडित्य अगाध था। किन्तु उसमें शुष्कता तनिक भी नहीं थी। वे जब बंगाल के इतिहास का वर्णन करने लगते तो पुराना इतिवृत्त हमारे नेत्रों के सामने साकार हो जाता। पिता से इतिहास के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों की चर्चा होती जिससे उनके मन की गम्भीरता का पर्याप्त परिचय मिलता था। अक्षय बाबू राजसाही में वकालत करते थे किन्तु उनका अधिकांश समय लिखने-पढ़ने और ऐतिहासिक गवेषणा में ही जाता था। उत्तरी-बंगाल में प्राचीन मुद्राएं, पत्थर की मूर्त्तियां आदि बहुत-सा माल-मसाला उन्होंने खोज निकाला था। बाद में, खोज में उपलब्ध वस्तुओं को एकत्रित कर उन्होंने 'वरेन्द्र अनुसन्धान समिति' के संग्राहलय का संगठन किया। अक्षय बाबू का एक और शौक था जिससे उनके पाण्डित्य का कोई ताल-मेल नहीं था। बंगाल में रेशम का उत्पादन कैसे बढ़ाया जाए—इसके पीछे वे पागल थे। रेशम के कीड़े किस तरह उत्पन्न किए जाते हैं, उन कीड़ों को क्या खाने को देना चाहिए, वे जब कोष बना लें तो उससे रेशम का तार किस तरह निकाला जाता है आदि रेशम-उत्पादन के जितने भी सूत्र हैं लोगों को सिखाने का उन्हें परम उत्साह था। अक्षय बाबू ने एक बार शिलाइदह जाकर लारेन्स साहब को अपना शिष्य बना लिया। साहब एक मण्डपाकार झोंपड़ी में रहते थे। वही झोंपड़ी रेशम के कीड़े उत्पन्न करने और रेशम-उत्पादन का कारखाना बन गई। लारेन्स साहब पर मछलियां पकड़ने की सनक भी सवार रहती थी किन्तु उन दिनों में सब-कुछ भूल-भाल कर रेशम के कीड़ों के पीछे पड़ गए। झोंपड़ी में जहां जितनी भी जगह थी वहां रेशम के कीड़ों ने अड्डा जमा लिया। रविवार के दिन हमलोग देखते वे अखबार लपेटे हुए रेशम के कीड़ों के बीच सो रहे हैं और कीड़े निकल-निकलकर उनके सारे शरीर पर रेंगते फिर रहे हैं। इन निःसंतान साहब की ये कीड़े ही सन्तान-सन्तति थे।

शिलाइदह में एक ओर जहां पिता ने हमें लिखाने-पढ़ाने की ओर ध्यान दिया वहां दूसरी ओर मां भी हमें घर-गृहस्थी का हर प्रकार का काम सिखाने की चेष्टा करती थीं। उनके सिखाने का ढंग भी बिल्कुल अलग था। रविवार को वे महाराज, नौकरों-चाकरों आदि सभी को छुट्टी दे देतीं और घर का सारा काम हम से कराती थीं। मैं खाना बनाने में बहुत उत्साह दिखाता था। क्योंकि खाना कैसा बना है, यह देखने के लिए पाचक की बीच-बीच चखकर देखने की स्वाधीनता में कोई भी बाधा नहीं डाल सकता ?

इसी तरह शहर की जटिलता और कोलाहल से दूर, प्रकृति के घनिष्ठ संस्पर्श के बीच पिता-माता के स्नेह की ओट में हम सभी भाई-बहन बड़े होने लगे।

शिलाइदह कोठी पर अतिथियों का कभी अभाव नहीं होता था। पिता के पास उनके बन्धु-बान्धव सदा ही आते-जाते रहते थे। द्विजेन्द्रलाल राय उस समय कुष्ठिया सब-डिवीजन के मजिस्ट्रेट थे। शिलाइदह से कुष्ठिया सड़क के रास्ते से पांच मील है। स्टीमर द्वारा नदी-पथ से भी बड़ी आसानी से यातायात चलता था। द्विजेन्द्रलाल राय फुरसत पाते ही शिलाइदह चले आते। तब उनके हास्यपूर्ण गान खूब सुनने को मिलते थे। गान सुनकर हम लोग हंसी से लोट-पोट हुए जाते किन्तु वे गम्भीरतापूर्वक हारमोनियम पर गाए चले जाते। चेहरे पर हंसी का नामोनिशान तक न होता। कभी-कभी वे दिलीप (पुत्र दिलीपकुमार

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

राय) को भी साथ ले आते थे । उस समय वह बहुत छोटा था। बहुत दुष्ट न सही किन्तु था 'लड़ैता', हर समय पिता से हठ करता रहता। द्विजेन बाबू भी उससे परेशान न होकर प्रसन्न मुद्रा में उसके हठ और ज्यादती को बर्दाश्त करते रहते थे। राय महाशय पिता से कहा करते थे कि वे दिलीप को वर्तमान प्रचलित शिक्षा नहीं दिलाना चाहते। वे आजमाना चाहते हैं किसी तरह की शिक्षा दिए बिना, किसी प्रकार की ताड़ना न देकर उसकी अपनी स्वाधीन प्रवृत्ति किस ओर जाती है।

जिन दिनों की बात मैं कह रहा हूं उस समय गवर्नमेण्ट का 'कृषि-विभाग' नाम से कोई पृथक विभाग नहीं था। यह नहीं कहा जा सकता किन कारणों से एक कृषि-विभाग खोलने की ओर सरकार का ध्यान गया। कृषि-विभाग की व्यवस्था हो जाने पर कृषि-शास्त्र के जानकारों की भी आवश्यकता होगी यह सोचकर चार ग्रेजुएटों को छात्रवृत्ति देकर विलायत के सिरेन्स्टर कालेज में प्रशिक्षण के लिए भेजा गया। जिन चार जनों के भाग्य में यह छात्रवृत्ति लिखी थी उनमें से द्विजेन्द्रलाल राय भी एक थे। कृषि-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त कर जब ये लोग लौटे तो दुर्भाग्य से, इस बीच गवर्नमेण्ट कृषि-विभाग खोलने की बात बिल्कुल भूल गई। इन चार 'कृषि-पण्डितों' से क्या कराया जाए यह एक विकट समस्या हो गई। किसी उच्च पदस्थ राज-कर्मचारी ने इस समस्या का बहुत ही सहज हल खोज निकाला--जिसे अंग्रेजी में 'ब्रेन वेव' कहते हैं। इन चारों कृषि-वैज्ञानिकों को डिप्टी मजिस्ट्रेट बना दिया गया। कृषि-विज्ञान भूलकर वे लोग डिप्टीगीरी करने लगे। हम लोग जब शिलाइदह में थे तो कुष्ठिया द्विजेन्द्रलाल राय का कर्मक्षेत्र था। इसीलिए उन्हें मेरे पिता से मिलने-जुलने की बड़ी सुविधा थी।

उन दिनों हमारे देश में सर्वसाधारण के बीच आलू खाने का उतना प्रचलन नहीं हुआ था। किसान आलू की खेती करना जानते भी नहीं थे। एक बार जब द्विजेन्द्रलाल राय आए तो उन्होंने आलू की खेती करने के लिए पिता को खूब उत्साहित किया। बाग के एक कोने में खेत तैयार किया गया, जिसे आलू की खेती का परीक्षण केन्द्र बनाया गया। द्विजेन बाबू ने कहा कि वे ही बीज भिजवा देंगे एवं किस तरह क्यारियाँ बनानी होंगी यह भी माली को समझा देंगे। जमीन तैयार हुई, यथासमय (गवर्नमेण्ट का कारोबार ठहरा कुछ कहा नहीं जा सकता, यथासमय न पहुंचकर बड़े असमय भी बीज आ सकता है) बीज आया और यथारीति वह रोपा भी गया। किन्तु दुःख का विषय है, फसल उठाने के वक्त ज्ञात हुआ कि जितनी मात्रा में बीज बोया गया था उतना आलू भी नहीं निकाला जा सका। इस घटना के बाद से जब भी द्विजेन्द्रलाल राय आए पिता उनसे साहित्यिक चर्चा ही किया करते।

आचार्य जगदीशचन्द्र बसु भी नियमित रूप से शिलाइदह आया करते थे। सम्भवतः सन् १८९७ में जगदीशचन्द्र का पिता से सर्वप्रथम परिचय हुआ था जो थोड़े ही दिनों में प्रगाढ़ बन्धुत्व में परिणत हो गया। जगदीशचन्द्र को पद्मा नदी का द्वीप बहुत भाता था। शीत पड़ने पर पद्मा नदी क्षीणकाय हो आती और दोनों किनारों पर बालुका-द्वीप निकल आते। द्वीप के सूखते-न-सूखते हम लोग कोठी छोड़कर नदी के किनारे बोट में जाकर रहने लगते। बड़े-बड़े दो ढाकाई बजरे थे--घर की तरह ही उन बजरों में भली भांति आराम से रहने की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त कुछ-एक छोटी नावें, लाल डोंगियां, मछुओं की नावें आदि विचित्र नौकाएं नाना कामों के लिए घाट पर बंधी रहती थीं। द्वीप की बालू में रसोई और नौकर-चाकरों के लिए बांस की खपच्चियों तथा फूंस से कुछ-एक काम चलाऊ, अस्थायी झोंपड़ियां भी खड़ी की जाती थीं। इसी तरह हमारी पूरी सर्दियां पद्मा नदी की गोद में बालुका-द्वीप के किसी एकान्त कोने में कटती थीं। जहां मानव से कोई सम्बन्ध न रह जाता, होते केवल जंगली बत्तकों के झुंड और चकवा चकवी।

जगदीशचन्द्र प्रति सप्ताह शनिवार को वहां आते और दो रात रहकर सोमवार को कालेज के काम से पुनः वापिस लौट जाते थे। पिता से मिलते-न-मिलते अपना दावा पेश कर देते--कहानी सुनाइए। प्रति सप्ताह एक नई कहानी उन्हें पढ़कर सुनाना यह तो मानो एक दस्तूर ही हो गया था। कोई भी रचना समाप्त होते ही सबसे पहले वह जगदीशचन्द्र को पढ़कर सुनाई जाती, उसके बाद ही वह छपने को भेजी जाती। पिता के लिए बन्धुत्व के इस अधिकार को अग्राह्य करने का कोई उपाय नहीं था।

पिता जिस प्रकार उत्कण्ठित होकर जगदीशचन्द्र के आगमन की प्रतीक्षा किया करते थे उसी प्रकार मेरी उत्सुकता भी कुछ कम नहीं होती थी। वे मुझ से बात-चीत करते, तरह-तरह के खेल सिखाते थे; छोटा मानकर कभी उपेक्षा नहीं करते थे। मैं उनका स्नेहभाजन बन सका इससे मेरा अहंकार भी खूब बढ़ गया था। मैं मन-ही-मन कल्पना किया करता--बड़े होने पर जगदीशचन्द्र के समान वैज्ञानिक बनूंगा।

पद्मा नदी के द्वीप में रहना-सहना जगदीशचन्द्र को बहुत भाता था। देश-विदेश में जाने कितनी सुन्दर जगहें वे देख आए थे, फिर भी वे हमसे कहा करते--"पद्मा नदी के द्वीप के समान इतना मनोरम और स्वास्थ्यप्रद स्थान संसार में और कहीं नहीं है।" स्नान के पूर्व वे मुझ से बालू में कई गड्ढे करा लेते और सबको एक-एक गड्ढे में अपने आपको गले तक बालू में ढंककर लेटे रहना पड़ता। जब सारा शरीर गरम होकर प्रायः अधपका हो जाता तो पद्मा के जल में छलांग लगा देनी होती थी। वे कहा करते थे ऐसा करने से स्वास्थ्य अच्छा बन जाता है।

जगदीशचन्द्र के पास कहानियों का अटूट भण्डार था। उनके कहने का ढंग भी बहुत सरस और सुन्दर था। कहानी में हास्य भी पर्याप्त मात्रा में होने के कारण उनसे कहानी सुनना बहुत अच्छा लगता था। अन्त तक उत्सुकता बनी रहती और कभी जी न ऊबता। दिन का समय बात-चीत और नाना विषयों की चर्चा में कट जाता। सन्ध्या होते-न-होते वे पिता को आ घेरते--उनकी कोई नई रचना सुनने के लिए। कविता, निबन्ध आदि कुछ भी न छूटता किन्तु जगदीशचन्द्र का सबसे अधिक आग्रह होता कहानी सुनने का। आहारादि के उपरान्त गान आरम्भ होता। कुछ-एक गान उन्हें विशेष प्रिय थे। वे पिता से जिस गान को बारबार गाने को कहा करते थे वह है:

एस एस फिरे एस, बंधु हे फिरे एस--

इसी प्रकार हर सप्ताह के शनि-रवि--दो दिन निर्मल आनन्द में बीत जाते।

एक वैज्ञानिक और दूसरा कवि--इनमें आपस में जो आकर्षण था उसे केवल बन्धुत्व शब्द के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनमें

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

परस्पर एक गम्भीर आन्तरिक सम्बन्ध था । बात-चीत और चर्चा के प्रसंग में भावों के आदान-प्रदान की चेष्टा मानो सदा बनी रहती थी । दोनों की विचारधारा विपरीत होते हुए भी आपसी बात-चीत और चर्चा द्वारा एक-दूसरे से वे यथेष्ट खुराक पाते थे।

लेखन कार्य के बीच-बीच में जब पिता को गाने की धुन सवार होती तो वे कलकत्ता से अमला दीदी को ले आते। अमला दीदी चित्तरंजन दास की कन्या थीं। दिन में अमला दीदी मां के साथ भोजन बनाने में जुटी रहतीं । नाना प्रकार का स्वादिष्ट ढाकाई भोजन बनाने में वे सिद्धहस्त थीं । मां उनसे वे सब व्यंजन बनाना सीख लेतीं और उन्हें यशोहर अंचल के निरामिष व्यंजन बनाने की विधि सिखातीं। सांझ होते ही हम लोग सब काम-काज छोड़कर गान सुनने को एकत्रित हो जाते । मांझीगण डोंगी को बजरे से सटाकर बांध देते । मैं जल्दी-जल्दी भोजन कर जंगले में से कूदकर डोंगी पर जा बैठता । सुरेन दादा के हाथों में इसराज होता । डोंगी खोल दी जाती और बीच नदी में पहुंचकर लंगर डाल दिया जाता। तत्पश्चात् गान आरम्भ होता—बारी-बारी से पिता और अमला दीदी गाते रहते। निरन्तर आकाश के छोर तक फैली हुई जल-राशि पर से गान के स्वर लहरों से खिलवाड़ करते हुए जाने कहां सुदूर जाकर मिल जाते और दूसरे किनारे खड़े हुए पेड़-पौधों से टकराकर उनकी मृदु प्रतिध्वनि हमारे पास लौट आती । क्रमशः रात भीगने लगती और चारों ओर नीरवता छाने लगती । उस समय नावों का आवागमन भी बन्द रहता । रह-रहकर लहरें आकर बोट से टकराती रहतीं और कुल-कुल शब्द करती हुई धार में मिल जातीं। चन्द्रमा का प्रकाश पड़ने से कहीं-कहीं नदी का जल झिलमिलाने लगता । कभी मछुओं की दो-एक नावों में मांझी 'भटियाली' सुर में, दांड़ चलाते हुए उसकी ताल पर गान गाते-गाते निकल जाते। गान-मण्डली विसर्जित होने के पहले ही मैं मां की गोद में सो जाता था। आज वे रातें स्वप्न के समान लगती हैं, किन्तु आज भी जब

वेला गेल तोमार पथ चेये
तुमि सन्ध्यार मेघमाला, तुमि आमार साधेर साधना ।

आदि गान सुनता हूं तो उन रातों की याद आ जाती है, जिन रातों में गान के स्वर जल की कलकल ध्वनि और फुराफुरा देने वाली दक्षिण वायु के साथ एकाकार हो जाते थे; जिन रातों में चन्द्रमा का प्रकाश बढ़ी हुई नदी के जल और नदी के द्वीप में एक अपूर्व आनन्द की सृष्टि करता था। गान का ऐसा मनोरम परिवेश और कहां मिल सकेगा ?

इस बारे में ठीक-ठीक तो अन्वेषक जीवन चरित-लेखक ही बता सकेंगे किन्तु सामान्यतः मेरी ऐसी धारणा है कि पिता का गद्य-पद्य रचना का उत्स जिस प्रकार शिलाइदह में उन्मुक्त हो गया था, ऐसा और कहीं, किसी स्थान पर नहीं हुआ । इस बीच वे कविता, निबन्ध और कहानियां निरन्तर लिखते चले गए हैं, एक दिन को भी लेखनी रुकी नहीं । शिलाइदह का जो रूप-वैचित्र्य था, उसमें उन्हें लिखने का अनुकूल वातावरण मिला था । नदी-किनारे दूर तक फैली हुई विस्तृत श्यामल तृण-भूमि, उसी के किनारे-किनारे बांस के झुरमुटों की ओट में लुके-छिपे छोटे-छोटे ग्राम । पके धान के खेतों पर झलमलाती हुई शरत् की धूप। शीतकालीन मन्द-मन्द समीर सरसों के पीले पुष्प-गुच्छों को डुला जाता । शिलाइदह के इस प्राकृतिक रमणीय सौंदर्य का वर्णन हमें उनकी बहुत सी रचनाओं में मिलता है। 'कणिका', 'कल्पना', 'कथा', 'काहिनी', 'नैवेद्य' आदि में प्रकाशित कविताएं; कहानियों में 'चोखेर बालि' और 'चिरकुमार सभा' एवं 'साधना' तथा 'भारती' (मासिक पत्रिकाएं) के लिए अधिकांश निबन्ध शिलाइदह में ही लिखे गए थे। बीच-बीच में कलकत्ता आना-जाना, कुष्ठिया में गन्ना मिल की देख-रेख, जमींदारी सरिश्ते का काम संभालना, रैयत की शिकायतों पर ध्यान देना, अतिथियों का स्वागत सत्कार—इन सब कामों के बीच भी पिता निरन्तर लिखते चले गए।

जमींदारी पर्यवेक्षण के सिलसिले में पिता को प्रायः घूमते रहना पड़ता था । जमींदारी भी अलग-अलग बिखरी हुई थी । नदिया, पावना और राजसाही—बंगाल के इन तीन जिलों के अतिरिक्त उड़ीसा के कटक जिले में भी कुछ जमींदारी थी । बंगाल की उक्त तीनों जमींदारियों में नदी-मार्ग से ही आना-जाना पड़ता था। पिता शिलाइदह से शहजादपुर और पतिसर अधिकतर बोट द्वारा ही आते-जाते । पद्मा के उस पार, उत्तरी बंगाल की ओर जाने के लिए पावना की ओर से इच्छामती नदी में उतरना पड़ता है और अनेक छोटी-छोटी नदियों में मोड़ काटते हुए उत्तर की ओर बढ़ना होता है। बंगाल की इन क्षुद्र नदियों के पथ लगभग बैलगाड़ियों की लीक के समान उद्देश्यहीन भाव से क्रमशः इधर-उधर मोड़ खाते हुए चले गए हैं। गांव के गली-कुंजों में लुका-छिपौवल खेलते हुए हठात् निकल आते हैं और कभी अपने को विलुप्त कर देते हैं डबरे के विस्तीर्ण जल में । इस प्रकार न जाने कितनी नदियों से होती हुई मन्द-मन्थर गति से नाव चलती रहती । ग्रामों के निकट घाटों पर स्त्री बच्चों का जमघट, किसी की कांख में घड़ा है, किसी की गोद में बच्चा है, कोई किनारे पर बैठकर पीतल के बर्तन मांज रही है और सभी मिल जुलकर हंसी-ठट्ठा करते हुए गप्पें हांक रही हैं । लड़कों का झुंड पानी में उतरकर उछल-कूद मचा रहा है, तैर रहा है और एक-दूसरे पर पानी उछाल रहा है । नदी के दोनों किनारों पर जाने कितने प्रकार के मछली फंसाने के पिंजरे और जाल फैले हुए हैं। नदी पार के खेतों में सुनहले रंग के धान काटने में कृषक व्यस्त हैं। कटे हुए धानों से किनारों तक ठसाठस भरी हुई नौकाएं नए धान घर ले जा रही हैं। बांसों के झाड़ नदी के ऊपर झूल आए हैं—जिसकी एक सूखी हुई फुनगी पर मछरंग ध्यान लगाए बैठा है किन्तु उसकी एकटक नजर मछली के इन्तजार में पानी पर लगी हुई है। इस प्रकार के ग्राम्य-जीवन के न जाने कितने दृश्यों को, युग-युगान्तरों से जिन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है—निर्विकार, शांत, एकाग्रचित्त किन्तु श्रमशील मेरे पिता बोट में बैठे हुए देखते जाते।

बचपन में पिता के साथ मैं एक बार अकेला शिलाइदह गया था। उस बार की एक घटना मुझे अच्छी तरह से याद है। उक्त घटना एक रोमाण्टिक कहानी लिखने लायक है । विजयादशमी के बाद पिता बोट से शिलाइदह गए यह सोचकर कि नदी में बोट पर ही रहेंगे। किन्तु तब तक नदी का पानी कुछ उतना घटा नहीं था जिससे नदी में बालू के द्वीप अभी उजागर नहीं हुए थे । सूखे द्वीप की खोज में हम लोग नदी में इधर-से उधर भटक रहे थे कि इस बीच आंधी आने के लक्षण दिखाई दिए । पिता ने मांझियों से बोट को किसी दह में ले जाकर

(शेष पृष्ठ ३३ पर)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आत्मदर्शी रवीन्द्रनाथ

सच्चिदानन्द वात्स्यायन

संस्मरणों, पत्रों, डायरियों या आत्म-वृत्त के दूसरे रूपों का महत्व आधुनिक युग में बहुत बढ़ गया है। इसका अगर केवल बाहरी कारण देखना हो तो कहा जा सकता है कि आज की मशीनी जिन्दगी ने मनुष्य के व्यक्तित्व को इतना छोटा कर दिया है—उसके दर्जे को इतना गिरा दिया है कि उसके लिए जरूरी हो गया है कि इस बात की दुहाई दे कि वह मशीन या मशीन का पुर्जा-भर नहीं है, मानव है जिसका व्यक्तित्व होना है और व्यक्तित्व भी अद्वितीय: कोई दो मनुष्य बिल्कुल एक से नहीं होते। दूसरा बाहरी कारण यह भी बताया जा सकता है कि इस व्यापारी युग में जब सब कुछ बिक्री के लिए आता है और मांग और खपत के नियम में बंध जाता है, तब स्वाभाविक है कि सनसनी और चटपटी बातों की खोज में रहने वाले साधारण पाठक के लिए इस तरह का साहित्य पैदा किया जाए जो कि साहित्यकार के निजी जीवन से सम्बन्ध रखता है। जो लोग कल्पना की दुनिया गढ़ते हैं, शायद उनके जीवन की वास्तविक दुनिया में ही कहीं कोई छिपी हुई सीढ़ी ऐसी मिल जाय जिसके सहारे पाठक भी अपनी नीरस वास्तविक दुनिया से निकल कर कल्पना-लोक में जा सके। यही मरीचिका सिनेमा एक्टरों और एक्ट्रेसों की जिन्दगी के बारे में कौतूहल पैदा करती हैं, और कितने लोग हैं जो सस्ते सिनेमा-पत्रों के सहारे एक सेकण्डहैंड जिन्दगी बसर करते हुए वास्तविकता का सागर अनदेखे ही पार कर जाते हैं, और कुछ ऐसी ही आशा उन्हें लेखकों और दूसरे कलाकारों के जीवन की बातों की ओर आकृष्ट करती है।

पर यह लेखक के आत्म-वृत्त को केवल बाहर से देखना है। आत्म वृत्त का साहित्य में एक उपयोगी स्थान भी है, और आज की दृष्टि से उसे निर्धारित करने के लिए थोड़ा पीछे देखना भी लाभकर होगा।

संस्कृत कवियों के जीवन के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। मध्य-युग के अन्य भाषाओं के कवियों के बारे में भी हमारी जानकारी अधिक नहीं है: जितने ऐतिहासिक तथ्य मिलते भी हैं वे भी किंवदन्तियों और परम्परागत कल्पित चित्रों के पीछे ऐसे दब गए हैं कि उनका ठीक-ठीक मोल आंकना असम्भव-सा हो गया है। जिन्होंने अपने बारे में लिखा भी है, उन्होंने अपने वंश का और तत्कालीन राजा का तथा अपने गुरु का परिचय दे देना ही पर्याप्त समझा है। जो इससे आगे गए हैं उन्होंने अपने बारे में ऐसी गर्वोक्तियां की हैं कि आज उन्हें कोई ज्यों-क्या-त्यों ग्रहण करे तो दंग रह जाए—अपने बारे में कोई ऐसी बातें कैसे कह सकता है। जहां एक तरफ कविता की ऐसी बंधी हुई रीति थी कि कवि के नाम का भी कोई महत्व नहीं था—और प्राचीन काव्य का इतना बड़ा अंश अज्ञातनामा कवियों की देन है—वहां दूसरी ओर कवि ऐसी डींगें भी हांक सकते थे, यह सोच कर अचम्भे में आ जाना पड़ना है। पर यह ध्यान रखनी चाहिए कि इन

आत्मदर्शी रवीन्द्रनाथ

गर्वोक्तियों को शब्दशः नहीं लिया जा सकता, गर्वोक्तियों की भी एक परिपाटी बन गई थी और उनमें भी तथ्य प्रधान कहीं रहा था बल्कि उसे प्रस्तुत करने का ढंग, उसमें दिखाया गया काव्य-कौशल, उसकी चमत्कारिता ही प्रधान हो गई थी। यानी ये गर्वोक्तियां अपने बारे में हो कर भी एक तरह से निर्वैयक्तिक हो गई थीं—और इसलिए हमें कवि के बारे में कुछ नहीं बताती थीं।

आधुनिक काल में स्थिति बहुत बदल गई है। आज गर्वोक्ति कोई नहीं करता, पर आज काव्य में भी व्यक्ति-तत्व का महत्व बढ़ गया है—कभी-कभी तो जान पड़ता है कि उसे उचित से कहीं अधिक महत्व दे दिया गया है, यहां तक कि व्यक्तितत्व के मूल्यांकन के विवाद में कृति

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

के मूल्य की बात ही लोग भूल जाते हैं। शायद यह कहना भी अतिरंजना न होगी कि आधुनिक काल के हर बड़े लेखक के निजी जीवन के बारे में इतनी अधिक चर्चा और वाद-विवाद हुआ है कि उसकी कृतियों का मूल्यांकन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया है।

एक हद तक यह स्थिति मध्यकाल की स्थिति के प्रति विद्रोह का नतीजा है। मध्यकाल में परम्परा प्रधान थी, नया व्यक्तित्व भी अपने को उसी के ढांचे में बिठाता था। विद्रोह में व्यक्तित्व का पक्ष अपनी विशेषता पर अधिक बल देने लगा। छपाई के द्वारा साहित्य के प्रसार ने उसे इसकी सुविधा भी दी : एक संरक्षक या पैट्रन पर उसकी निर्भरता कम हुई और यह सम्भव हुआ कि वह अपनी विशेषता को लेकर ही समाज के सामने आए। रोमांटिक प्रवृत्ति ने भी व्यक्ति को बढ़ावा दिया।

उन्नीसवीं सदी में जब पश्चिम के साहित्य से हमारा व्यापक परिचय हुआ, तब उस में व्यक्ति की प्रधानता थी और उसके आदर्शों में भी व्यक्ति का तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का एक अतिरंजित महत्व था। बाद के अनुभवों ने हमें सिखाया कि इस दृष्टि में काफी परिवर्तन की आवश्यकता है, पर जिस समय हमने पश्चिम के आदर्शों को प्रशंसा पूर्वक ग्रहण किया और स्वेच्छा या कहीं-कहीं लाचारी से भी उनका अनुकरण किया तब उनमें व्यक्ति का महत्व बहुत था।

लेकिन संरक्षक पर निर्भरता से मुक्त हो जाने के परिणाम और भी थे। जब तक संरक्षक पर निर्भरता थी, तब तक समाज की व्यवस्था में, और सत्ता के वितरण में, कवि का एक परम्परा-निर्दिष्ट स्थान था। जो लोग समूचे साहित्य को केवल आर्थिक दृष्टि से देखते हैं वे कहेंगे कि कवि भी सत्तारूढ़ वर्ग का समर्थक भर था या कि सामन्ती व्यवस्था का एक पुर्जा था। पर संरक्षण मात्र से उसे ऐसा हो जाना पड़े यह जरूरी नहीं था, क्योंकि संरक्षकों में आपस में संघर्ष भी होते ही थे और एक संरक्षक को छोड़ कर दूसरे की शरण भी ली जा सकती थी। संघर्ष में यह तो हो नहीं सकता कि सभी शक्तियां प्रतिगामी हों--कोई तो अग्रगामी होती ही होगी। बल्कि मध्यकाल के सभी संघर्षों में हम इसके लक्षण देख सकते हैं कि कई एक सम्भाव्य संरक्षकों में से किसी एक या दूसरे को चुनना कवि के लिए असम्भव नहीं था, और यह पहचानने के भी साधन थे ही कि किस की दृष्टि अधिक उदार है। और यह भी था कि राजसत्ता के संरक्षण के बदले धर्म सत्ता का संरक्षण चुना जा सकता था, हमारे मध्य-काल में सुधार के आन्दोलनों का आधार बहुधा धार्मिक रहा और उसमें कवि योग दे सके--राज सत्ता के विरुद्ध भी योग दे सके।

नई स्थिति में कोई संरक्षक न रहा, इस मुक्ति का दूसरा पक्ष यह था कि लेखक का समाज में कोई निर्दिष्ट स्थान भी न रहा। वह सत्ता का समर्थक भी न रहा, तो विरोधी शक्ति का सहयोगी भी न रहा—वह अकेला हो गया।

इस अकेलेपन में उसके लिए आवश्यक था कि अपने भीतर से ही शक्ति प्राप्त करे। और साहित्य में व्यक्तिगत तत्वों की वृद्धि का धनात्मक पक्ष यही है। जब साहित्यकार सत्ता के सम्बन्धों से अलग पड़ गया, तब उसे जो कुछ कहना था उसकी परख की कसौटी बदल गई। समाज-जीवन में उसकी सफलता गौण हो गई, और निजी अनुभव में उसकी सत्यता ही प्रधान हो गई। इस लिए साहित्यकार के लिए अपने निजी अनुभव को सामने लाना क्रमशः अधिक महत्वपूर्ण होता गया।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'निजी' लेखन को परखने के लिए उसे इस पृष्ठभूमि में रखना आवश्यक है। इसके सन्दर्भ में हम उसका मूल्य और महत्व पहचान सकते हैं और देख सकते हैं कि महाकवि की दृष्टि स्वयं भी कितनी स्वस्थ और स्वच्छ थी और दूसरों की दृष्टि को स्वस्थ रखने के लिए भी कितनी उपयोगी। बल्कि इसी सन्दर्भ में हम संसार के एक दूसरे बड़े साहित्यकार--आन्द्रे जीद के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निजी लेखन की तुलना करें तो मानों हमें समकालीन साहित्य के बारे में एक नई दृष्टि मिल जाती है।

जीद का सभी लेखन अत्यन्त व्यक्तिगत है। केवल उसके उपन्यासों को उसके जीवन से अलग करके, निरे उपन्यास की तरह नहीं पढ़ा जा सकता, बल्कि उसके जीवन को भी उसकी कृतियों से अलग नहीं समझा जा सकता। किसी एक पक्ष की ओर जाना चाहते ही अनिवार्यतया दूसरे पक्ष की ओर मुड़ जाना पड़ता है। और यह स्थिति अपने आप आ गई हो, ऐसा नहीं है। जीद का सारा प्रयत्न यही था कि जीवन और कृतित्व को इस प्रकार उलझा दिया जाए। अभी नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में भी दोनों को अलग करके देखा जा सकेगा या नहीं, या कि दोनों को अलग करना असम्भव पाकर भविष्य जीद और उसकी रचना दोनों को विस्मृति के गढ़े में डाल देगा या संजोए रहेगा। पर यह तो साफ है कि अपनी पीढ़ी के सामने जीद जान-बूझ कर जो समस्या खड़ी कर गया है, वह स्वस्थता या स्वच्छता का संकेत नहीं देती। भाषा पर जीद का असाधारण अधिकार—भाषा की आश्चर्यजनक संस्कारिता का आकर्षण--समस्या को कुछ और कठिन ही बनाता है, आसान नहीं।

इसके विरुद्ध रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आत्मवृत्त और संस्मरणों में कहीं भी ऐसा प्रयत्न नहीं है कि पाठक को उलझन में डाला जाए, न कहीं व्यक्ति पक्ष को हठपूर्वक सामने लाने की प्रवृत्ति है। उनकी रचनाएं व्यक्तित्व को यथा-स्थान ही प्रकाशित कर जाती हैं; अर्थात् कृतित्व की पृष्ठभूमि में ही। जैसे कठ-पुतली नाच में हम पुतली नचाने वाले को भी देखते तो हैं पर बराबर एक ओट के पार, जिसके कारण कठपुतलियां भी हमारे लिए प्राणवान् रहती हैं और अपना जादू लिए रहती हैं, और वह शिल्प-कौशल भी उतना हमारे सामने आ जाता है जितना कला का आनन्द लेने के लिए आवश्यक है, इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ भी दीखते हैं तो ओट के पीछे से ही, ओट छोड़ कर कभी सामने आ कर नहीं कहते कि "यह देखो, यह मैं हूं जिस ने वह सब बनाया है।" बल्कि इसके विरुद्ध उन्होंने तो यहां तक कहा है कि "मेरी स्मृतियों में ऐसी कोई घटना नहीं है जो चिरकाल तक रक्षा करने योग्य हो।" उनका आग्रह रहा है कि उनके स्मृति-चित्रों को आत्म-कथा लिखने का प्रयत्न न माना जाए, बल्कि साहित्यिक सामग्री ही समझा जाए।

यह ठीक है कि साहित्यकार के जीवन की घटनाएं अगर अपने-आप में कोई ऐतिहासिक या नाटकीय महत्व न रखती हों तो उन्हें वैसा महत्व दिया नहीं जा सकता। पर यह भी सही है कि साहित्य के लिए उनका महत्व उनके किसी आत्यन्तिक मूल्य में नहीं होता बल्कि इस बात में होता है कि स्वयं लेखक को संवेदना का साथ देने में उनका क्या स्थान

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रहा । यानी उनका महत्व अनुभव के सन्दर्भ में होता है, निरे इतिहास के सन्दर्भ में नहीं । रवीन्द्रनाथ ने अपनी स्मृतियों में जिन छोटी-बड़ी घटनाओं का उल्लेख किया है, जो व्यक्ति-चरित्र हमारे सामने उपस्थित किए हैं, उन्हें इस दृष्टि से देखने पर हम पाते हैं कि वे घटनाएं भले ही बड़ी न हों, वे चरित्र भले ही साधारण हों, उनका वर्णन लेखक की रचनाओं पर नया प्रकाश डालता है । क्योंकि वह हमें दिखाता है कि रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों और नाटकों में भी जो पात्र आते हैं, जो घटनाएं घटित होती हैं, उनके पीछे कृतिकार के अनुभव की सच्चाई है । पात्र कल्पित हैं, पर अनुभव कल्पित नहीं है । और यह कोई साधारण बात नहीं है । यों तो अनुभव की सच्चाई कृति में से ही पहचानी जा सकती है, जीवनी से उसकी पुष्टि पाना आवश्यक नहीं है, पर जहां उसका स्पष्ट प्रमाण भी मिल जाए वहां पाठक को अधिक तृप्ति मिल सकती है, और आलोचक का काम भी कुछ आसान हो जाता है ।

दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे । उपन्यास 'गोरा' में सामाजिक और राष्ट्रीय वैचारिक संघर्ष का जो चित्र है, और उस संघर्ष के पीछे रूप लेती हुई जिस आरम्भिक राष्ट्रीयता की झांकी हम पाते हैं, उसकी सत्यता को हम उपन्यास में भी पहचान सकते हैं । भारत की भाषाओं में ऐसे कम उपन्यास होंगे जिनमें राष्ट्रीय भावना के उदय का इतना सम्पूर्ण और सच्चा चित्र उतरा हो, और राष्ट्रीयता के सभी स्तरों का उन्मेष दिखाया गया हो--आध्यात्मिक से लेकर दैनिक लोक-व्यवहार तक देश के जीवन के सभी अंगों में राष्ट्रीयता के खमीर का प्रभाव प्रतिबिम्बित हुआ हो । निरा राजनीतिक या आर्थिक संघर्ष--या निरा सामाजिक संघर्ष, या रीति-रिवाज के स्तर पर संस्कृतियों का परस्पर संघात, या भाषा और साहित्य का पुनरुत्थान--अलग-अलग इनका बड़ा अच्छा चित्रण कई जगह मिल जाएगा, पर व्यापक राष्ट्रीयता का ऐसा दर्द, देश, समाज और संस्कृति की अधोगति की ऐसी वेदना, अन्यत्र दुर्लभ होगी.....और जब हम स्मृतियों में छोटी-छोटी घटनाओं में सहसा उन घटनाओं के बीज पहचानते हैं जो उपन्यास में आई हैं, तब एक तीखा प्रकाश हमें बता देता है कि उपन्यास की वेदना जीवन में अनुभव की हुई वेदना ही है, कि 'गोरा' की व्यथा केवल उपन्यास के पात्र की व्यथा नहीं है, कवि-गुरु की मर्म व्यथा है ।

इसी प्रकार नाटकों में प्रायः जो बूढ़ा प्रतीक पुरुष आता है, जिसके मुंह से कवि के अपने गहरे विश्वास बोलते हैं--कवि के संस्मरण पढ़कर हम पहचानते हैं कि वह बूढ़ा कल्पित होकर भी अनेक जाने हुए व्यक्तियों का एक पुंज रूप है, एक निचोड़ है, और वह बूढ़ा है तो इसलिए नहीं कि वह थका-हारा है या जीर्ण है, बल्कि इसलिए कि उसके मुंह से भारत देश का और भारतीय संस्कृति का सदियों का अनुभव बोलता है--भारत की प्रतिभा बोलती है।

और यह कवि की, साहित्यकार की, सबसे बड़ी सफलता और सिद्धि है । उसकी कृतियों में उसकी समूची संस्कृति की प्रतिभा बोले, यही भविष्य को उसकी देन है और यही उन कृतियों की अमरता की प्रतिज्ञा । और जब हम देखें कि कृतियों में भी वह प्रतिभा बोलती है और जीवनी में भी उस प्रतिभा के निकट सम्पर्क के लक्षण पहचाने जाते हैं, तब हम मान सकते हैं कि उस अमरत्व की एक झांकी कवि हमें अपने ही जीवन में दिखा गया है--अपने जीवन और अपने युग से बंधे हुए हम लोगों को भी अमर कर गया है। ऐसे ही कवि को द्रष्टा और ऋषि कहते हैं, वही स्वयम्भू है।

पितृदेव के साथ शिलाइदह में--(पृष्ठ ३० का शेषांश)

खड़ी करने को कहा । भाग्य से समय रहते हम लोगों ने दह में शरण ले ली अन्यथा मुसीबत में फंस जाते । रस्से-रस्सियों से बोट को अच्छी तरह बांध ही पाए थे कि इतने में आंधी आ गई । तीन दिन और तीन रात लगातार तूफानी आंधी चलती रही और वर्षा होती रही । हम जिस दह में पड़े हुए थे, देखते-न-देखते चारों ओर से छोटी बड़ी नाना प्रकार की नौकाओं से वह स्थान भर गया । दह में लहरें नहीं पहुंच सकतीं इससे हम लोग विपत्तियों के मार्ग को अवरुद्ध कर वहां निरापद रहे । मैं बोट के जंगले से देखता नदी की प्रखर धार में शत-शत मकानों-झोपड़ियों के ध्वंसावशेष, टूटी-फूटी नौकाओं के टुकड़े पानी में उतराते चले जा रहे हैं। इससे मैं समझ गया कि नदी किनारे के बहुत से गांवों का सर्वनाश हो गया है और बीच नदी में जितनी नौकाएं थीं सब डूब गई हैं। तीसरे दिन अपराह्न में आंधी का वेग कुछ कम हुआ । पिता मुझे साथ लेकर बोट के डेक पर आ बैठे । हठात् उन्होंने मांझी को बुलाकर कहा--"देख तो, नदी की बीच धार में क्या बहा जा रहा है ? केश से जान पड़ते हैं, स्त्री के केशों का गुच्छा होगा । जा, जल्दी से डोंगी लेकर जा।" तूफान को देखकर मांझी की पानी में उतरने की हिम्मत नहीं हो रही थी । यह देख पिता स्वयं जाने का उपक्रम करने लगे। इसी समय पीछे से आकर पिता को खींचते हुए हमारा बूढ़ा बवर्ची गफूर डोंगी में कूद पड़ा और भली-बुरी गालियां बकते हुए मांझियों को अपनी ओर खींचते हुए नाव खोल दी। हम लोग शंकित होकर देखने लगे कि नाव ठीक मौके पर, डूबती हुई स्त्री के पास पहुंच पाती है या नहीं । मांझी हुंकारते हुए उर्मिल लहरों के बीच तेजी से दांड़ चलाने लगे। नाव लहरों से टकराती हुई दौड़ी जा रही थी किन्तु ऐसा लगता था कि उस स्त्री के पास नहीं पहुंच पा रही है । अंधेरा घिरने लगा और कुछ दिखाई नहीं पड़ता था, बीच-बीच में केवल गफूर मियां की चीख-पुकार कानों में पड़ रही थी। बहुत देर बाद जब नाव लौटकर आई तो बवर्ची का उल्लास देखने लायक था--"मिल गया बाबूजी, मिल गया !" बाद में पता चला कि वह स्त्री कैसे भी नाव पर चढ़ने को राजी नहीं हो रही थी। किसी तरह बड़ी मुश्किल से उसके केश पकड़कर, खींच-खांचकर उसे नाव पर चढ़ाया गया। पिता ने देखा सुन्दर चेहरे वाली एक युवती सिकुड़ी सिमटी नाव के एक कोने में बैठी हुई है। बड़ी कठिनाई से उसका पता-ठिकाना उससे निकलवा सके । शिलाइदह के निकट ही उसका घर था, पति से लड़-लड़ाकर नदी में कूद पड़ी थी किन्तु तैरना जानती थी इसलिए डूबी नहीं।

पिता उसके ससुर को पहचानते थे। उन्होंने उसके ससुर को बुलवाया और पुत्र वधू को लिवा जाने को कहा । ऐसी घटना फिर न घटे इसलिए लड़के को भी धमका देने को कह दिया । बाद में सुनने में आया--उसके बाद से पति-पत्नी में फिर कभी झगड़ा नहीं हुआ और बड़े सुख से वे लोग अपनी गृहस्थी चलाते रहे।

अनुवादक : हरिशंकर शर्मा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

गीतांजलि का पराग-सौरभ

भवानीप्रसाद तिवारी

रवीन्द्रनाथ जिस युग में आविर्भूत हुए वह भारतीयों के राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक अधःपात का युग था। राजसत्ता अंग्रेजों के हाथ थी। संस्कारों को जड़वाद का जयघोष करने के लिए बाध्य किया जाने लगा। वैचारिक और धार्मिक क्षेत्र में 'जिमि पाखंड विवाद तें लुप्त होंहिं सद्ग्रन्थ' की स्थिति आ गई।

ऐसी स्थिति आने पर इतिहास ने अत्यन्त शक्तिशाली जातियों और धर्मों को सदा के लिए डूबते देखा है। परन्तु भारतवर्ष 'अभ्युत्थान-मधर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम्' पर विश्वास रखता है और उसका विश्वास अभी तक छला नहीं गया। अतएव युग के इस अधःपात से जूझने के लिए यहां जो विभूतियां उदित हुईं, वे पहले राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और पश्चात् रवीन्द्र, तिलक और गांधी के नाम से पुकारी गईं।

उक्त विभूतियों ने युग-युग के भारतीय ज्ञान, कर्म और भक्ति के प्रवाहों को अपने चिन्तनों, कृतियों और अनुभूतियों में आकलित किया और अपने विचारों, संचरणों और अभिव्यक्तियों में पुनर्प्रवाहित किया, --पुरातन के इस नवीनीकृत आवेग ने न केवल भारत को अपितु सारे विश्व को प्रभावित किया--मानव-धर्म का पुनरुत्थान हुआ--जड़ पर चेतन की विजय अंकित होने लगी।

रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा ने यह देख पाया कि भारतीय ज्ञान, कर्म और भक्ति ने मानव की जीवन-यात्रा और उसका गन्तव्य वस्तुतः एक ही दिग्दर्शित किया। उपनिषदीय ज्ञान यह दर्शन देता है कि 'ईशा-वास्यमिदं सर्वंयत्किंचजगत्यां जगत्'--संसार में जो गतिवान् है व ईश से अभिभूत है अतएव 'तेन त्यक्तेन भुन्जीथा :' जीवन का उपभोग यों करो कि जो कुछ दूसरे की बाधा बने उस का त्याग करो, लोभ मत करो। मागृधः। गीता का कर्मयोग यह प्रतिपादित करता है कि फल की उपलब्धि पर मत टिके रहो--मा फलेषु कदाचन--और वहां पहुंच रहो कि जहां सब सुखी हो सकें--सर्वे सुखिनः सन्तु। भक्ति भी 'अर्थ न धर्म न काम रुचि' की जीवन यात्रा निर्धारित करती है और 'सचराचर रूप राशि' पर समर्पित होने का संकेत करती है।

रवीन्द्रनाथ का साहित्य ज्ञान, कर्म और भक्ति की समन्वित अभिव्यक्ति है। इसी अभिव्यक्ति में मानव-धर्म की चरम परिणति है। ज्ञान गंगा, कर्म यमुना और भक्ति की सरस्वती जहां संगम बनाती है वहीं तीर्थराज बन जाता है। रवीन्द्रनाथ का साहित्य ऐसा ही तीर्थ राज है जहां अपार जनसमूह आकर विभिन्न सलिल धाराओं के संगम का पुण्योदक, विभिन्न चिन्तन धाराओं के समन्वित मानव धर्म का आचमन करता है।

रवीन्द्रनाथ की एक अनुपमेय विशेषता यह है कि उनका यह मानव धर्म काव्य में रस बनकर बहा है। गीतांजलि का प्रत्येक गीत मानो

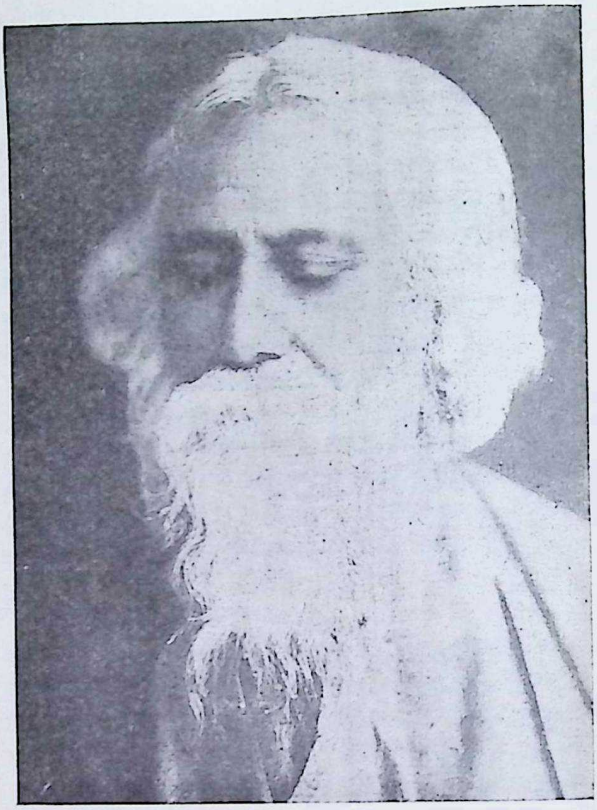

गीतांजलिकार रवीन्द्रनाथ

मानव-धर्म की एक कड़ी बनकर गाता चला जाता है। आइए देखें कि कड़ी से कड़ी के जुड़ने का क्रम किस तरह एक सम्पूर्ण श्रृंखला निर्मित कर देता है--रवीन्द्रनाथ उद्बोधन करते हैं--

तुम्हारे अन्तर में अभी तक तन्द्रा है, जागो अरे जागो! तुमने क्या नहीं सुना कि तीखे शूलों में भोले फूलों का सौंदर्यमय साम्राज्य है। जागो अरे जागो।

देखते नहीं हो सभी तो गतिमान हैं, वे रुकते नहीं, वे पीछे मुड़कर देखते नहीं। ऐसी कौन शक्ति है जो उन्हें रोक सके। जो उन्हें टोक सके। वे तो चल रहे हैं--निर्बाध द्रुत से द्रुततर।

इस कर्मक्षेत्र में तुम्हें गतिशील होना ही है, कर्मरत होना ही है। मन्दिर के इस कोने में, अन्धेरे और सूने में कहां बैठे हो? किस की पूजा कर रहे हो? आंखें खोलो और देखो कि तुम्हारा प्रभु तुम्हारे सामने

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

नहीं है । वह तो वहां है जहां कि किसान कड़ी धरती जोत रहा है, कि जहां मजूर पत्थर फोड़ रहा है । धूप और मेह में, विजन और गेह में प्रभु उन्हीं के साथ है । उतार फेंको ये बनावटी वसन ! छोड़ दो ये पूजन-भजन ! मुक्ति के नाम पर ढोंग मत रचो । स्वयं प्रभु ने प्रजनन के सब बन्धन आनन्द पूर्वक वरण किए हैं। इसलिए इस ओर आओ। अरे क्या चिन्ता कि तुम्हारे वस्त्र धूल से भर जाएं, कि चीथड़े-चीथड़े हो जाएं। उद्यम और श्रम में, भौंह से टपकते पसीने में, उठो और प्रभु को भुज भर भेंट लो।

मन्दिर की देहली पर माथा टेकने से प्रभु के चरण पकड़ में नहीं आ जाएंगे । प्रभु के चरण तो वहां स्थित हैं, जहां वे रहते हैं जो दरिद्र हैं, दीन, हीन हैं। तुम अपना अहंकार लिए बैठे हो तो वहां कैसे पहुंच सकते हो जहां वह चीथड़े पहने उनके बीच डोलता है जो दरिद्र हैं, दीन हैं, हीन हैं । तुम्हें उसकी गली अटपटी-लगती है। और वह संगहीनों का संगी बन उनके ही साथ झूमता फिरता है कि जो दरिद्र हैं, दीन हैं, हीन हैं।

क्या कहा ? संसार त्याग ! अरे नहीं भाई, यह मार्ग नहीं है। जनपथ से नाता तोड़ना तो जीवन से पलायन है। 'न दैन्यं, न पलायनम्' तुम भागो मत, सामना करो और आगे बढ़ो । इन्द्रियगण ? हां, उनसे दबो नहीं पर उन्हें समूल दमन करने की भी क्या आवश्यकता ! शरीर के इन द्वारों को मैं तो नहीं बन्द करूंगा । इनके द्वारा ही तो प्रभु का आनन्द, शब्द-रूप-रस-स्पर्श गंध बन कर जा रहा है, जा रहा है। इसी आनन्द की ज्योति में भ्रांति जल मरेगी और वासना के फूलों की परिणति स्नेह के फलों में हो उठेगी।

पथ की अन्य बाधाएं तो नगण्य हैं। क्या हुआ मध्यान्ह के सूरज के उत्ताप से नभ सांसें भर रहा है, कांप रहा है । क्या हुआ यदि जलती-रेत पिपासा की चादर ताने है । क्या तुम्हारे हृदय के गहरे में आनन्द नहीं है ? क्या तुम्हारे चरण-पात पर मार्ग की वीणा झंकृत न हो उठेगी ?

जगती के इस यात्रा-पथ में चलना अनिवार्य है, परन्तु ऐसा करो कि पथ आनन्दमय हो उठे। साथ चलने वाले राही के सुख-दुख में अपना सुख-दुख मिलाओ यही प्रभु मिलन है। और उसे प्रभु कहते ही क्यों हो ? वह रहस्यमय तो नाना रूपों और वेशों में तुम्हारी सहायता के लिए दौड़ रहा है। उसे देव मानो ही मत, अपना मानो और पास चले आओ, मीत समझ कर उसे भुज भर भेंट लो, बन्धुओं की उपेक्षा मत करो; यदि तुम अपना संचय उन्हें वितरित न कर पाओगे तो उसे सर्वस्व दान न कर पाओगे। लोगों के सुख-दुख में सम्मिलित नहीं होगे तो उसके समीप पहुंच नहीं पाओगे। प्राण देने से डरोगे तो जीवन के गहरे पानी में नहीं उतर पाओगे ।

'गहरे उतरो' का अर्थ यही कि कर्म में डूबो, इतने डूबो कि कार्य और लगन में, सेवा और स्नेह में अभेद हो जाए ! इसके लिए हृदय में अनुभूति जगानी होगी कि वह चेतन जन-जन में और कन-कन में खेल रहा है । वही तो है जो तुम्हारे अन्तर में जाग रहा है। वही रहस्यमय इसमें, उसमें सब में डोल रहा है। आत्मा के इस अभेद में ही आनन्द का वास है।

कभी वह तुम्हें नींद से जगाने आएगा और अन्तर में नव-स्फूर्ति भर जाएगा तब उसे पहिचानने में भूल न करना। कभी गहरे क्लेश में वह सहायक होकर आएगा तब उसे अपनी बांहों में अवश्य भर लेना। कभी करुणा-करों से फूल बरसाने आएगा तब उसे स्वीकार कर लेना। कभी वह भिखारी बनकर तुम्हारे द्वारे खड़ा होगा तब उसे सर्वस्व दान करने में मत चूकना ।

तुमने उसकी मन्द पद ध्वनि नहीं सुनी ? वह तो प्रति क्षण आता ही है । प्रति दिन, प्रति रात, प्रति मास, प्रति वर्ष वह आता है, वह तो प्रति क्षण आता ही है। किरनीले फागुन के सुरभि-भीने दिवसों में वह वनस्थलियों की गलियों में हो आता है, वह तो प्रति क्षण आता ही है। सावन की बरसाती रात की अंधेरी में वह मन्द गर्जन के मेघों के स्पन्दन पर आता है, वह तो प्रति क्षण आता ही है । दुख और पीर में उसके ही चरण-पात उर में बज उठते हैं और आनन्द भी उसके ही चरण के स्पर्श से रंजित है।

हृदय में जब यह रहस्य खुल जाता है, तब आनन्द जाग उठता है। आनन्द, जो धरती को तृणांकुर की विद्रोही बाढ़ प्रवाहित करता है; आनन्द जो सहजात बन्धु जीवन और मरण को इस वसुधा पर नाच नचाता है, आनन्द जो सारे जीवन को अपने हास से कम्पित करते, जागृत करते, जंझा के साथ बह उठता है, आनन्द जो अपने आंसू ले, पीड़ा के रक्तिम उत्पल पर निश्चल बैठा रहता है । आनन्द, जो अपने पास का सभी कुछ धूल में फेंक देता है और एक शब्द नहीं कहता। आनन्द शाश्वत है, सत्य है, और सुख-दुख, जीवन-मरण उसके वेगावेग की धाराएं मात्र।

आनन्द की इस स्थिति में अभय है । मरण का भय नहीं। मरण तो जीवन के समान ही एक व्यापार है । प्राणियों की मृत्यु तो ध्रुव है। तब उससे डर क्यों ? मरण तो प्रभु का आमन्त्रण है। जब वह आए तो द्वार उघार उसका स्वागत करो और चरणों में हृदय-धन सौंप अभि-वादन करो । मैं तो अपने साधन जुटा रहा हूं। जब वह मेरे द्वार खटकाएगा उस दिन मैं अपने अतिथि को अपना सारा जीवन पात्र ही उंडेल पिला दूंगा । उसे रीते हाथों न जाने दूंगा । हे मीत, तुम भी ऐसा कर सकोगे ? ऐसा जीवन जियो कि मरण आनन्दमय हो उठे ।

निर्भय हो तुम जीवन के गहरे पानी में उतरो तो जीवन का भेद भी जान सकोगे, कि उसका खेल ही ऐसा है कि वह इस गागर को बार-बार रीती करता है और बार-बार भरता है; आनन्दमय का खेल ही ऐसा है कि वह इस जीवन-बांसुरी को गिरि-नद पर लिए डोलता है और उसमें नवीन रागिनी भर अपने ही बोल बोलता है। तरंग गिरती है फिर उठती है, स्वप्न टूटते हैं, फिर बनते हैं। जब रसना पर प्राचीन बोल, रस विहीन हो मर जाते हैं, अन्तर से रस-गागर भर कर फिर नए बोल आ जाते हैं। भग्नावशेष हो विगत चिन्ह जब मिट्टी में मिल जाते हैं फिर उसी जगह फिर नया सृजन, फिर नवजीवन, फिर नए भवन, फिर नव उपवन, फिर नए सुमन खिल जाते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कवि देव

सियारामशरण गुप्त

कवि ठाकुर—कविदेव—तात,—
आनन्द-शिखर गत
जनगणमन के नमस्कार तुम लो ये शत-शत !
अन्तरिक्ष में शत परिक्रमाएं रवि की कर
बहु भावित यह दिवस आज उतरा भूतल पर।
प्रसरित इसकी कालदीर्घिका के शतदल-से
अभिवादन प्रणिपात हमारे नवनिर्मल ये
आमोदित हैं दूर दूर तक ।
चिर सम्भावित,
शती पूर्व जब तुम स्वगह में हुए अवतरित,
दीप्त दीप सम स्वजन हुए होंगे आलोड़ित।
पूर्व क्षितिज पर दूर ब्राह्म वेला में गोपित,
तुम बालारुण तुल्य रहे कुछ समय अगोचर।
तभी अचानक सुना तुम्हारा वह विस्मयकर
नव प्रभात संगीत; नए निर्झर स्वर फूटे,
हृदय गुहा के शिला-बन्ध सब टूटे-टूटे;
समुच्छ्वसित हो उठे कूल-प्रतिकूल-उभय तट,
रहा दूर जो हुआ निरन्तर निकट-सन्निकट।
घर-बाहर सर्वत्र हुआ अनुभव जन-जन को,
हृदय-हृदय की व्यथा-वेदना विरह-मिलन जो
आकुल होकर घुमड़ रहे थे गिरा न पाकर,
मुखरित तुमने किया उन्हें पीयूष पिलाकर।
जाने गूढ़ रहस्य सखा बन दयित जनों के,
अन्तरंग में पैठ छलकते आंसू पोंछे।
भव्य भारती नित्य तुम्हारी नव-नव छन्दित,
काव्य-नाट्य संगीतमयी हो उठी तरंगित।
आवर्तित होकर अतीत ने जीवन पाया,
वर्तमान में रुचिर भविष्यत् भावित भाया।
सुनकर तुमको सुना सुदूरागत स्वकीय स्वर
भारत ने निज सुप्ति शयन पर ऊंचे उठकर।
कवि तुम हे गुरुदेव, स्वरों के अविरत स्रष्टा,
स्थिरासीन, बहुदूर विपुल के निर्मम द्रष्टा,
अनुभव तुमने किए विश्व के दुःख-क्लेश-मय,
हिंस्र घात-प्रतिघात, आक्रमण दारुण दुर्दय।
पीड़ा लेकर मनुज मात्र की स्वयमपि सारी,
देश-काल-निरपेक्ष सर्व मंगल व्रतधारी,
तुम सबके हो गए !
समय कैसे बीता कब,
जान न पाए, रहे, आत्म-विस्मृत-से हम सब
रस-धारा में मग्न कण्ठ तक; हिले न डोले;
तब अनन्त के विहग, पंख तुमने निज खोले।
जिस सुषमा के साथ उठे थे पूर्वाचल पर,
पश्चिम में भी उसी अरुणिमा का वैभव भर
तुम हे ज्योतिर्देव, अगोचर हुए गगन में,
रहे एक-से दीप्त आगमन और गमन में।
तुल्य भाव से लिए अर्घ्य-अंजलि के अर्पण
तुमने; हे चिरकाल यात्रि, कैसे परितर्पण
करें तुम्हारा आज ?
अहो कवि, तुम चिर उत्सुक,
उस दिन सम्मुख देख रहे थे दूर सकौतुक।
देखा तुमने, अरे कौन शत वर्ष परे वह
लिए तुम्हारा काव्यग्रंथ पढ़ता है साग्रह
गृह का दक्षिण द्वार खोल !—मधु पीकर सुविपुल
फागुन का उन्मद समीर वह आकुल-व्याकुल
लहराता है केश, वसन उस जन के रह-रह ।
सोचा तब तुमने वरेण्य हे, इस दिन का यह
नव वासन्तिक पुलक, अरुणिमा वल्लरियों की,
यह खिलखिलती हंसी आज की इन कलियों की,
शती पूर्व के इस दिगन्त से लेकर रंचक,
क्या मैं पहुंचा सका दूर के उस वाचक तक ?
काव्य ग्रन्थ, कविदेव, तुम्हारा कर में लेकर
बैठा हूं मैं आज यहां, तब अपने भीतर
मुझे हो रही यह प्रतीति, मैं ही हूं वह जन,
जिसे उस दिवस बहुत पूर्व कर रहे अध्ययन
देखा था तुमने सुदूर से विस्मय पूर्वक।
करता हूं अनुभूति प्रबल यह आज अचानकः
ऊर्ध्व लोक से विगत वत्सरों के कितने स्तर
भेदन करती हुई, पीठ पर मेरी आकर
दृष्टि तुम्हारी पड़ी, मुझे चौंकाकर ऐसे,
प्रिय वयस्य की मृदुल थपथपाहट हो जैसे !
दूर नहीं,—चिरकाल यहीं तुम निकट निरन्तर;
मुझे छू गया है शताब्द सारा अन्तर भर।
मैं चिरजीवी आज तुम्हारे शुभ स्पर्श से,
देख रहा हूं स्पष्ट और शतसंख्य वर्ष वे।
धन्य तुम्हारे दीर्घ दृगों ने देखा जो कुछ;
मिले तुम्हें जो हेमकूट, भू के तृण, वीरुध;
तुमने जितना सुना प्रकट-अप्रकट, सितासित;
सबका सब दे गए हमें तुम यहीं अपरिमित।
जिस धरती को प्यार किया जी भर-भर कितना,
जिसका शुभ श्रृंगार किया तुमने यह इतना—
भक्ति प्रेम युत रुचिर रंग रुचि रेखाओं से,
छन्द गान की विविध तरंगित लेखाओं से;
रही तुम्हारे लिए नित्य जो एक अखण्डित;
विचरे जिस पर ऊर्ध्वचित्त भयमुक्त सुशंसित;
उसी भूमि पर जन्मशती के प्रिय अवसर पर
उतरो हे गुरुदेव, पुनः अवलोको आकर,
शती पूर्व का यह वसन्त है वही तुम्हारा,
बहे कर्म की वही तुम्हारी अविरत धारा ।।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

गुरुदेव से प्रथम भेंट

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

आज से २५ वर्ष पूर्व, फरवरी १९३६ में शान्ति निकेतन के हिन्दी समाज की ओर से जब मुझे वहां हिन्दी कहानी साहित्य के सम्बन्ध में एक निबन्ध पढ़ने का निमन्त्रण मिला, तो उससे मुझे एक असाधारण उल्लास की अनुभूति हुई थी। विशेषतः यह जान कर कि उक्त निबन्ध जिस सभा में पढ़ा जाएगा, उसकी अध्यक्षता सम्भवतः गुरुदेव स्वयं करेंगे। उन दिनों पं० बनारसीदास चतुर्वेदी कलकत्ता से 'विशाल भारत' का सम्पादन कर रहे थे। शान्तिनिकेतन में हिन्दी समाज की स्थापना उनके, श्री भागीरथ कानोडिया तथा डाक्टर हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के सम्मिलित अध्यवसाय से हुई थी। निश्चित दिन कलकत्ता से हम बहुत से लोग एक साथ शान्तिनिकेतन के लिए रवाना हुए। चतुर्वेदी जी इस दल के मुखिया थे। श्री तथा श्रीमती सुदर्शन, श्री रामलाल तथा श्रीमती सत्यवती मल्लिक, अपने सुपुत्र केशव मल्लिक तथा बेटी कपिला सहित, श्री महेन्द्र शास्त्री, श्री तथा श्रीमती सुरेन्द्रनाथ तथा मौलवी जकरिया। लगभग एक दर्जन हिन्दी वालों का यह दल शान्तिनिकेतन के सुन्दर अतिथि भवन में ठहराया गया। हम लोग बोलपुर स्टेशन से दो टैक्सियों द्वारा जब शान्तिनिकेतन पहुंचे, सांझ धीरे-धीरे रात में परिणत हो रही थी।

अशोक वृक्षों के एक सघन उपवन के बीचोंबीच बना यह सुन्दर और विशाल अतिथि-गृह तब के शान्तिनिकेतन की सब से बड़ी और अच्छी इमारतों में गिना जाता था। ऊपर की मंज़िल के जिस कमरे में मुझे अपने कुछ साथियों सहित ठहराया गया, उसके बारे में यह भी बता दिया गया कि काफ़ी समय तक गुरूदेव स्वयं इसी कमरे में रह चुके हैं। बड़े आकार के उस स्वच्छ कमरे से मिला हुआ एक विस्तृत बरामदा है, जिस के ऊपर का भाग लकड़ी के हरी वार्निश युक्त फट्टों से ढंक दिया गया है। बरामदे को घेरने वाली दीवार भी ३ फुट से कम नीची नहीं। यदि उन्मुक्त आकाश के नीचे बैठना हो तो उसी बरामदे का बीच का भाग पोर्टिको के ऊपर वाली छत से संयुक्त है (इमारत का चित्र पृष्ठ ३८ पर)। मुझे बताया गया कि गुरुदेव ने गीतांजलि का अधिकांश भाग इसी बरामदे में बैठ कर लिखा है। मैं सचमुच भाव-विभोर हो उठा। साथी लोग जब कपड़े बदलने और बिस्तर लगाने में व्यस्त हुए, मैं इसी बरामदे में जा खड़ा हुआ। ऊपर की बत्ती मैंने बुझा दी। यह कृष्ण पक्ष की रात थी। स्वच्छ आकाश में तारे चमक रहे थे। उनके नीचे सघन बकुल वृक्षों के कलेवर, जो उक्त बरामदे से अधिक ऊंचे नहीं, अपितु लगभग समतल थे, अत्यन्त कवित्वपूर्ण प्रतीत हो रहे थे। जैसे अन्धकार की नदी पार करने के लिए किसी विशाल शक्ति ने पंक्तिबद्ध रूप में काले पत्थर संजो दिए हों।

मालूम नहीं, कितनी देर तक मैं यह दृश्य देखता रहता, यदि भोजन के लिए हमारी प्रतीक्षा न की जा रही होती। शान्तिनिकेतन के विद्यार्थियों के भोजनालय में हम लोगों के भोजन की व्यवस्था थी। पंजाब तथा उत्तर प्रदेश की दो बड़ी छात्राएं उन दिनों शान्तिनिकेतन में थीं और उन्होंने हम

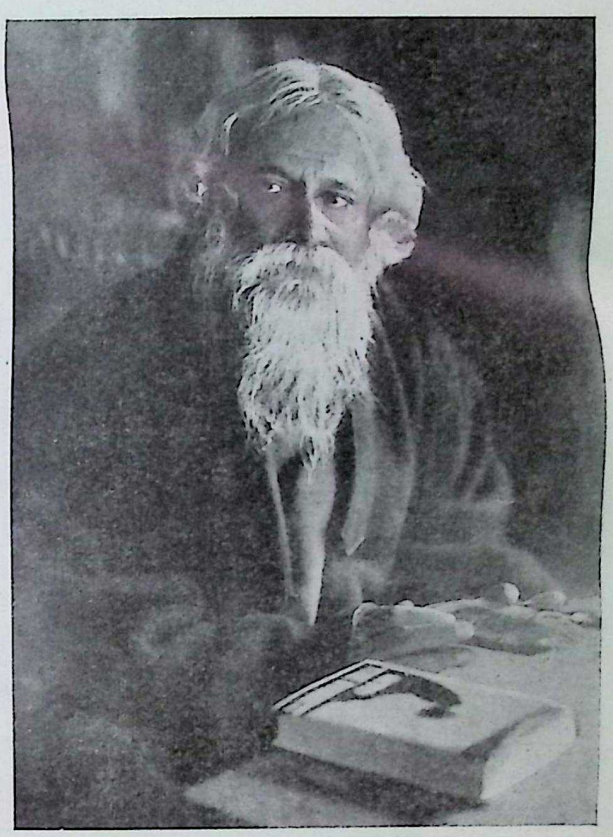

गुरुदेव मेहमानों से बात करते हुए

शान्तिनिकेतन में वृक्षारोपण समारोह

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

लोगों के लिए फुलके बनाने में सहायता दी थी । भोजनागार का वातावरण हमें अत्यन्त मधुर अपनत्व से भरा प्रतीत हुआ । यों भी गुरुकुल में शिक्षा लेने के कारण मैं इस वातावरण से पूरी तरह परिचित था ।

वापस आकर मैं पुनः चुपचाप उसी पोटिको की छत पर जा खड़ा हुआ । रात अब और अधिक गहरी हो आई थी । इस सन्नाटे में एकाएक दूर पर गीदड़ों की चिल्लाहट सुनाई दी । ५, ६ वर्षों से लाहौर में रहते हुए मैं गीदड़ों के निशीथ रोदन से उत्पन्न होने वाली सिहरन जैसे भूल चला था । याद आया, यह सब भी मेरी चिर-परिचित है । तिमिरावृत घने वृक्षों की चारों ओर फैली हुई चोटियां, रात का सन्नाटा और गीदड़ों की चीख-पुकार यह सब मैं बरसों से, शायद जन्म के साथ से पहचानता हूं, क्योंकि मेरा जन्म भी एक गांव में हुआ है । पर यह अनुभूति कि मैं आज उस स्थल पर खड़ा हूं, जहां गीतांजलि लिखी गई है, मुझे एक अनुभूत उल्लास दे रही है । यह क्या ! क्या यह मेरे कानों का भ्रम है ? गीदड़ों का निशीथ रोदन शिथिल पड़ गया है और उसके प्रतिरोध स्वरूप एक अन्य दिशा से अत्यन्त मधुर सह-गान की लय मुझे सुनाई दे रही है । नहीं, यह भ्रम नहीं है, क्योंकि संगीत की यह लय क्रमशः अधिक स्पष्ट और अधिक मोहक बनती चली जा रही है । उसके बाद मुझे दिखाई दिया कि प्राची दिशा में वृक्षों के अन्तराल में से कुछ टिमटिमाते प्रकाश इसी बंगले की ओर बढ़ते चले आ रहे हैं । मैं पूरी तरह आविष्ट-सा हो गया । शान्ति-निकेतन के इस रात्रि वैतालिक समारोह की बात मैंने सुनी जरूर थी, पर वह उतना मधुर, इतना कवित्वपूर्ण और इतना रोमांचित कर देने वाला होगा, इसकी मुझे कल्पना तक भी नहीं थी । प्रकाश हाथों में लिए शान्तिनिकेतन के कुछ विद्यार्थी और कुछ छात्राएं, गाते, बजाते और नृत्य करते हुए अतिथि गृह के निकट से होकर आगे बढ़ गए ।

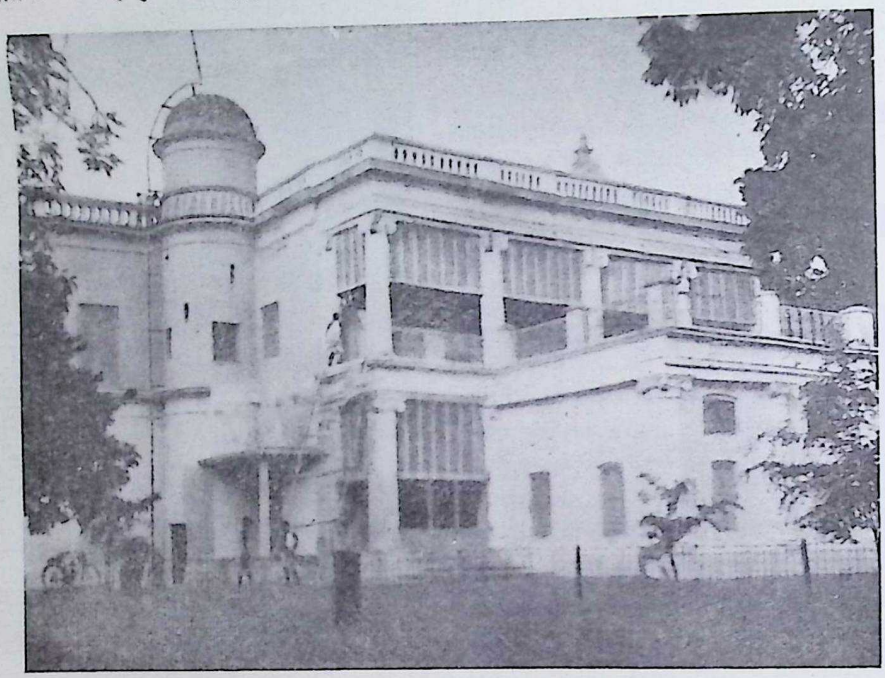

इसी इमारत के सामने दिखाई देने वाले ऊपर के बरामदे में गुरुदेव ने 'गीतांजलि' लिखी थी ।

एकाएक गीतांजलि का एक गीत मुझे स्मरण हो आया—

"सखि री !
दिन ढल गया—
सन्ध्या धरती पर उतर आई,
अब अपनी गागर भरने घाट पर चलना है !
जल धारा के कलकल स्वर से
सन्ध्या के आकाश में बेचैनी भर गई है ।
वह स्वर मुझ से अनवरत कह रहा है—
अब अपनी गागर भरने घाट पर चलना है !"

मैं न जाने किस दुनिया में खो गया था कि एकाएक अपने नाम की पुकार सुन कर चौंक उठा । मालूम हुआ, मेरी खोज हो रही है । मुझ से कहा गया कि एक जरूरी बातचीत के लिए चतुर्वेदी जी मुझे बुला रहे हैं । मैं जैसा था, वैसे ही चल दिया । हरिकेन की सहायता से बकुल उपवन पार कर जब मैं निर्दिष्ट कमरे में पहुंचा, तो पाया कि शान्तिनिकेतन के लगभग १२ प्रमुख उपाध्याय वहां एकत्र हैं । मैं सचमुच घबरा गया । औपचारिक परिचय के बाद जब एकाएक मुझ से कहा गया कि कहानी साहित्य के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए ये सब महानुभाव एकत्र हुए हैं, तो मेरी घबराहट और भी अधिक बढ़ गई । सच बात तो यह है कि कुछ ही मिनट पहले की अनुभूति से मैं अभी तक जैसे आविष्ट था । मालूम नहीं, किस तरह परीक्षा की ये घड़ियां मैं उत्तीर्ण कर पाया । मुझे कुछ भी स्मरण नहीं कि मुझ से क्या प्रश्न पूछे गए और मैंने उनका क्या जवाब दिया ।

दूसरे दिन मेरी दशा भावा-विष्ट-सी नहीं रही, क्योंकि उसी साँझ मुझे अपना निबन्ध पढ़ना था और बाद में पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर देने के लिए अपने को तैयार करना था । शान्तिनिकेतन को अब मैंने एक तटस्थ दर्शक के समान देखने का प्रयत्न किया और पाया कि यह संस्था सचमुच महान् आदर्शों से प्रेरित होकर संचालित की जा रही है ।

प्रातःकाल ही मालूम हुआ कि गुरुदेव हिन्दी समाज की बैठक में नहीं आ सकेंगे, क्योंकि उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है । उनके डाक्टर ने हम लोगों को केवल १५ मिनट का समय दिया कि उनके दर्शनों के अतिरिक्त पढ़े जाने वाले निबन्ध की संक्षिप्त रूप-रेखा भी उन्हें बताई जा सके ।

गुरुदेव से उस मध्याह्नोत्तर जो भेंट हुई, वह न सिर्फ़ पूरी तरह अनौप-चारिक तथा हार्दिकतापूर्ण बन गई, अपितु उसके द्वारा गुरुदेव की कुछ रचनाओं पर भी गहरा प्रकाश पड़ा । हम लोगों के सौभाग्य से गुरुदेव उस दिन असाधारणतः प्रसन्न मुद्रा में थे । इस भेंट का वर्णन श्री बनारसीदास

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

चतुर्वेदी ने, भेंट के दूसरे ही दिन लिख दिया था, जो मैं यहां उन्हीं के शब्दों में मार्च १९३६ के 'विशाल भारत' से उद्धृत कर रहा हूं :—

सन्ध्या समय ठीक चार बजे हम लोग उनकी सेवा में उपस्थित हुए। कवीन्द्र को ऐसा खयाल था कि दो-तीन आदमी ही होंगे, पर यहां हम लोग १५ यात्री हो गए थे। इतने व्यक्ति जब एक साथ कवीन्द्र के निवासस्थान पर पहुंचे, तो वे कुछ घबराए और उन्होंने अपने आदमी को आज्ञा दी कि जल्दी से कुर्सी-मूढ़े लाओ! फिर मुझ से कहा—"पहले से कह तो देते, कितने आदमी आवेंगे। यहां तो स्थान की भी कमी है।"

दर असल वहां जगह की कमी थी। कवीन्द्र अब मिट्टी के मकान में रहते हैं, और उसके बराण्डे में पन्द्रह आदमियों को कुर्सी-मूढ़ों पर बैठने लायक जगह नहीं है। किसी प्रकार हम लोग इधर-उधर बैठ गए। मेरे मन में इस बात का संकोच था कि इतने आदमियों के एक साथ आने से कहीं गुरुदेव को विशेष असुविधा न हो। मज़ाक में उन्होंने कहा भी—'अब मेरी क्षमता दरबार लगाने की नहीं रही। इस मिट्टी के मकान में जगह की भी कमी है।'

श्री चन्द्रगुप्त जी तथा अन्य सज्जनों का गुरुदेव से परिचय कराया गया। तत्पश्चात् मैंने कहा—"आज रात को चन्द्रगुप्त जी हिन्दी में कहानी-कला के विषय में जो भाषण देने वाले हैं, उसकी प्रति मैं प्रातःकाल आपकी सेवा में भेंट कर गया था। उससे आपको पता लग जायगा कि आजकल हिन्दी में कहानी-साहित्य का विकास बड़ी तेज़ी से हो रहा है। इस क्षत्रमें कम-से-कम ६० कहानी-लेखक हैं, और आधे दर्जन तो ऐसे अच्छे कलाकार हैं कि वे किसी भी साहित्य के लिए गौरव का कारण हो सकते हैं।'

कवीन्द्र—"हां, मैंने सुना है कि कहानी लिखने का रिवाज हिन्दी में खूब चल पड़ा है। अब से ५० बरस पहले जब मैंने कहानियां लिखना शुरू किया था, तो इस क्षेत्र में एक ही आध आदमी था।"

श्रीयुत सुदर्शन—"आपकी सबसे प्रथम कहानी कौन-सी थी?"

कवीन्द्र—"मुझे यह तो ठीक-ठीक याद नहीं रहा। 'गल्पगुच्छ' प्रथम भाग की कहानियों म से कोई रही होगी।"

श्रीयुत सुदर्शन—"कृपा कर अपनी गल्पों के प्रारम्भ के विषय में कुछ बतलाइए। उनकी रचना आपने कैसे और किस आधार पर की थी।"

कवीन्द्र—'जब मैंने गल्प लिखना प्रारम्भ किया, उन दिनों मैं बिलकुल नवयुवक ही था। ज़मींदार होने के कारण मुझे अपने ग्रामों में जाना पड़ता था, और इस प्रकार ग्रामीण जनता से मेरा संसर्ग हो गया और मैं उनके सीधे-सादे जीवनक्रम से परिचित हो गया। बंगाल के ग्रामों के प्राकृतिक सौन्दर्य को मैंने भलीभांति देखा और उसकी नदियों से घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया। बंगाल की नदियों की प्रणाली वास्तव में इस प्रान्त का सर्वोत्तम भाग है, और उसने मुझे मुग्ध कर लिया। साधारण जनता के जीवन की जो झांकी मुझे इन ग्रामों में मिली, वह भी मेरे लिए बड़ी आकर्षक सिद्ध हुई। चूंकि मेरा जन्म कलकत्ते में हुआ था और मेरा पालन-पोषण भी वहीं हुआ था, इसलिए ग्राम्य जीवन से मैं अपरिचित था, और वह मेरे लिए कुछ रहस्यमय भी था। ज्यों-ज्यों मैं ग्रामीण लोगों के निकट संसर्ग में आता गया, मेरा हृदय उनकी ओर अधिकाधिक आकर्षित होता गया। उस समय वे मुझे एक दूसरी ही दुनिया के आदमी दीखते थे—एक ऐसी दुनिया के, जो कलकत्ते से बिलकुल निराली थी। मेरी प्रारम्भिक कहानियों में उस ग्रामीण जीवन के संसर्ग का ही वर्णन है। इन कहानियों में यौवन की

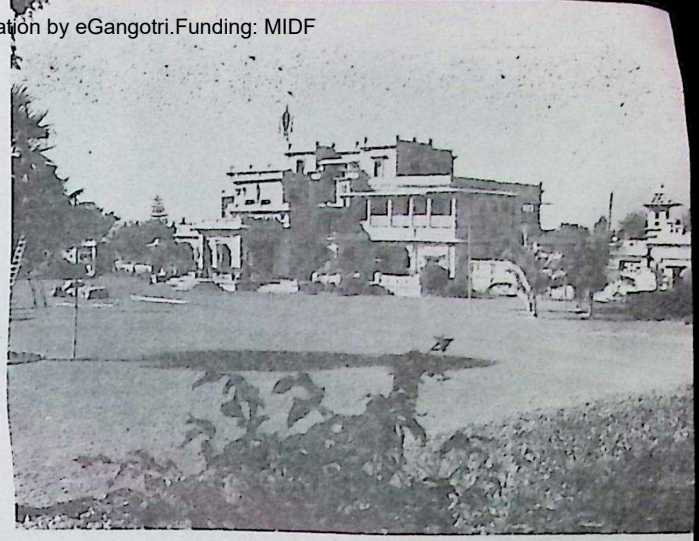

गुरुदेव का निवास स्थान उत्तरायण

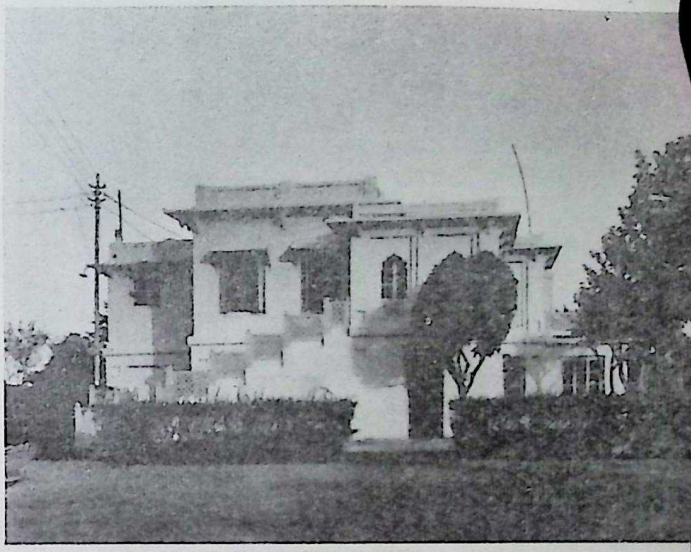

पुनर्नवा'

'स्यामली'

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

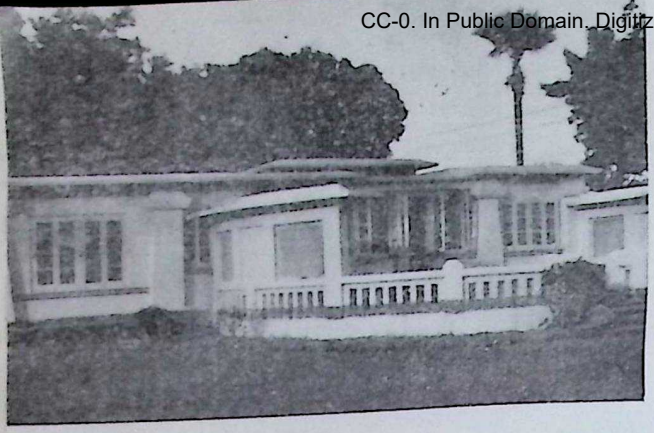

'पुनश्च'

शान्तिनिकेतन का एक दृश्य

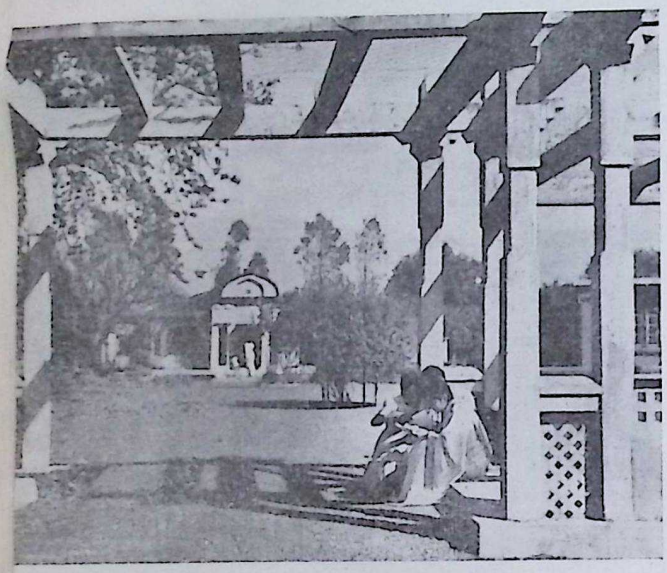

वह स्थान जहां शान्तिनिकेतन की नींव डाली गई

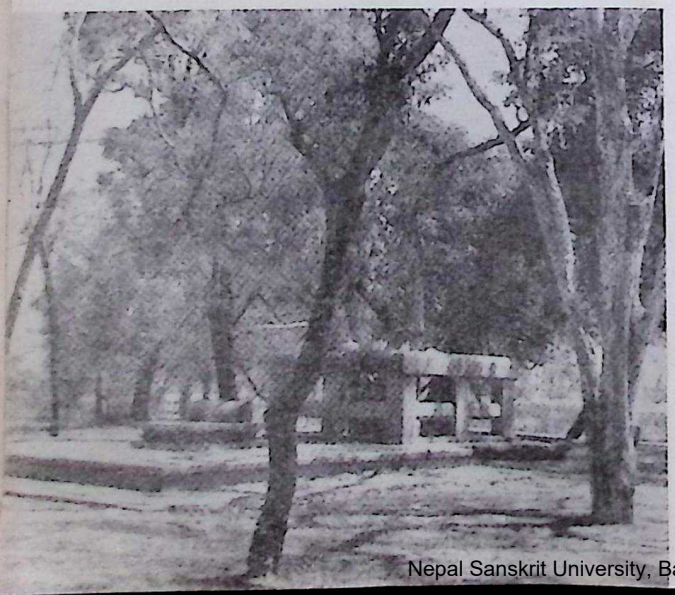

ताज़गी है। मेरी इन कहानियों के पहले इस तरह की कोई चीज़ बंगला-भाषा में नहीं थी। निस्सन्देह बंकिमचन्द्र ने कुछ कहानियां लिखी थीं, लेकिन वे रोमाण्टिक ढंग की थीं। मेरी कहानियों में ग्रामीण जनता की मनोवृत्ति के दर्शन होते थे। उनके चारों ओर ग्रामीण वायुमण्डल था। इसलिए जब मैं इन कहानियों को फिर से पढ़ने के लिए बैठता हूं (इनमें से कितनी ही तो मैं भूल गया हूं। मेरी स्मरण शक्ति ऐसी खराब है कि कभी-कभी यह भी भूल जाता हूं कि कल मैंने क्या लिखा था।) तो ये कहानियां मेरे लिए भी बिलकुल नई-सी प्रतीत होती हैं। इन कहानियों से मेरी आंखों के सामने एक बार फिर ग्रामीण जीवन का वह मनोहर वायुमण्डल घूम जाता है। मेरी प्रारम्भिक कहानियों में कुछ चीज़ ऐसी है, जो संसार के किसी भी देश के आदमी को रुच सकती है, क्योंकि मनुष्य-स्वभाव तो दुनिया में हर जगह एक-सा ही है। मेरी पिछली कहानियों में वह ताज़गी, वह कोमलता नहीं है।"

श्रीयुत सुदर्शन—"क्या आपने अपनी कहानियों के कुछ चरित्र जीवित स्त्री-पुरुषों से भी लिए थे?"

कवीन्द्र—"हां, कुछ चरित्रों के लिए मुझे जीवित व्यक्तियों से प्रेरणा अवश्य मिली थी। उदाहरण के लिए, मेरी 'छुट्टी' नामक कहानी लीजिए। उसमें जिस लड़के का जिक्र है, वैसा एक लड़का मैंने ग्राम में देखा था। फिर मैंने कल्पना की कि यदि इस प्रकार के प्रेमी तथा कोमल स्वभाव के लड़के को सहानुभूतिविहीन भाई के पास कलकत्ते में रहना पड़े, तो इस पर कैसी बीतेगी। कहानी का बैक ग्राउण्ड या भूमिका यही है।"

श्री चन्द्रगुप्त—"आप अपनी कहानियों में सर्वोत्तम किसे समझतेहैं?"

कवीन्द्र ने हंसकर कहा—"मैं इसका निर्णय नहीं कर सकता। तरह-तरह की कहानियां हैं और भिन्न-भिन्न दृष्टियों से लोग उन्हें 'सर्वोत्तम' कह सकते हैं।"

इसके बाद कवीन्द्र ने अपनी युवावस्था के उन मनोहर दिनों का वर्णन, जब कि वे नदी में नौका पर निवास करते थे, इतने आकर्षक ढंग से किया कि हम लोग मन्त्रमुग्ध-से रह गए। उन्होंने कहा—"एक दूसरी कहानी के लिए भी मुझे ग्रामीण जीवन से मसाला मिला था। इस कहानी में जैसी लड़की का जिक्र किया गया है, वैसी लड़की मैंने ग्राम में देखी थी। वह बिल्कुल उद्दण्ड प्रकृति की और असाधारण लड़की थी। उसकी स्वाधीनता पर नियन्त्रण करने वाला कोई नहीं था। नित्य प्रति वह मुझे दूर से देखा करती थी, और कभी-कभी वह अपने साथ एक बच्चे को लाया करती थी और मेरी ओर उंगली का इशारा करते हुए वह मुझे, उस बच्चे को दिखलाया करती थी। इसी प्रकार वह बहुत दिनों तक हर रोज़ आती रही। एक दिन वह नहीं आई। उस दिन मैंने कुछ ग्रामीण स्त्रियों को, जो नदी से पानी भरने के लिए आई थीं, आपस में बातचीत करते सुना। वे स्त्रियां कह रही थीं—'लड़की बड़ी उद्दण्ड है। उसे बिलकुल सलीका नहीं। ससुराल में उस पर कैसे बीतेगी?' दूसरे दिन मैंने देखा कि नदी में एक छोटी-सी नाव पड़ी हुई है। ज़बरदस्ती उस लड़की को नाव पर बिठलाया गया। सम्पूर्ण दृश्य बड़ा करुणाजनक था। लड़की की एक सहेली छिपकर आंसू बहा रही थी और कई सहेलियां उसे ढाढ़स बंधा रही थीं। थोड़ी देर में नाव चल दी और आंखों से ओझल हो गई। मेरी 'समाप्ति' नामक कहानी की भूमिका यहीं से मिली थी।

"फिर वहां एक पोस्टमास्टर थे। वे मेरे पास आया करते थे। उन्हें घर छोड़े बहुत दिन हो गए थे, इसलिए वे वापस जाने को बहुत उत्कंठित

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

थे। उन्हें अपने चारों ओर का वातावरण पसन्द नहीं था, और वे समझते थे कि उन्हें मजबूरन जंगलियों में रहना पड़ रहा है। छुट्टी लेने की उनकी इच्छा इतनी बलवती हो उठी कि वे नौकरी से इस्तीफा देने की बात भी सोचते थे। वे मुझे ग्रामीण जीवन की घटनाएं बतलाया करते थे। इस प्रकार उनसे मुझे अपनी 'पोस्टमास्टर' शीर्षक कहानी के एक पात्र का मसाला मिला था।"

मैंने पूछा—'काबुलीवाला' का विचार कैसे आया? 'काबुलीवाला' एक ऐसी कहानी है, जिसकी अपील सार्वभौमिक है। हमारी तरफ़ वह बहुत लोकप्रिय है।"

कवि—"वह कहानी कल्पना की सृष्टि है। एक काबुली था ज़रूर। वह हमारे यहां आता था, और हम सब उससे बहुत परिचित हो गए थे। मैंने सोचा कि उसके भी एक छोटी लड़की होगी, जिसे वह अपनी मातृ-भूमि में छोड़ आया होगा और जिसकी वह याद किया करता होगा।"

मैंने कहा—"मुझे 'काबुलीवाला' का वह भाग विशेष मनोरंजक मालूम होता है, जहां वह कहता है कि मैं ससुराल जाता हूं।"

कवि—"हमारी तरफ लोग अकसर जेलखाने को 'श्वसुरवाड़ी' कहा करते हैं। क्या आपकी तरफ भी ऐसा ही कहा जाता है?"

हमारे दल में से किसी ने उत्तर दिया—"जी हां, लोग अब जेल को ससुराल कहा करते हैं।" इस पर सब-के-सब हंस पड़े।

चन्द्रगुप्त जी ने पूछा—"आपने अपनी बाद की कहानियों में एक नई शैली ग्रहण की है। स्वयं आपको अपनी आरम्भिक कहानियां अब कैसी लगती हैं?"

कवीन्द्र ने उत्तर दिया—"मेरी बाद की कहानियों में पहले जैसी ताज़गी नहीं है, यद्यपि उनका मनोवैज्ञानिक मूल्य अधिक है और उनमें समस्याओं के समाधान की चेष्टा भी की गई है। सौभाग्य से जब मैं बिल्कुल युवक था, तब मेरे दिमाग के सामने किसी तरह की राजनैतिक समस्याएं नहीं थीं। अब तो तरह-तरह की अनेकों समस्याएं हैं, जो कहानी लिखते समय अज्ञात में ही उठ खड़ी होती हैं। मुझ पर चारों तरफ़ के वातावरण का प्रभाव बहुत शीघ्र पड़ता है, इसलिए जब तक मैं एक विशेष प्रकार के वातावरण में न होऊं, तब तक मैं कोई कलापूर्ण चीज़ नहीं पैदा कर सकता। जब मैं युवक था, तब जो कुछ भी मैं देखता था, वह मुझे बड़े शक्तिशाली ढंग से प्रभावित कर देता था, इसलिए मेरी आरम्भिक कहानियों का साहित्यिक मूल्य अधिक है, क्योंकि उनमें स्वतःप्रेरणा है। लेकिन अब बात दूसरी है। मेरी बाद के युग की कहानियों में आवश्यक टेकनीक मौजूद है, लेकिन काश कि मैं एक बार फिर अपने पुराने जीवन में वापस जा सकता। मेरे जीवन में कई अलग-अलग स्तर हैं, मेरी सारी रचनाएं उतने ही युगों में बांटी जा सकती हैं और वे उन युगों की भावनाओं को प्रकट करती हैं। हम सब के इसी एक जीवन में ही कई अवतार हो जाते हैं। हम एक जीवन में भी बारम्बार जन्म लेते हैं। जब हम इसी जीवन के एक युग को समाप्त कर दूसरे में प्रवेश करते हैं, तो ऐसा जान पड़ता है, मानो हमारा नया जन्म हुआ हो। यही हाल हमारे साहित्यिक जीवन का भी है।

"मेरी बात तो यह है कि मेरे जीवन के इन युगों में इतना बड़ा अन्तर है, कि मैं अपने साहित्यिक पूर्व जन्मों की बात तक भूल जाता हूं। पिछली बार जब मैं अपनी प्रारम्भिक कहानियों के प्रूफ़ पढ़ रहा था, तब स्वयं मुझे उनमें एक ताज़गी जान पड़ती थी। ऐसा मालूम होता था, मानो वे किसी छायामय अतीत से निकल कर आ रही हों। उनमें कुछ अस्पष्टता थी और उनसे मुझे अपने आरम्भिक जीवन की याद आ गई, वैसे ही, जैसे दिल्ली की लड़की अपने बीते हुए जीवन की याद करती है।"

प्रत्यक्षतः कवीन्द्र का आशय दिल्ली की शान्तिदेवी से था, जिसकी कहानी समाचारपत्रों में निकल चुकी थी।

प्रसंगवश कवीन्द्र ने हमारे दल को बतलाया कि अपनी 'चार-अध्याय' नामक पुस्तक में जो कथनोपकथन उन्होंने दिए हैं, संयोग से ठीक वैसी ही बातें हुई भी हैं, जैसा कि क्रान्तिकारियों की डायरियों से ज्ञात हुआ है। कवि ने कहा—"वे सब केवल कल्पना की उपज हैं। मैंने यही कल्पना की कि उन परिस्थितियों में वे लोग कैसी बातें करते होंगे। विचार और आदर्श हवा में मौजूद हैं, और हमारे दिमाग बिलकुल रेडियो के सेट की भांति हैं कवि के दिमाग का सेट औरों की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होता है, इसलिए वह उन्हें आसानी से ग्रहण कर लेता है और वह तैरते हुए भावों को सफलतापूर्वक चित्रित भी कर सकता है।"

अब बातचीत हिन्दी-कहानियों की ओर चली। मैंने कहा—"दुर्भाग्यवश हिन्दी-कहानियों का बंगला में अनुवाद नहीं हुआ। मि० एण्ड्रूज़ ने वायदा किया है कि वे प्रेमचन्द जी की कहानियों के अंग्रेज़ी अनुवाद का सम्पादन कर देंगे, लेकिन प्रेमचन्द जी बड़े शरमीले हैं। मैंने कई बार उन्हें आपके आश्रम में लाने का प्रयत्न किया, पर सफल न हो सका।"

कवीन्द्र ने मसकराते हुए कहा—"यह न भूलिएगा कि स्वभाव से मैं भी बहुत शरमीला हूं। यद्यपि मैं सारी दुनिया घूम आया हूं।"

श्रीयुत चन्द्रगुप्त ने कहा कि अंग्रेज़ी में एक ऐसी पुस्तक होनी चाहिए जिसमें हिन्दी के प्रधान गल्प-लेखकों की कृतियों का चयन हो। कवीन्द्र ने इस विचार को पसन्द किया और कहा—"हम लोग एक-दूसरे को मुश्किल से जानते हैं। हम एक दूसरे की मनोवृत्ति को नहीं पहचानते। हम एक दूसरे के घनिष्ट सम्पर्क में नहीं आते। हम लोगों में सचमुच ही पार्थक्य हो गया है। यही अज्ञान दुष्भावना पैदा करता है और यही उस प्रांतीयता की बुनियाद है, जो आजकल चारों ओर फैली नजर आती है। प्रांतीयता का यह भाव मूर्खतापूर्ण और शरारत से भरा है। जैसा कि मैंने कहा है, इसका मूल है लोगों का एक दूसरे के बारे में अज्ञान। हम आप लोगों को नहीं जानते, हमारे लिए मानो आप विदेशी हों और आप के लिए हम। हमें एक दूसरे से परिचित होना चाहिए। यह कार्य एक दूसरे का साहित्य पढ़ कर ही हो सकता है।"

कवि कहते गए—"खेद है कि मैं आप लोगों की सुन्दर भाषा नहीं जानता। लड़कपन में मुझे हिन्दी पढ़ने का मौका नहीं मिला। दुर्भाग्यवश मेरे मित्र बनारसीदास उस समय पैदा ही नहीं हुए थे, जब मेरा जन्म हुआ था।"

गुरु देव ने इतना विविध और इतना अधिक लिखा है, यह याद दिलाने पर उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"मुझे स्वयं अपनी रचनाओं का विस्तार देख कर लज्जा होती है। मैंने सात वर्ष की उम्र में लिखना शुरू किया था, और अब तक लिखता जाता हूं, जब छियत्तर का हो चुका हूं।"

(शेष पृष्ठ ४८ पर)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अनेक प्रश्न : एक उत्तर

ब्रजकिशोर 'नारायण'

जीवन-पीयूष को
कविता के चषक में
प्रथम बार किसन उड़ेला था ?
और पिलाया था मूर्च्छित मानवता को ?
किस की मनीषा से मृत मानवीयता जीवित हुई ?
किस की वर्चस्विता से साधारणता संस्कृत हुई ?
कौन थी वह ऊर्जस्विता जिससे सभ्यता सन्तुलित हुई ?
सत्य और शिव बना सुन्दर हो वाङ्मय
दिव्य और प्रांजल हुआ सृष्टि का दृश्य रूप ।
मनन और चिन्तन में
स्थूलता और सूक्ष्मता में
भौतिकता और आध्यात्मिकता में
ग्राम और नगर में
शैशव और वार्धक्य में
राजधानी और गुफा में
किसने विकीर्ण की
अपनी एक समान अक्षर आभा ?
ऐसे-ऐसे प्रश्न अनेक हैं
किन्तु उत्तर केवल एक है—
कि यदि विश्वकवि रवीन्द्र अवतरित नहीं होता
भारत माता के क्रोड़ में—
अपनी कलात्मक किलकारियां भरने को
तो नौका भी नहीं मिलती हमें
अनन्त साहित्य-सिन्धु को तरने को ! ! !

रवीन्द्रनाथ के प्रति

उदयशंकर भट्ट

हे प्राणों के अक्षर गायक, सूत्रधार मन के ?
प्रकृति पक्षियों के कलरव, रस स्रष्टा जीवन के;
तुमने पुष्पों की गाथाएं, शशि के हास पढ़े;
मेघों के पथवाही रथ से तारक शिखर चढ़े;
धरती के सौरभ से उड़ते अमर गंध पायी ?
किया अक्षरों के स्वप्नों को छवि का अनुयायी;
अमृत वसंत सुरभि से भीगे, अंतर्जल न्हाए,
कष्ट श्वास से निकले विषधर अमृत कुंभ लाए;
मृतः प्राय आस्था को तुमने जीवन गीत दिए,
वर्तमान में आगत के उज्ज्वल तट पीत सिए;
वाणी की वीणा से निकले नव संवादी स्वर,
बने जगत के प्राण वृक्ष के अक्षय कुसुमाकर;
स्मरण कराते हैं सब मुझ को कालिदास का कल,
गीतों के रस मेघ न्हिलाते युग का अंतस्तल;
अमर भगीरथ बन तुम लाए काव्य जान्हवी जल,
बुझा रहे जलते जीवन की आग राग बादल,

× × ×

तुम्हें प्रणाम चराचर का हे साक्षी, युग आलोक ?
अर्पित तुम्हें विश्व के कवि को, वाल्मीकि का शोक ।

रवीन्द्र-वन्दना

प्रभाकर माचवे

(स्वर्ग । महाकवियों का उद्यान मनोहर ।)
प्रतिभा पूछ रही : क्या रहस्य यश का ? बतलाओ अपना गुर ।
श्री वाल्मीकि : नहीं मेरा कुछ, सब राघव का लाघव ।
शब्दों के अभाव में शेक्स्पीयर थे नीरव ।
तुलसी : 'स्वान्तः सुखाय' । रूमी, उमर : 'भरा हो मैं का कूज़ा' ।
मिल्टन, होमर, सूर—किसी को कुछ ना सूझा ।
ग़ालिब ने यों कहा—इल्म से नहीं शायरी आती
और भारती ने हाथी के आगे रख दी अपनी पूजा ।
मीरा बोली—'मैं तो कहूं न आती-जाती ।'
मिनमिन कुछ बोले फिर पुश्किन । गरजे ट्विट्मन ।
डान्टे, गोएटे व्याख्याओं में उलझे दारुण ।
रिल्के ने उदास मुस्काकर निज बेबसी जता दी ।
रवीन्द्र (सौम्य, विनत स्वर) : छोटी मेरी गाथा,—
मैंने मानवता से केवल प्यार किया था ।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

शान्तिनिकेतन की प्रारम्भिक नाट्य-स्मृतियां

सुधीरंजन दास

शान्तिनिकेतन आश्रम के विद्यार्थी किसी-न-किसी नाटक अथवा प्रहसन का अभिनय करते ही रहते थे। दृश्यपट का कोई झंझट नहीं था। आश्रम के 'नाट्य-घर' के पूरबी किनारे का ऊँचा फर्श ही हम लोगों का रंगमंच था। वहाँ दोनों ओर वृक्षों की डालियों में पत्ते बाँधकर तथा अपने नाना रंगों के परिधेय रेशमी वस्त्र टाँगकर अति सुन्दर, सुरुचि-पूर्ण रंगमंच बिना किसी ख़र्च के बन जाता था। किसी समय पुस्तकालय की एक मंजिली इमारत पर फूंस का छप्पर डालकर उसे दुमंजिला बनाया गया था। हममें से कतिपय बड़े लड़के वहीं रहते थे और हमारे साथ ही रहते एक अध्यापक।

उस दुमंजिले कमरे में गिरिजा भी रहते थे। काव्य-जगत् में प्रतिष्ठा पाने की आशा जब प्रायः न रही तो गिरिजा ने सोचा—चित्रकारों का दर्जा कवियों से ऊँचा होता है। उनका हाथ चित्र आँकने लायक कुछ तो जरूर था। अतः गिरिजा ने निश्चय किया, हमारे रंगमंच के लिए एक यवनिका-पट निहायत जरूरी है। तुरत ही वे एक बड़े पट को चित्रित करने में लग गए। बड़ी गवेषणा के बाद गिरिजा ने कहा कि एक साँप को उमेठकर यदि 'ओऽम्' के आकार में खड़ा किया जा सके तो वह देखने में जिस प्रकार मनोरम होगा उसका भावार्थ भी उतना ही गम्भीर होगा। किन्तु साँप खुद-ब-खुद तो बल खाकर खड़ा नहीं रह सकता—किसी-न-किसी तरह का कोई सहारा लेकर ही साधारणतः साँप बल खाता है। तब मैं समझ गया कि गिरिजा ने कहीं पर श्रीकृष्ण को घेरे हुए ओंकार के आकार में साँप का चित्र देखा है। बहुत सोच-विचार के बाद तय हुआ कि एक मृणाल लगाकर उस पर साँप का चित्र आँक देने से काम चल जाएगा। गिरिजा अपनी तूलिका और रंग लेकर काम में लग गए। विशुदा की आपत्ति के बावजूद वे रोज रात को बत्ती जलाकर चित्र बनाते। विद्यालय के अन्य विद्यार्थी इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते थे। तदुपरान्त एक दिन जाने किस अभिनय के समय वह चित्रपट लटकाया गया। छोटे-छोटे बच्चे चमक-दमक और गन्ध के कारण खूब खुश थे। किन्तु अध्यापक महोदयों ने अपनी अलग-अलग जो सम्मतियाँ व्यक्त कीं वे सब लोगों को न्यौत-न्यौतकर सुनाने लायक नहीं थीं। गिरिजा भाई का चित्रकला का प्रयास यहीं समाप्त हो गया। फिर से उन्होंने कविता लिखना प्रारम्भ किया था या नहीं इसका आश्रम के इतिहास में कोई प्रमाण नहीं मिलता।

'बागान' बाड़ि के हमारे मुकुल दे को उन दिनों चित्रकार के रूप में कुछ-कुछ ख्याति मिलने लगी थी। उनकी मासिक पत्रिका 'बागान' चित्र-सम्पदा में बड़े छात्रों की मासिक पत्रिका 'शान्ति' से बहुत ऊपर उठ गई थी। 'शान्ति' को हराकर 'बागान' के कला-सम्पादक मुकुल दे ने तय किया कि इस बार दुमंजिले कमरेवाले लड़कों का दम्भ चूर्ण करना बहुत आवश्यक है। एक-दूसरे से होते हुए यह खबर मिली कि मुकुल ने न जाने क्या कुछ शुरू कर दिया है। रोज रात को वे क्या करते हैं, 'बागान' के लड़के किसी को कुछ नहीं बताएंगे। आखिर एक और नाटक का अवसर आया। सभी दर्शक उपस्थित थे। बहुत-से दर्शक कलकत्ता से भी आए थे। हम सब बड़े लड़के गुट बनाकर एक जगह बैठ गए। हमारे चेहरे के भाव से यह साफ झलक रहा था कि हम लोगों ने यह मान ही लिया है—इस बार मुकुल की भी गिरिजा जैसी ही दशा होगी। धीरे-धीरे जब यवनिका उठी तो हमें नन्द बाबू (सुप्रसिद्ध कलाकार नन्दलाल बोस) के विख्यात चित्र नटराज के ताण्डव नृत्य की हूबहू अनुकृति दिखाई दी। एकत्रित विमुग्ध दर्शकों ने साधुवाद दिया। हमने भी मुकुल को बधाई देकर अपने हृदय और चित्त की विशालता को प्रमाणित किया। गुरुदेव ने बहुत प्रसन्न होकर पूछा—'यह किसने बनाया है?' उनको बताया गया यह मुकुल का कृतित्व है। सुना है, इस घटना के बाद ही मुकुल के अभिभावकों के पास गुरुदेव की चिट्ठी पहुंची कि चिरंजीव की लिखने-पढ़ने की अपेक्षा चित्रांकन के क्षेत्र में प्रतिष्ठा पाने की सम्भावना ही अधिक है। शीघ्र ही यह तय हो गया कि मुकुल को चित्रकला सीखने के लिए शिल्प-गुरु अवनीन्द्र-नाथ के पास भेजा जाएगा। कुछ समय तक जोड़ासाँको वाली हवेली में रहते हुए अवनीन्द्रनाथ से शिक्षा प्राप्त करके मुकुलचन्द्र विलायत से 'एचिंग' सीखकर कलकत्ते के गवर्नमेन्ट आर्ट कालेज के स्थायी अध्यक्ष हुए थे। एक बार शान्तिनिकेतन आश्रम में मुकुल के स्टूडियो में बैठे हुए तपन मुकुल और मैं बातचीत कर रहे थे। कुछ ही देर बाद जब मैं उठने की सोच रहा था तभी मुकुल ने दिखाया—जाने किस मौके पर उन्होंने मेरा एक चित्र बना डाला था। उक्त चित्र उन्होंने दो-एक बार मुझे देना भी चाहा। किन्तु उन्होंने जो दाम लगाया वह मेरे जैसे व्यक्ति के लिहाज से कुछ अधिक ही था, इसीलिए वह नहीं लिया जा सका। चित्र अब भी मुकुल की अलबम में है—चित्र का बाजार यदि नरम पड़े तो शायद संग्रह किया जा सकता है बशर्ते कि इस बीच वह मुझे उपहार-स्वरूप न मिल जाए।

सन् १९०८ में विजयादशमी की छुट्टियों के तुरन्त बाद जब म आश्रम में लौटा तब 'शारदोत्सव' हाल ही में प्रकाशित हुआ था। दूसरी बार किंचित् परिवर्तित रूप में इसी नाटक को 'ऋणशोध' नाम दिया गया। प्रकाशित होते-न-होते अभिनय का रिहर्सल आरम्भ हो गया। मैं भी अभिनेताओं के दल में मिल गया। 'शारदोत्सव' के सभी गानों के सुर अत्यन्त सुललित थे। समवेत स्वर में गाए जाने पर बहुत सहज

*भारत के भू० पू० मुख्य न्यायाधीश श्री सुधीरंजन दास आजकल शान्तिनिकेतन के वाइस चान्सलर हैं। सन् १९०८ में वह शान्तिनिकेतन के छात्र थे।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

में जम जाते थे। एक-एक गान मानो एक-एक शेफाली-पुष्प था जो मन को पवित्रता और सौन्दर्य से मुग्ध कर देते थे। उन गानों में एक ऐसी आनन्द लहरी परिव्याप्त थी जिसकी गूंज इस वृद्धावस्था में भी मेरे मन में समाई हुई है। यही तो उस दिन वर्षान्त की एक प्रत्यूष वेला में कालिम्पोङ के पहाड़ों पर अद्भुत सूर्योदय हुआ था। सुनहले आलोक से आकाश भर गया था—मन की मौज में अपने आवास 'स्वप्नपुरी' की बगिया में चहलकदमी कर रहा था, बाहर के प्राकृतिक सौन्दर्य ने मन के गम्भीर अन्तराल में आनन्द का एक कम्पन पैदा कर दिया। अनजाने ही उस झंकार में अतीत का एक स्वर गुनगुना उठा—बुढ़ापे के बेसुरे गले से अकस्मात् गान फूट पड़ा—

'आमार नयन-भुलानो एले,
आमि की हेरिलाम हृदय मेले।'
('मेरे नयनों को भरमानेवाले, तुम आए,
मैंने हृदय को उन्मुक्त कर कैसा (अद्भुत दृश्य) देखा।')

मैंने अपने खोए हुए कैशोर को मानो अपने अन्तर में फिर से पा लिया। अब कहाँ जाएगा—एक-के-बाद एक मैंने 'शारदोत्सव' के सभी गान गा डाले, वे भी शायद कितने गलत स्वर में—किन्तु आनन्द के आवेग से स्वतः उत्सारित। बहुत दिनों बाद अपने अन्तर में निविड़ रूप से उन गानों का उपभोग किया—उस दिन प्रभात में। 'स्वप्नपुरी' के ऊपर की ओर ही है रथीन्द्रनाथ ठाकुर का गृह 'चित्रभानु'। प्रतिमा बहूठाकुरानी (गुरुदेव की पुत्रवधू) उस समय वहीं थीं। शायद हवा उसी तरफ को बह रही थी या शायद वे ऊपर के रास्ते से टहलती हुई जा रही थीं। अगले दिन मिलते ही बोलीं—"क्यों सुधीरंजन, कल तुम गा रहे थे?" मैंने उत्तर दिया—"शरद् के सुनहले आलोक का स्पर्श होने से जाने क्यों गाने की धुन सवार हो गई थी।" बहूठाकुरानी ने हंसकर कहा—"सो तो है ही, किन्तु देखती हूं तुम अभी तक 'शारदोत्सव' पर ही अटके पड़े हो।" बात बड़े पते की थी। मेरे जीवन में किशोरावस्था के 'शारदोत्सव' की गूंज आज भी मिटी नहीं है। गुरु-ऋण शोध न कर पाने की वेदना उपनन्द ('शारदोत्सव' नाटक का एक पात्र) की भांति मैं भी अपने मन में अनुभव करता हूं।

खैर जाने दीजिए। जैसा कह रहा था, मैं भी नाटकवाले लड़कों के दल में सम्मिलित हो गया। क्षिति बाबू (स्व० आचार्य क्षितिमोहन सेन) तब नए-नए आए थे। वे संन्यासी के वेश में राजा बने। अजित बाबू हुए ठाकुरदादा। जहाँ तक याद पड़ता है जगदानन्द बाबू (भूतपूर्व अध्यापक) लक्षेश्वर की भूमिका में उतरे थे। नरेन खां बने थे उपनन्द। लक्षेश्वर जब हिसाब लिखने की कलम कान में खोंसे हुए दौड़े-दौड़े रंगमंच पर आए तो उनका वह रूप देखकर सभी अभिभूत हो गए। हंसी की हिलोर आ गई जब वे—"इन छोकड़ों ने बहुत जलाया है। अरे चौबे, अरे गिरिधारीलाल, पकड़ तो इन छोकड़ों को पकड़ तो"—कहते हुए हमें पकड़ने का भान करने लगे। वह हंसी क्या सहज में थमने वाली थी। तत्पश्चात् संन्यासी के चेले बनेंगे यह वचन देकर कुछ देर बाद जब लक्षेश्वर लौटकर बोले, "ठाकुर, बहुत सोचकर देखा, मैं न बन पाऊंगा। तुम्हारा चेला बनना मेरे बस का नहीं" तो फिर एक बार हंसी की लहर उमड़ आई। "मैं न बन सकूंगा" इन शब्दों को कहते हुए उनकी जैसी मुखभंगी, जैसा सिर हिलाना और जैसा कण्ठ-स्वर सुना है, उसका वर्णन करना कठिन है। गज-मोती की मंजूषा को छाती से चिपकाए, संन्यासी को प्रणाम करके लक्षेश्वर का रंगमंच से प्रस्थान का दृश्य आज भी भूल नहीं सका हूं। क्षिति बाबू के शान्त, गम्भीर कण्ठ-स्वर ने संन्यासी के सुगभीर वाक्यों को मानो और भी अर्थद्योतक बना दिया था। अति-हीन अभिनय में संवादों ने मानो सजीव होकर हमारे बाल-मन को भी स्पर्श किया था। संन्यासी के गान नैपथ्य से गुरुदेव ने ही गाए थे। उतना ही उत्कृष्ट हुआ था ठाकुरदादा की भूमिका में अजित बाबू का अभिनय। हम बालकों की टोली में से कोई उनका दाँया हाथ पकड़ता था कोई बाँया, और कोई उनके गेरुए वस्त्र और कोई उनकी चादर का छोर खींचता था। और सभी ने मिलकर ताली बजाते हुए उनके चारों ओर नाच-नाचकर गाया था 'आज आमादेर छुटि रे भाइ, आज आमादेर छुटि।' गान के स्वरों में मानो मुक्ता झर रहे थे। अभिनय देखकर सभी प्रसन्न हुए। आश्रम-बालकों के गाने की ख्याति एक-दूसरे से होते हुए शीघ्र ही फैल गई। अगले वर्ष फिर 'शारदोत्सव' का अभिनय हुआ। इस बार तपनमोहन ने लक्षेश्वर का ऐसा निर्दोष रूप प्रस्फुटित किया कि उससे उनके अभिनय की ख्याति सौ गुनी बढ़ गई।

अब तनिक 'विसर्जन' के अभिनय की चर्चा कर ली जाए। भोला बने महाराज गोविन्दमाणिक्य, नरेनखाँ ने रानी गुणवती का रूप धरा, रघुपति की भूमिका पटलदादा ने की एवं नक्षत्र राय बने सोमेन्द्र। मनोरंजनदा ने जयसिंह का वेश धारण किया और मैं अपर्णा बना। मेरा लड़की की भूमिका में अभिनय करने का श्रीगणेश यहीं से हुआ। मेरे समान काले-कलूटे लड़के का अपर्णा बनना आम परिहास का विषय जान पड़ता है, किन्तु बात ऐसी नहीं थी। क्योंकि नरेनखाँ जो रानी गुणवती बने थे उनकी कालिमा मेरी अपेक्षा कुछ अधिक ही थी, कम नहीं। इसके अतिरिक्त उन दिनों एक तरह का पिसा हुआ जिंक पाउडर प्रचलित था। उसकी एक तह चढ़ते ही कामचलाऊ गोरा कौन नहीं हो जाता था। स्वयं गुरुदेव ने हम लोगों को पाउडर लगाकर वेशभूषा पहनाई थी। बाद में लोगों के मुंह से सुना हमारा साज-सिंगार बहुत-ही स्वाभाविक हुआ था। पहले की भांति इस बार भी गुरुदेव ने हमें अभिनय करना सिखाया था। जब तक हमारे पाठ करने का ढंग, हाथ-पैर हिलाना और चलना-फिरना उनके मन के माफिक न होता तब तक वे किसी तरह छोड़ते नहीं थे। एवं उनके मन-माफिक होने पर अभिनय अपूर्व होगा ही इस विषय में सन्देह की तनिक भी गुंजाइश नहीं थी। प्रथम दृश्य में दर्शकों की ओर प्रायः पीठ फेरकर, मन्दिर की देव-प्रतिमा के सामने सिर पटकते 'मार काछे की करेछि दोष' बोलते हुए गुणवती ने जब अभिनय आरम्भ किया तो क्षणभर में दर्शकगण इस प्रकार निस्तब्ध हो गए कि सुई के गिरने की आवाज भी सुनी जा सकती थी। समाप्ति से कुछ पहले—

'मा गो महामाया, ए की तोर अविचार!
एत सृष्टि, एत खेलातोर—खेलाच्छले
दे आमारे एकटि सन्तान—दे जननी,
शुधु एइटुकु शिशु, कोलटुकु भरे
याय याहे।'
('अरी मा महामाया, तेरा यह कैसा अन्याय!
इतनी सृष्टि, इतना खेल—खेल के मिस
दे मुझे एक सन्तान—दे जननी,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

शान्तिनिकेतन में चित्रांगदा का अभिनय : दाहिनी ओर गुरुदेव

इतना-सा शिशु केवल, गोद मात्र
भर जाए जिससे ।')

इन कुछ-एक पदों के द्वारा नरेन खाँ अति सुन्दर और स्वाभाविक रूप से निःसन्तान रमणी-हृदय के कातर क्रन्दन को अभिव्यक्त कर सके थे । भोला के गम्भीर कण्ठ से अपूर्व जान पड़ीं ये पंक्तियाँ :--

'दया एल दीनवेशे मन्दिरेर द्वारे,
अश्रुजले मुछे दिते कलंकेर दाग
मार सिंहासन हते--सेइ अपराधे
माता चले गेल रोपभरे, एइ तोरा
करिलि विचार ?'
('दया आई दीनवेश में मन्दिर के द्वार,
अश्रुजल से पोंछने कलंक का दाग
मा के सिंहासन से--इसी अपराध से
चली गई मा रोप में भर,
क्या तुमने यही किया न्याय ?')

जयसिंह की भूमिका में मनोरंजनदा का वेदनापूर्ण कण्ठ-स्वर आज भी कानों में गूंज रहा है :--

'प्रेम मिथ्या,
स्नेह मिथ्या, दया मिथ्या, मिथ्या आर-सब,
सत्य शुधु अनादि अनन्त हिंसा ! तबे
केन मेघ हते झरे आशीर्वादसम
वृष्टिधारा दग्ध धरणीर वक्ष--परे
गले आसे पाषाण हइते दयामयी
स्रोतस्विनी मरुमाझे--कोटि कण्टकेर
शिरोभागे केन फुल ओठे विकशिया ?'
('प्रेम मिथ्या,
स्नेह मिथ्या, दया मिथ्या, मिथ्या और सब,
सत्य केवल अनादि अनन्त हिंसा! फिर
झरती क्यों मेघ से आशीर्वाद-सम
वृष्टि-धारा दग्ध धरणी के वक्ष पर,
पाषाणों से गलकर आती दयामयी
स्रोतस्विनी मरु बीच--कोटि कण्टकों के
शिरोभाग पर क्यों विकसित हो उठते फूल ?')

इन पंक्तियों के पाठ की तुलना नहीं की जा सकती । उसी प्रकार

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रघुपति की भूमिका में पटलदादा का अभिनय अच्छा हुआ था। पंचम अंक के दृश्य से आरम्भ कर नाटक के अंत तक रघुपति के बोल उन्होंने हृदय के आवेगपूर्ण स्वर में बोले थे। 'फिरे दे, फिरे दे, फिरे दे, फिरे दे,' कहकर जब पटलदादा फूट-फूटकर रो उठे थे तो बहुत-से दर्शक रोमांचित हो गए थे। सोमेन्द्र का अभिनय देखकर सभी पुलकित हो गए थे। जब--

'दुइ काने येन
बासा करियाछे दुइ टिये पाखि, एक
बुलि जाने शुधु--राजा हबे ? राजा हबे ?'
('मानो दोनों कानों में
बनाया है नीड़ दो शुक पाखियों ने,
एक ही बात रटते रहते केवल--
राजा होगे, राजा होगे ?')

कहते-कहते कानों पर हाथ रखने के बजाय अंगुली से उन्होंने दोनों आँखें प्रायः ढक ली थीं, तब तो दर्शक-समाज में हंसी की लहर दौड़ गई। किन्तु उससे अभिनय को रंचमात्र भी क्षति नहीं पहुंची थी। क्योंकि अबोध नक्षत्र राय से दर्शकों को यही आशा थी, इस प्रकार के उत्कृष्ट अंग-संचालन की किसी ने प्रत्याशा ही नहीं की थी। मुझे ज्ञात हुआ अपर्णा का अभिनय भी नैपुण्य और सुश्रृंखलित रूप से हुआ था। प्रथम दृश्य में, 'दरिद्र ए बालिकार स्नेहेर पुत्तलि' छाग-शिशु के वियोग में कातर अपर्णा की उक्ति--

'एइ-ये सोपान बेये रक्तचिन्ह देखि
ए कि तारि रक्त ? ओरे बाछनि आमार !
मरि मरि, मोरे डेके केंदेछिल कत,
चेयेछिल चारि दिके व्याकुल नयने
कम्पित कातर वक्षे--मोर प्राण केन
येथा छिल सेथा हते छुटिया एल ना ?'
('सीढ़ियों पर से होते हुए दीखते ये जो रक्तचिन्ह
यह क्या उसी का रक्त ? अरे मेरे छौना !
बलि-बलि जाऊं,
जाने कितना रोया मुझे पुकार-पुकार,
ताकता था चारों ओर व्याकुल नयन,
कम्पित कातर हृदय से--
क्यों न दौड़े आए वहाँ से
जहाँ थे मेरे प्राण ?')

तृतीय दृश्य में व्यथित अपर्णा का गान--

'आमि एकला चलेछि ए भवे,
आमाय पथेर सन्धान के कवे ?'
('मैं चल रही अकेली इस जग में,
कौन देगा मुझे पथ का सन्धान ?')

एवं जयसिंह का--

'जान कि एकेला कारे बले ?'
('जानती हो, किसको कहते एकाकी ?')

इस प्रश्न के उत्तर में अपर्णा का कथन--

'जानि। यबे बसे आछि भरा मने--
दिते चाइ, निते केह नाइ।'
('जानती हूँ,
बैठी हूँ जब भरे मन से--
चाहती देना, लेनेवाला कोई नहीं।')

ने बहुत-से दर्शकों के मन को छू लिया था। ऐसा सुना गया था, सम्पूर्ण नाटक का अभिनय सर्वांग सुन्दर हुआ था। इस कारण बहुतों ने आनन्द प्रकट किया।

सन् १९०९ की सर्दियों (माघ मास) में रथीदा का विवाह अवनीन्द्र-नाथ ठाकुर की भांजी प्रतिमादेवी से हुआ। विवाह के तत्काल बाद ही वर-वधू शान्तिनिकेतन आने वाले थे। रथीदा गुरुदेव के ज्येष्ठ पुत्र और ब्रह्मचर्याश्रम के प्रथम छात्र हैं। अतएव उनका और उनकी सहधर्मिणी की यथोचित अभ्यर्थना का कुछ आयोजन करना आवश्यक था। निर्णय हुआ कि गौरदा, प्रमुख खिलाड़ी एवं पहलवान छात्र व्यायाम-प्रदर्शन करेंगे तथा अन्य छात्र 'मालिनी' नाटक का अभिनय करेंगे। तत्काल तैयारियां शुरू हो गईं। गौरदा, वीरेन, हरगोविन्द, गोविन्द प्रभृति शारीरिक कसरतों का अभ्यास करने में जुट गए तथा हम लोग लग गए अभिनय का रिहर्सल करने में। मनोरंजनदादा बने सुप्रिय, भोला ने क्षेमंकर का रूप धारण किया। उस समय तक लड़की की भूमिका में अभिनय करने की मेरी और नरेन खाँ की थोड़ी-बहुत ख्याति फैल चुकी थी। अतः हम क्रमशः मालिनी और महिषी बने। जिस दिन रथीदा और प्रतिमा बहूठाकुरानी शान्तिनिकेतन पहुंचे उस दिन अपराह्न में व्यायाम-प्रदर्शन किया गया। युयुत्सु के जाने कितने प्रकार के दाँव-पेच दिखाए गए। जब गौरदा की छाती पर से बैलगाड़ी का पहिया उतरा तो आनन्द-उल्लास की एक लहर आ गई। इसके सामने राममूर्ति के खेल भला कहाँ ठहर पाते। सन्ध्या समय अभिनय हुआ। आरम्भ से ही दर्शक शान्त बैठे थे। मालिनी के कम्पित कण्ठ से निकले हुए--

'भगवन्, रुद्ध आमि, नाहि हेरि चोखे;
सन्ध्याय मुद्रितदल पद्मेर कोरके
आबद्ध भ्रमरी--स्वर्णरेणुराशिमाझे
मृत जड़प्राय। तबु काने एसे बाजे
मुक्तिर संगीत, तुमि कृपा कर जबे।'
('भगवन्, बन्दिनी मैं,
देख नहीं पाती निज नयनों से,
साँझ को दल मुंदे
पद्म के कोरक में आबद्ध भ्रमरी सम--
स्वर्ण-रेणु-राशि बीच मृत जड़ प्राय।
फिर भी कानों में आ गूंजता मुक्ति-संगीत,
कृपा होती जब तुम्हारी।')

इन पदों के माध्यम से मुक्ति का आह्वान और अपने आपको मिटाकर समर्पित कर देने की व्याकुलता तथा आकांक्षा से दर्शकों का मन भी झंकृत हो उठा, ऐसा मैंने सुना था।

'मा गो मा, की करि तोरे लये ! ओरे बाछा,
ए-सब कि साजे तोरे कभु, एइ काँचा
नवीन वयसे ?'
('बिटिया, बिटिया मेरी, क्या करूँ लेकर तुझे
री छौना, यह सब क्या साजे तुझे,
इस वय वाली में ?')

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कहते-कहते जब महिषी ने द्रुतपगों से रंगमंच पर प्रवेश कर मालिनी को बांहों में जकड़ लिया, तब कौन कह सकता था कि महिषी के वेश में तीसरी कक्षा का हमारा नरेन खाँ है। अत्यन्त स्वाभाविक जनाने स्वर में बालिका की ठोड़ी उठाकर नरेन खाँ ने कहा था:--

'मुखे खुले पड़े केश, एकि वेश ! छि मा!
आपनारे एत अनादर ! आय देखि
भालो करे बंधे दिइ। लोके बलिबे की
देखे तोरे ?'
('मुंह पर आ पड़े खुले केश,
छिः बेटी, यह कैसा वेश
अपनी इतनी उपेक्षा !
देखूं तो, भली भांति बाँधू केश।
देख तुझे क्या कहेंगे लोग ?')

और इस सबको परिप्लावित करते हुए क्षेमंकर के कुलिश-कठोर चरित्र की महिमा एवं सुप्रिय के उद्दीप्त हृदय का आवेग उमड़ उठा था। भोला और मनोरंजनदादा के सहज-सरल अभिनय-चातुर्य के कारण नाटक का अंतिम दृश्य तो मानो अतुलनीय गौरव से आलोकित हो उठा था। सुनने में आया रथीदा और प्रतिमा बहूठाकुरानी को 'मालिनी' का अभिनय अच्छा ही लगा था। बाद में तो प्रतिमा बहूठाकुरानी आश्रम के सभी शुभानुष्ठानों से सम्बद्ध रहती थीं। सभी आश्रमवासियों के प्रति उनकी ममता थी और अब भी है। शान्तिनिकेतन के पौष मेले में वे आहारादि का जो आयोजन करतीं, उसमें भोजन-रसिकों का कभी अभाव नहीं होता था। बहूठाकुरानी अतिथि-अभ्यागतों की भी खूब खातिर करती थीं। चित्रांकन में उन्होंने निपुणता प्राप्त की और लिख भी अच्छा लेती हैं। स्वल्पभाषिणी मधुर स्वभाववाली प्रतिमा बहूठाकुरानी गुरुदेव की अत्यन्त प्रियपात्री थीं--आश्रम के नाना कार्यों तथा गुरुदेव की सेवा में सर्वदा ही वे स्वयं को नाना प्रकार से युक्त रखती थीं।

मुझे याद पड़ता है हम लोग जब मैट्रिक में पहुंचे तब 'राजा' का अभिनय हुआ था। इस नाटक में बहुत लोग आए थे। हमें अभिनय सिखाने में गुरुदेव ने बड़ा परिश्रम किया था। एक-एक दृश्य का न जाने कितनी बार रिहर्सल करना पड़ता था। मैं अंधेरे घर के राजा की रानी सुदर्शना बना था। जहाँ तक याद पड़ता है अजित बाबू के छोटे भाई सुशील सुरंगमा बने थे, उनके गाने की ख्याति तो थी ही। गुरुदेव स्वयं राजा बने थे। ठाकुरदादा की भूमिका में दिनू बाबू खूब जंचते थे। अध्यापकों में से कोई कांची, कोई विदर्भ के राजा बने थे। रिहर्सल के समय सुदर्शना जब अपने अन्धकार के राजा का वर्णन करते हुए कहतीं :--

"वह तो एक प्रकार का नहीं है। नव-वर्षा के दिन जल भरे मेघों से आकाश के छोर पर वन की रेखा जब निविड़ हो आती है, तब बैठे-बैठे सोचती हूं मेरे राजा का रूप सम्भवतः ऐसा ही है--इसी प्रकार उतर आना, इसी प्रकार आच्छादित कर देना, इसी प्रकार नयनों को शीतल करने वाला, इसी प्रकार हृदय को परिपूर्ण करनेवाला, नयनों के पल्लव इसी प्रकार छायामिश्रित, मुंह की हंसी इसी प्रकार गम्भीरता में डूबी रहनेवाली।"...

जब चारों ओर अग्नि जल रही है तब सुदर्शना अपने राजा से कहती हैं :--

"जब अग्नि चारों ओर से मेरे पास पहुंच गई तब एक बार सोचा इस माला को अग्नि में फेंक दूं किन्तु फेंक न सकी। मेरे पापिष्ठ मन ने कहा--उस माला को गले में लिए हुए ही मरूंगी। मैं तुम्हें (अन्तर के) बाहर देखूंगी इसलिए पतंगवत ये कैसी अग्नि में कूद पड़ी। मैं भी न मरी, अग्नि भी नहीं बुझती, यह कैसी ज्वाला है।"

तब गुरुदेव कहते,--"अरे सुधीरंजन, बढ़िया हो रहा है--किन्तु और थोड़ा सा दरद ढालकर बोल।" यह कहकर स्वयं ही उस संलाप को दुहराते। इसी प्रकार जब उनके निर्देशानुसार बोलना सीख गया तो बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने जेठी मां और मीरा दीदी के जाने कितने गहने-कपड़े पहनाकर स्वयं ही मुझे सजाया-संवारा। गरम दूध में अण्डा फेंटकर हमें खिलाया था ताकि हम लोगों का गला श्रुति-मधुर हो। इतनी शिक्षा के बाद अभिनय हुआ तो दर्शकवृन्द ने एक स्वर से साधुवाद दिया था। सुरंगमा का अभिनय भी बहुत चित्ताकर्षक हुआ था। उस रात के अभिनय की याद करके अदृश्य राजा की भूमिका में गुरुदेव का सुललित अथच गम्भीर कण्ठस्वर आज भी मेरे कानों में गूंजता रहता है। सुना है, प्रतिमादेवी को लिखे गए एक पत्र में गुरुदेव ने मेरे चेहरे और अभिनय की कुछ प्रशंसा की थी--वही मेरा सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार है।

और याद आती है 'अचलायतन' के अभिनय की। 'अचलायतन' नाटक में अन्तर्निहित कथा का मूलतत्त्व उस समय हम लोगों के लिए कुछ बहुत बोधगम्य था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु इतना आभास-भर हम पा सके थे कि जब धर्म और समाज में बद्धमूल संस्कारों का जंजाल पुंजीभूत होकर मानव की विचार-शक्ति को दुर्बल और पराभूत कर डालता है, मनुष्य जब अपने चारों ओर एक सीमा-रेखा खींच, ऊंची चारदीवारी चुनकर विश्व के प्रकाश और हवा को रुद्धकर अपने श्वास-निश्वास को बन्द करने का उपक्रम कर लेता है, उस समय जो गुरु हैं, वे योद्धा के वेश में आविर्भूत होकर कारागार की उन प्राचीरों को धूलिसात करके मनुष्य का हाथ पकड़कर उसे उन्मुक्त आकाश के नीचे लाकर खड़ा कर देते हैं; उसके यन्त्रवत् निर्जीव शरीर में नूतन प्राणों का संचार कर उसे परिपूर्ण गौरव से मंडित कर देते हैं। स्थूलतः इसी प्रकार की एक धुंधली-सी धारणा मन में बनी रहने से 'अचलायतन' की भावधारा के साथ अपने को मिला देने में हमें असुविधा नहीं हुई। गुरुदेव के निर्देश में गानों और नृत्य का अभिनय सुन्दर ही हुआ था।

यह स्मृति-कथा अधूरी रह जाएगी यदि मैं 'प्रायश्चित्त' के अभिनय का उल्लेख न करूं। इसका अभिनय प्रधानतः अध्यापक-वर्ग ने किया था। धीमू के बड़े भाई यतीन बाबू विभा बने थे। जगदानन्द बाबू ने राज-जामाता रामचन्द्र का रूप धारण किया था। उस समय दिनू बाबू कुछ दिनों के लिए बाहर गए हुए थे इसलिए उनकी बात किसी ने सोची ही नहीं। किन्तु अभिनय के दो-तीन दिन पूर्व हठात् जब वे लौटकर आए तब तक सभी पात्रों का चुनाव हो चुका था। क्या किया जाए--अन्त में सोच-विचारकर उन्हें राजा रामचन्द्र के सभा-गायक का अभिनय करने को दिया गया। यथासमय खानदानी मुसलमान के फैशनेबल पजामे-कुर्ते, जरीदार मखमल की वास्कट, रंगीन रेशमी रुमाल और लखनवी दुपलिया टोपी में वे साक्षात् तानसेन दिखाई

(शेष पृष्ठ ४८ पर)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

एको देवः

वासुदेवशरण अग्रवाल

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने समस्त देश के मानस पर जो एक बड़ा पाठ अंकित किया वह प्राचीनतम ऋषियों की वेद और उपनिषदों की ज्ञान-विज्ञान विषयक परम्परा थी। उसका मूलमन्त्र था:--

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः
सर्वभूताध्यक्षः सर्व भूतान्तरात्मा।

इस विराट् विश्व की विचित्र रचना जिस महती शक्ति की अभिव्यक्ति है, जिस एक स्रोत से इस सबका आविर्भाव हो रहा है, संसार के नानात्व का जो कारण है, वह महतो महीयान् तत्व एक है, वह दवात्मक अर्थात चैतन्यमय है, वही सब प्राणियों में अन्तः प्रविष्ट है और चराचर भूतों का नियामक है। विश्व के विज्ञान का यह मूल सूत्र है जिसका दर्शन पथिकृत पूर्व ऋषियों ने किया था। आज भी मानव के विज्ञान कोश में इससे ऊंचा मन्त्र नहीं है। यह मन्त्र उसके समस्त विज्ञान को एकता के सूत्र में पिरोने वाला है। जो अब तक वह जान पाया है और जो वह आगे भी जान पाएगा, उसे शाश्वत अर्थवत्ता प्रदान करने वाला बीज यही अनुभव है। वेद और उपनिषद् जिस विज्ञान के द्वार हैं उसकी ललाट-लिपि यही मन्त्र है--एको देवः, यही गुहानिहित धर्म तत्व है। यही वह व्योमचारी सोम है जो त्रिपथगा गंगा के रूप में भूतल पर सुलभ हुआ है। इस ज्ञान का दर्शन एक-एक तीर्थ है--

सबहि सुलभ सब दिन सब देसा, सेवत सादर समन कलेसा।

ऋग्वेद में ही ऋषियों ने 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का गान गाया था। अष्टम मंडल के बालखिल्य सूक्तों में "एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः," "एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः :", "एकै वोषाः सर्वमिदं विभाति", "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" इस उदात्त महनीय सत्य की भणिति पुनःपुनः गूंजती हुई सुनाई पड़ती है। भारत के अध्यात्म ज्ञान की यही पूंजी है जिसे किसी चतुर धनी ने व्यवहार के आरम्भ काल में ही उसकी थैली में भर दिया था। इसी अक्षय गथ से आज तक उसका काम चला है और आगे भी चलेगा। महाभारत, रामायण, पुराण, भागवत, गीता, रामचरितमानस, नाना शास्त्र, तन्त्र, आगम, संहिताएं सब इसी महान कल्पवृक्ष के लहलहाते हुए पत्ते हैं। उनका समुदित रस भारत की अध्यात्म-विद्या है।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ इसी विद्या के आचार्य थे। शांतिनिकेतन के सुपलाश वृक्षों के नीचे जब वे ध्यानमग्न होते तो वे इसी परम्परा प्राप्त तत्वज्ञान का साक्षात्कार करते थे--उसी एक चैतन्यात्मक देवाधिदेव का दर्शन उन्हें इष्ट था, जिसे वृद्ध भारत के मनीषियों ने पुराकाल में जाना था। ज्ञात होता था--

वृद्धो शिष्यः गुरुर्युवा,

भारत की आत्मा सदा जीवित रहने वाला बूढ़ा शिष्य है और इस ज्ञान का साधक प्रत्येक आचार्य युवा गुरु है। आचार्यों के मन में अमृत है क्योंकि देव का वह ज्ञान अमृतमय है। यही तो गुरु का यौवन है, इसी दृष्टि से गुरुदेव भी युवाभाव से सम्पन्न थे। उन्होंने जो साहित्य दिया उसमें भारत के इसी अमृत ज्ञान का मंगल कलश सुप्रतिष्ठित है।

गुरुदेव से भेंट--(पृष्ठ ४१ का शेषांश)

कवीन्द्र के साथ यह वार्तालाप वास्तव में एक मानसिक भोज था। पन्द्रह मिनट की बजाय चालीस मिनट हो चुके थे। इस पर कवि ने कहा--"जब मैं कम समय निश्चित करूं, तब मेरी बात सचमुच ठीक न मानिएगा, क्योंकि मुझे स्वयं लोगों से बातचीत करने में आनन्द आता है।"

हम सबने कवि को धन्यवाद दिया और बिदा ली।

गुरुदेव के जो वाक्य मोटे अक्षरों में दिए गए हैं; आज के युग में वे एक भविष्यवाणी सिद्ध हो रहे हैं। काश, आज भी भारतीय जनता का ध्यान इस ओर जाता, जब प्रान्तीयता का विष हमारे देश के राष्ट्र शरीर को सब से अधिक हानि पहुंचा रहा है।

शान्तिनिकेतन की उक्त यात्रा के बाद मैं लगभग १० बार पुनः उस पुण्य तीर्थ की यात्रा को गया हूं। विशेषतः आचार्य क्षितिमोहन सेन, जिन्होंने उस दिन की सभा का अध्यक्षत्व ग्रहण किया था, की मुझ पर विशेष कृपा हो गई थी और मैं तब से शान्तिनिकेतन को अपनी ही संस्था समझने लगा। फिर भी अपनी उक्त यात्रा की याद मेरे मनस्तल पर अमिट रूप से अंकित है।

शान्तिनिकेतन की प्रारम्भिक नाट्य-स्मृतियां--(पृष्ठ ४७ का शेषांश)

पढ़ते थे। नाटक में निर्देश किया गया था कि राजसभा के गायक उस्ताद जब गाएंगे तो समझ रखनेवाले जानकार की भांति राजा रामचन्द्र बीच-बीच में 'वाह-वाह उस्ताद जी' कहेंगे एवं गलत स्थानों पर ताल देंगे। इधर मामला यों हुआ कि जगदानन्द बाबू को ताल का यथेष्ठ ज्ञान था, अतः बेताल पर ताली देना उनके लिए कुछ-बहुत सहज नहीं हो पा रहा था। अभिनय के रिहर्सल के समय बाकायदा उन्हें बेताल साधना करनी पड़ी। जब अभिनय हुआ और वह दृश्य आया तो जगदानन्द बाबू की अचूक रूप से घुटने पर बेताल थपकी देने की बहार कौन न देखे! जब गान के बीच में ही वे हठात् 'हाँ' कहकर चिल्ला उठे और उस्तादों की तरह हाथ बढ़ा दिया तब तो दर्शक हंसी से लोट-पोट हो गए। उधर उनके बेताल ताल देने की विडम्बना में दिनू बाबू के संगीत-रसज्ञ मस्तिष्क पर यों कहिए कि डंडे की चोट पड़ रही थी। आँखों में परेशानी का भाव और वेतनभोगी उस्तादों की सफलता की हंसी का बड़ा अपूर्व योग हुआ था। हृषीकेश ने राजा का साला बनकर जो 'मामा' नाम पाया सो उस नाम से उनका कभी पीछा न छूटा।

अनुवादक : हरिशंकर शर्मा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

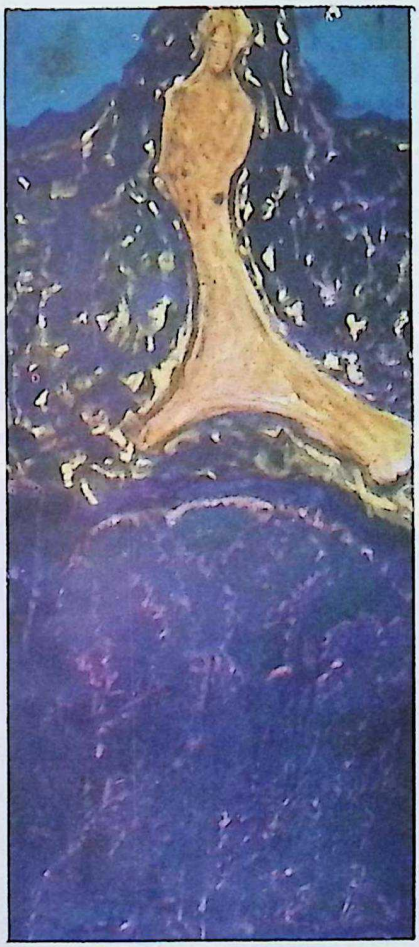

रवीन्द्रनाथ ठाकुर
की
चित्रकला

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

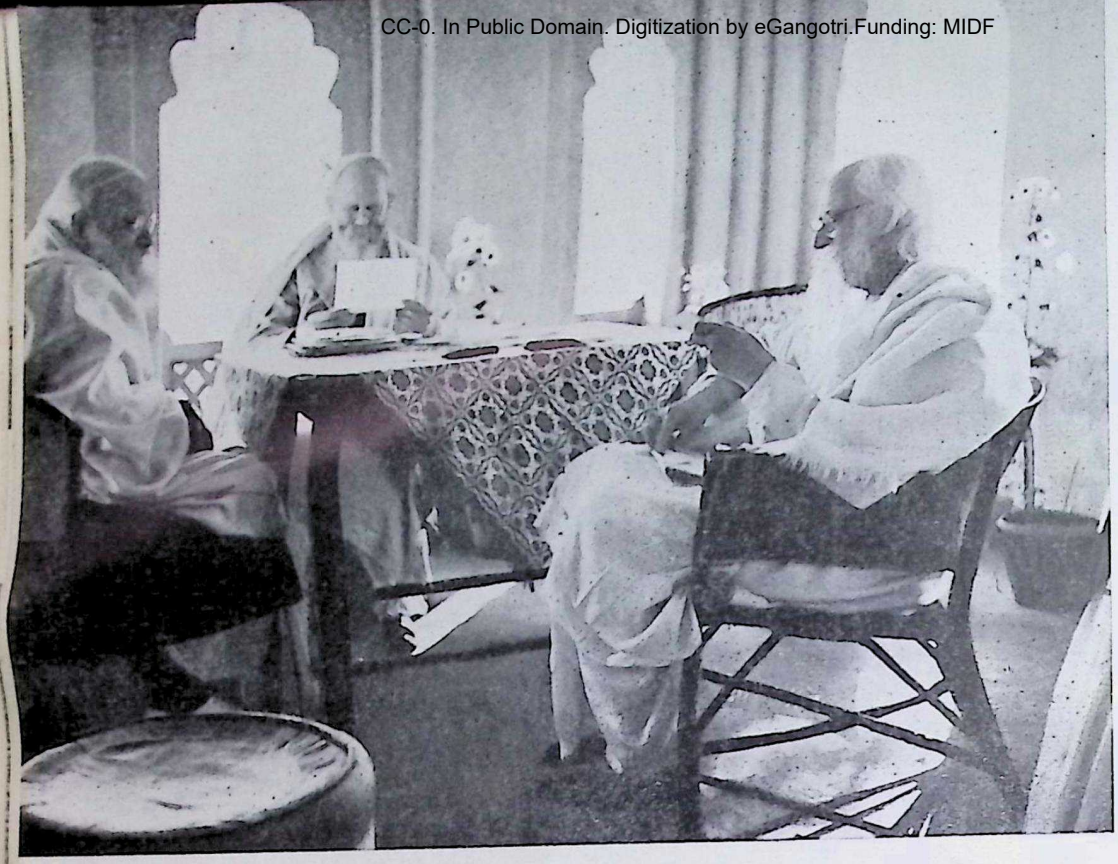

बाएं से :
रामानन्द चट्टोपाध्या
सी० एफ़० एण्डरूज़
रवीन्द्रनाथ ठाकुर

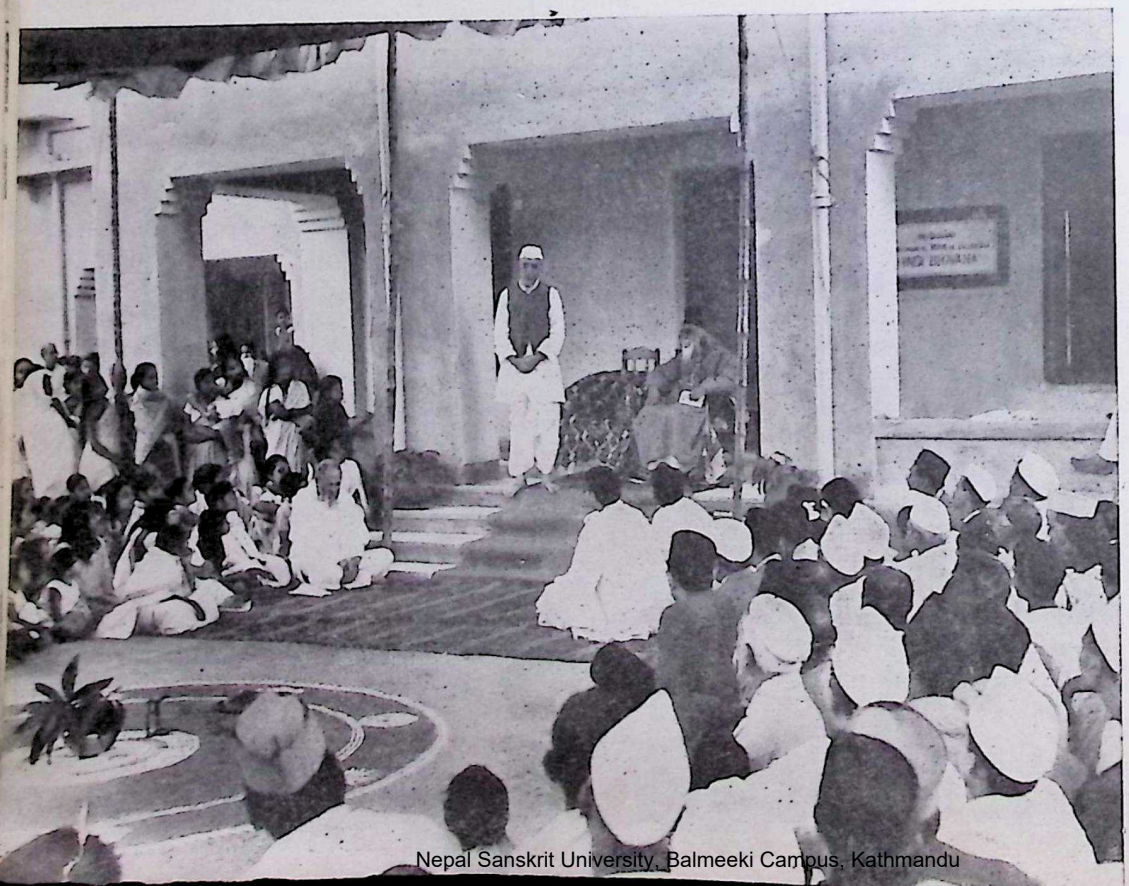

सन् १९३९ में शान्ति-निकेतन में हिन्दी भवन का उद्घाटन करते हुए जवाहरलाल नेहरू; गुरुदेव अध्यक्षता कर रहे हैं और दरी पर एण्डरूज़ बैठे हैं, जिन्होंने हिन्दी भवन का शिलान्यास किया था

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

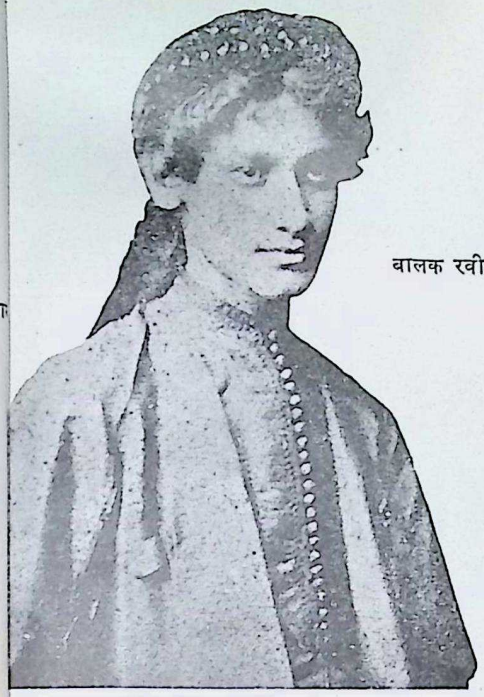

बालक रवीन्द्र १३ वर्ष की आयु में

रवीन्द्र १५ वर्ष की आयु में

रवीन्द्र दर्शन

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दो भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ तथा सत्येन्द्रनाथ अपनी पत्नियों के साथ

रवीन्द्र १८ वर्ष की आयु में लन्दन में

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

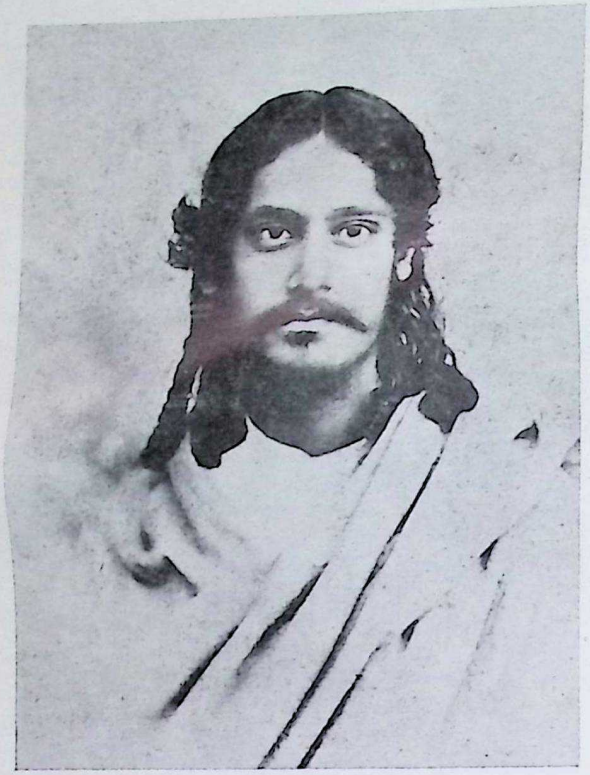

रवीन्द्रनाथ २२ वर्ष की आयु में

रवीन्द्रनाथ २३ वर्ष की आयु (१८८३) में अपनी पत्नी के साथ

रवीन्द्रनाथ २९ वर्ष की आयु में

१८९० में रवीन्द्रनाथ बेटी माधुरी तथा पुत्र रथीन्द्रनाथ के साथ

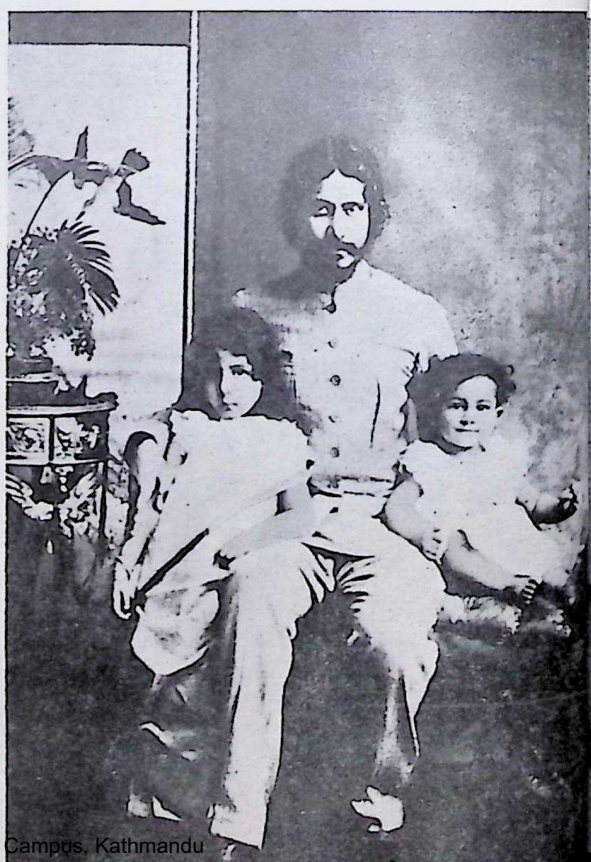

University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रवीन्द्रनाथ २५ वर्ष की आयु में

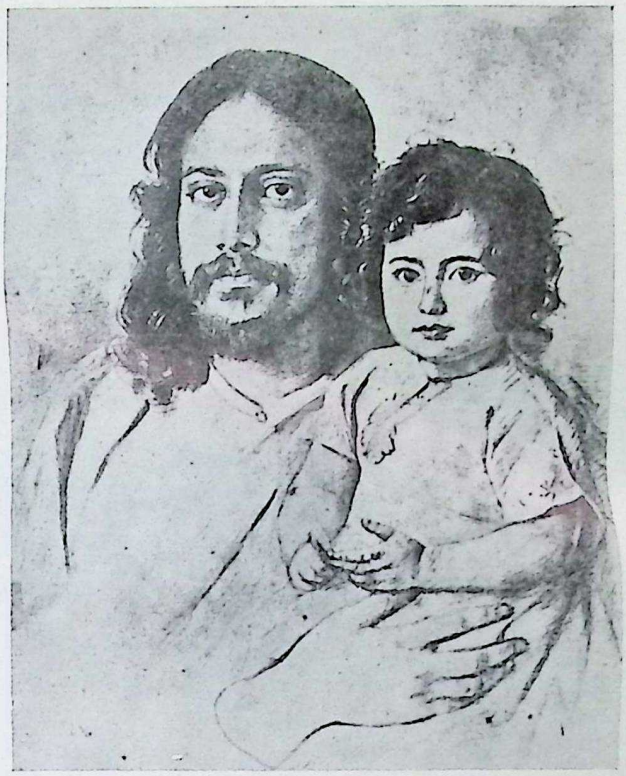

१८८७ में रवीन्द्रनाथ अपनी बड़ी पुत्री माधुरीलता के साथ

१८९० में लन्दन में

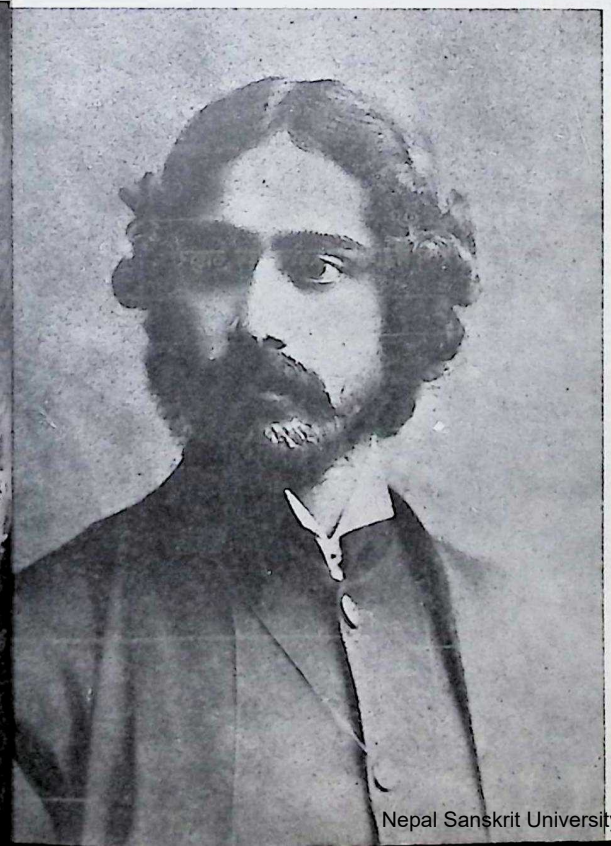

महाकवि रवीन्द्रनाथ

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

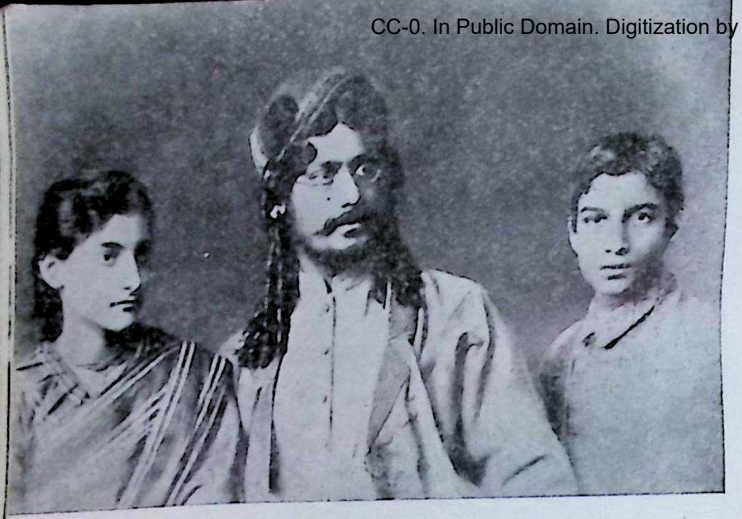

रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपनी भतीजी इन्दिरा देवी तथा भतीजे सुरेन्द्रनाथ ठाकुर के साथ

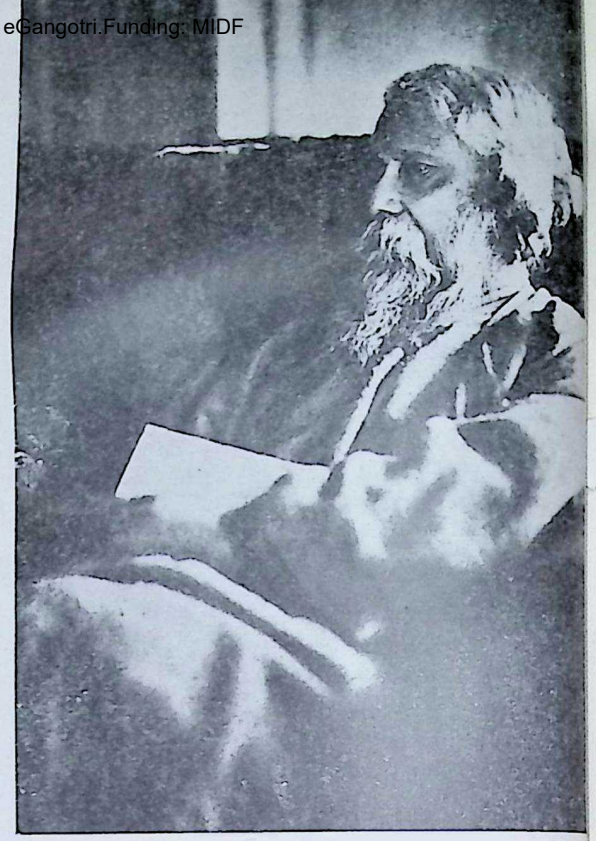

१९२६ में गुरुदेव

१९३६ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर

१९३५ में महामानव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कवि का अर्घ्य

जैनेन्द्रकुमार

कवि रवीन्द्रनाथ की शत वार्षिकी के इस संवत्सर में देश-विदेश के विद्वान उनके जीवन और कृतित्व की मीमांसा में उन सभी रूपों का उद्घाटन करेंगे जिनमें उनका आत्मदान प्रगटा और प्रवाहित हुआ है। अनोखा वह जीवन था, इतना भरपूर कि कोई दिशा उस ऐश्वर्य से वंचित नहीं है। सृजन और आत्म-निवेदन की यह अजस्र अदम्य प्रेरणा इतिहास में अधिक नहीं मिलती। उंगलियों पर गिने जाने योग्य पुरुष हुए हैं। मानव जाति के तमाम जीवन में जो इस विवशता से अपने को चहुं ओर देते चले गए कि मृत्यु से पहले विराम का नाम नहीं आया। क्या वह प्राणों की अनिवार्यता और बाध्यता थी जिसने इस आत्मार्पण की साधना में एक क्षण विश्राम नहीं जुटने दिया? जिसमें एक कण बचा कर वह नहीं रख सके, सब लुटाते ही चले गए? उसको लौकिक हेतुओं की भाषा में समझना असंभव है। कहां उनकी अभीप्सा का इष्ट था उस स्थल को दुनिया में कहीं खोजा नहीं जा सकता। लौकिक प्रयोजन कोई इतना अक्षय और अमोघ नहीं हो पाता। फिर वह क्या अलौकिक था जो उनके प्राणों में तरल विद्युत् बना प्रज्वलंत रहा, समीक्षकों के निर्धारण में नहीं आता है। सीमाओं का यह अतिक्रमण कर जाता है, उपयोगिता बीच में ही ओछी पड़ रहती है और उनके आत्मदान का उच्छलित वेग शिल्प की तमाम विधाओं को पूरता-तोड़ता हुआ अस्खलित उफनता बहता चला जाता है। जिस विधा द्वारा भी उस पीड़ा का प्रकाश हुआ जान पड़ा वहां नए आयामों की सृष्टि हो आई है। कविता ने मोड़ लिया है, कथा, कहानी, गद्य, प्रबन्ध ने मोड़ खाया है, इसी प्रकार संगीत, नृत्य, नाटक, चित्र सभी ने उनसे नया मोड़ पाया है। रूप, विधान, शिल्प आदि के प्रयोग का प्रश्न नहीं था। आन्तरिक आवेदन के वेग ने स्वयं नई मर्यादाओं का निर्माण किया और नए स्वरूपों की सृष्टि की। सर्वथा मौलिक प्रतिभा का ही यह काम था और आवश्यक था कि उसके पीछे वह अगम प्रेरणा हो जो लौकिक हेतुओं को छोड़ जाती हो और लोकोपयोगी एवं युगीन के प्रति असावधान भी हो सकती हो।

दूसरी बार उनसे मिलना हुआ तब का मुझे ध्यान आता है। सख्त गर्मी के दिन थे। शुरू जून रहा होगा। तपती घाम में सिर पर उपरना डाल कर हम लोग पहुंचे। धूप के साथ लू भी थी। दिन के ढाई का समय होगा। पहुंचे तो देखा रवीन्द्रनाथ बरामदे में बैठे हैं। बाहर सरकण्डे की चिकों के अलावा कुछ नहीं है। ऊपर पंखा नहीं है। मेज लम्बी सामने बिछी है जो नंगी है। मूढ़े पर बैठे हैं, जिसमें पीठ नदारद है। कमर सीधी रखे चित्र खींच रहे हैं। वह मूर्ति मैं भूल नहीं पाता हूं। रवीन्द्रनाथ के नाम पर एक आभिजात्य का चित्र मन में उठता है। उनके स्वरूप में, व्यवहार में, चरित्र में देवोपमता का दर्शन होता है। रक्त की वह नीलिमा और शालीनता अन्य कहां मिलेगी। यह उन्हें पैतृक परंपरा से ही प्राप्त था। पर जिसको अपनी श्रम-साधना से प्राप्त किया वह उपलब्धि है जो

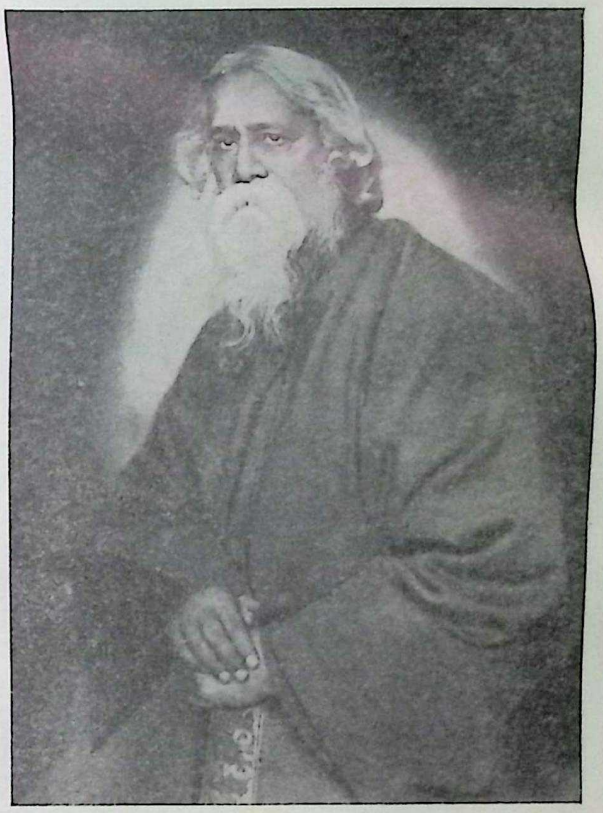

गुरुदेव १९२१ में

उनकी नाना रूप शब्द वर्णमय सृष्टि में अतुलित वैभव का प्रकाश करती है। राजा जन्मे और हर तरह अति विशिष्ट रहे किन्तु जबकि यह बाह्य रहा तब अन्तरंगता से मानो वह सबके हो रहे। कुछ उनके लिए पर न रहा, इतर न रहा। अखण्ड श्रम साधना से जैसे उन्होंने अपने को सबमें बांटा और बिखेर दिया। सर्वथा समाहित और स्वस्थ, लेकिन उतनी ही विवशता से व्यस्त और श्रमरत। उनके जैसे स्वरूपवान, सम्भ्रान्त सम्पन्न पुरुष को उस गर्म लू-धूप वाले अपराह्न के समय में किसी भव्य ड्राइंग-रूम में देखता तो शायद अनुकूल होता। लेकिन उस बरामदे में बेपीठ के बांस के मूढ़े पर सीधे बैठे काम करते हुए उन राजर्षि को देखकर अनुभव हुआ कि दो विरोधों का उनमें समन्वय हुआ है। सब कोमल और सुन्दर है जो उन्हें मिला है। लेकिन दुर्धर्ष और प्रखर है जो उन्होंने साधा है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जान पड़ता है बात कुछ ऐसी चली जो उनके मर्म को छू गई। वह बंगला में बोले। दो-एक वाक्यों के बाद आंखें उनकी मुंद आईं। जैसे समक्ष विस्तार में नहीं, बन्द आंखों से कहीं पार देख रहे हों। भाल पर कहते-कहते तनिक भ्रु-कुंचन होता, चेहरा खिल आता, कि तभी माथे में तरेड़ पड़ती और मुद्रा से भर्त्सना विकीर्ण होने लगती। मैं कोई १५-२० मिनिट उस मुख को देखता रहा। अजस्र वाक्धारा प्रवाहमान थी। मैं बंगला नहीं जानता था। पर भाषा मानो अर्थ की अपेक्षा में न रही, वह इतनी सचित्र थी। मानो वह उनसे फूट रही थी। वह, उनके भाव, उनके शब्द, शब्दों की ध्वनि और अर्थ परस्पर विलग थे ही नहीं। दर्शन से जो उनका निजत्व सीधे प्राप्त हो रहा था मानों वही शब्दों में खचित और मुखरित था। मैं आज भी उस रहस्य को नहीं समझ सकता। लेकिन उनका कहा मुझे प्राप्त होता चला गया। मानो वह वहां रहे न थे, स्थल काल से अतीत हो गए थे, अमुक अमूर्त्त भाव से इतने तद्गत थे। बीसेक मिनिट बाद मानों वह इस लोक में आए। आंख खुलीं, मुस्कराए, मानो तनिक से खिन्न और क्षमाप्रार्थी हों कि वह हमसे हठात् अनुपस्थित क्यों हो गए। वह शिखरस्थ समाधिस्थ लीन मुद्रा और यह शिशुवत सिहराता सरल स्मित। सुनते-सुनते मैं प्रभावित था। इस मुस्कराहट पर गद्गद् हो आया। मालूम हुआ कि भावाकाश में कितने भी ऊंचे जाएं, मानवीय भूमिका उनसे नहीं छूटती है। सबके प्रति तभी वह सुलभ हैं। इस सहज सुलभता के कारण ही उनसे सबको व्योम-विहरण का आनन्द प्राप्त होता है।

रवीन्द्रनाथ का यही सबसे बड़ा दान है। आदर्श आदमी को ऊंचा उठाता है। उसकी आराधना में वहां पहुंच जाता है जहां मानवीय संदर्भ छूटा रह गया है। उसमें संकल्प बनता है, वह मिशन उठाता है। घोषणा करता है और उद्धार करता है। मानवीय दुर्बलताओं को जैसे पद-स्खलित करके गर्वोन्नत भाव से वह हुंकार भरता है। मानो मनुष्य ही नहीं, ध्वज-दण्ड हो। पताका फहराना ही उसका काम हो। रवीन्द्रनाथ ने ऐसी जगह मनुष्य को चेतावनी दी। जिसमें दुर्बल समझकर मनुष्य को अमान्य किया है, जिस कारण मानव सम्बन्ध के सूत्र उसके छिन्न हो गए हैं, जिस आश्रय से उसने अपने को अतिमानव और महामानव माना है वह अहम् का छल है। यह स्नेह जो हमको एक दूसरे की ओर बहने देता, एक दूसरे में भीगने देता है, जो नरत्व को नारीत्व से युक्त रखना वंचित नहीं करता है, वरदान है। उसके तिरस्कार में पौरुष का सत्कार नहीं है, किसी आदर्श का भी पुरस्कार नहीं है। वह थोथी प्रवंचना है। इन्द्रियों के विरोध में आदर्श की, क्रान्ति की, मुक्ति की, परमेश्वर की कोई भी साधना आरम्भ से खंडित होने के लिए है। केवल देह के दर्प के आश्रय पर उसे खड़े रहना पड़ता है। देह का दर्प गिरता है, और तब वह हठ-साधना भी धूल में आ पडती है।

मानव मूल्य का उनसे बड़ा जागरूक प्रहरी साम्प्रतिक इतिहास में दूसरा मिलना मुश्किल है। राष्ट्र भावना और राष्ट्र भूमि के प्रति उनकी प्रीति अनन्य थी। ऐसे राष्ट्र प्रेमी हुआ करते हैं जिन्हें उनकी राजनीति के आगे अपने देश की धरती के सौन्दर्य और वैभव का पता तक नहीं है। रवीन्द्रनाथ की ममता देश की उस शस्य-श्यामला हिम-किरीटनी वसुन्धरा के प्रति कितनी अनुरागसिक्त है यह उनकी रचनाओं की अद्भुत वर्णछटा में प्रकाशमान है। किन्तु राष्ट्रीय आवेश जब-जब मानवीय मर्यादा के उल्लंघन पर उतारु हुए तभी रवीन्द्रनाथ की चेतावनी की वाणी उद्गीर्ण हुई। उसका उज्ज्वल और उद्दीप्त स्वर किसी भांति अनसुना नहीं किया जा सकता था। बंग भंग के समय, क्रान्तिवाद के हुंकार के बीच और स्वयं महात्मा गांधी के असहयोग और सत्याग्रह आन्दोलनों के समक्ष कवि-वाणी की चुनौती प्रश्न की वन्हि-शिखा-सी दीप्तिमान हो उठी। मानव भावनाओं का अतिक्रमण इन आदर्शवादी वासनाओं के नीचे सहज हो जाता है। उस समय एक गर्व-गौरव का भाव आन्दोलनकारियों को प्रमत्त बनाए रखता है। तात्कालिक राजनीतिक प्रयोजन उस उन्माद से कुछ सधता भी दीखे लेकिन मानवीय समस्या और निविड़ बन आती है। वह खुलती तो है ही नहीं, उसमें चेतना-गत अनेक ग्रन्थियां पड़ जाती हैं और वह बेहद गुंफित हो जाती है। गान्धीजी महात्मा थे और धर्म नैतिक चेतना के प्रतीक थे। किन्तु रवीन्द्रनाथ का चेतावनी का सन्देश इसके लिए उपयोगी और आवश्यक हुआ कि महात्मा का अहिंसक आन्दोलन मानव मूल्यों के तटों को तोड़ता हुआ न बढ़े। कवि वाणी के चलते मानव-निरपेक्ष बनकर कोई 'सत्य' स्वतन्त्र प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकेगा—रवीन्द्रनाथ ने जीवनपर्यन्त इसकी चौकसी रखी। मानव स्वयं परम सत्य है। कोई और दुहाई और घोष मनुष्य को हटा कर उस वेदी पर प्रतिष्ठा-पूजा नहीं पा सकेगा, न धर्म का, न राज्य का, न राष्ट्र का ही देवता उस स्थान को अधिकृत कर सकेगा। गुरु, राजा, नेता अपनी जगह ठीक हैं। लेकिन मूल मानव की अखंडता एवं प्रतिष्ठा में जहां तक सहयोगी होते हैं ठीक वहीं तक हैं, आगे वे मिथ्या हो जाते हैं।

कर्म प्रयोजन की तात्कालिकता में दूसरा खतरा यह है कि मनुष्य की उन्नति को हम शेष सृष्टि और प्रकृति से विच्छिन्न करके देखने लग जाते हैं ऊंची-ऊंची चिमनियों से निकल कर धुंआ आस्मान को भर दे, कल पुर्जों की खड़खड़ चौबीसों घंटे शान्ति को भंग किया करे, आदमी हजारों-हजार लाखों-लाख की संख्या में मशीन की सेवा में तैनात रहे और कारखाने धड़ाधड़ माल गढ़ कर उगलते रहें तो यह मानव और उद्योग की भाषा में तरक्की समझ ली जाती है। लेकिन इस तरह वह यदि शेष सृष्टि से विमुख और विच्छिन्न हो रहा हो, परिणाम में अपनी ही अन्तः प्रकृति से विहीन और विच्युत बना जा रहा हो, तो यह उन्नति नहीं है, सभ्यता नहीं है, मरीचिका विभीषिका है। इसलिए विज्ञान और गणित के बीच में उन्होंने कला को अनिवार्य बनाया। शिक्षा को वृक्ष और वन के साथ जोड़ा। उद्यम को आसपास के वातावरण और उपकरणों से संयुक्त किया। श्रम मानो उनके लिए प्रकृति से संघर्ष न था बल्कि प्रकृति के साथ कल्लोलक्रीड़ा था। ऐसे मानों मानव और मानवेतर के बीच कविता के छंद की सृष्टि हो आए, यह उनका उद्योग था। मानव की उद्दण्ड स्वच्छंदता का समर्थन उनके पास न था।

वह वैज्ञानिक और राजनीतिक उन्नति जो पाश्चात्य सभ्यता का लक्षण है उनको उस रूप में कभी मुग्ध न कर पाई। मानों उनका समूचा व्यक्तित्व और कृतित्व उसके आगे प्रश्न बन जाता है। कामकाजी, यथावश्यकता तक कटा-संवरा कविगुरु का व्यक्तित्व नहीं है। मानों वह सब तरह की अतिरिक्तता से मंडित है। चेहरा स्मश्रुहीन नहीं है। सिर के बाल यथापरिमित नहीं हैं। शरीर के वस्त्र चुस्त नापकाट के नहीं हैं। भाषा और शैली अर्थ-सीमित नहीं है। मानो सब कहीं अतिशयता और वदान्यता है। मानों आसपास के स्वीकार और समावेश की वहां आतुरता हो और दूर-दूरान्त के लिए भी निमंत्रण हो। रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व के स्मरण मात्र से उस पुरुष की छवि मन में उठती है जो समग्र और समष्टि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

के प्रति बाहें फैलाकर बढ़ रहा है और जिसके अभ्यंतर में से वर्जन मात्र का लोप हो गया है।

हो सकता है कि आधुनिकता की मांग किसी और दिशा में जा रही हो। युग वैज्ञानिक और बौद्धिक दिग-काल में बढ़ रहा हो और अतिरिक्त को हटा कर केवल आवश्यक को रखना जरूरी बनता जा रहा हो। गणित और भौतिकी का महत्व हो और स्नेह को सिक्त-अभिषिक्त करने के बजाय संयत-नियत रखना अधिक संगत हो। स्वप्न से यथार्थ का अधिक महत्व हो और सौन्दर्य सादगी के लिए स्थान छोड़ता जा रहा हो। यह भी हो सकता है कि अतिशयता बाधा हो और नग्न अनावरणता उपलब्धि हो। आज सुना भी जाता है कि जो आंसू ले आए वह रचना उसी कारण हल्की है। क्षोभ और रोष का बौद्धिक आवर्त्तन सृष्ट कर रहे, रचना वह श्रेष्ठ है। भावों का ऊर्जस्वन नहीं चाहिए, विचारों का आलोडन चाहिए। इस प्रकार की बेचैनी को, अनिश्चितता और चंचलता को, प्रेम करने वाला मानस आज रवीन्द्रनाथ को अपने उपयुक्त न पाए; उसकी मांग अधिक धारदार, तीखे, तीते को पसन्द करे; वह अधिक छिले, कटे, पैने नुकीले की मांग करे। कुछ वह जो आधुनिक शस्त्र की तरह लक्ष्य के प्रति तीर-सा एकाग्र और हिसाब-सा साफ हो। पर यह मांग युग के साथ ढल जा सकती है। कारण, वह कृत्रिम और स्थितिजन्य है। किन्तु युग-युगीन भाव से टिकने वाली मानव जाति की मांग की पूर्ति रवीन्द्रनाथ से जो हो सकेगी वह माने जाने वाले अन्य आधुनिकों में से किसी से होगी इसमें सन्देह है।

मानना होगा कि निषेध का स्वर रवीन्द्रनाथ में उतना दृप्त और तीव्र नहीं है। पर याद रखने की आवश्यकता है कि उनका धर्म कवि धर्म है। लोक नेतृत्व का दावा उन पर डालना अदया है। धर्म के ध्रुव पुरुष युद्ध संघर्ष में से निष्पन्न होते हैं। रावण से मोर्चा लेने में राम का रामत्व और अवतारत्व सिद्ध हुआ। उसी कारण रामायण धर्मग्रन्थ बना। कृष्ण को महाभारत ने प्रतिष्ठित किया, और महाभारत हिन्दू धर्म का स्रोत ग्रन्थ हुआ। अन्यान्य धर्मतीर्थ पुरुष युद्ध की ज्वाला में से संस्कार पाते हुए निकले। उसी कृतार्थ में से उनका बलिदान अपने प्रज्वलन्त तेज से इतिहास को ज्योतिष्क कर गया। रवीन्द्रनाथ के आत्मदान को उस यज्ञ परीक्षा में से यदि निकलना नहीं हुआ तो उस कारण उसका मूल्य कम नहीं है। केवल यह याद रखना होगा कि यह कवि की अर्घ्यांजलि है। पुष्प उसमें हैं, अक्षत, नैवेद्य उसमें हैं। शुचि शुभ्र और पवित्र जो है वह उसमें है और अर्घ्य की इस अंजलि पर हमें किसी से कम कृतज्ञ होने का कोई कारण नहीं है।

मोह

नदी का 'यह-पार' कहता भर-भर कर उच्छ्वास :
सारे सुख 'उस-पार' हैं,—मेरा पक्का विश्वास !
नदी का 'वह-पार' रह-रह कर भरता है आहें;
दुनिया के सारे सुख 'उसी पार' क्यों जमा हैं।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

शान्तिनिकेतन में चार्ली एण्डरूज का निवास स्थान : दाहिनी ओर चाय चक्रम का गोलघर

गुरुदेव ग्रामीण जनता के बीच

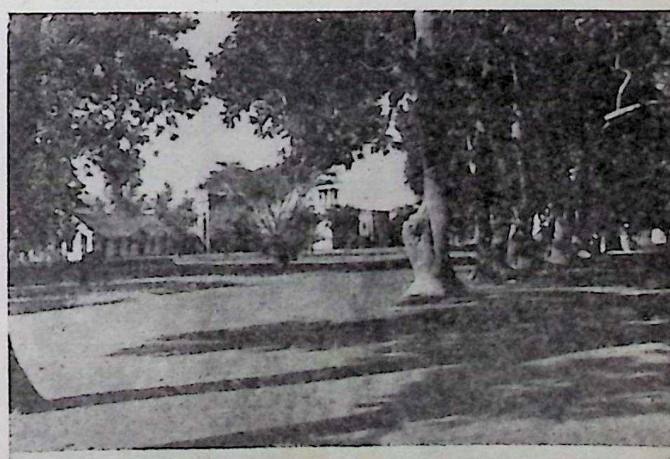

शान्तिनिकेतन का दृश्य
गुरुदेव के हस्ताक्षर सहित

TO THE EX-STUDENTS
Rabindranath Tagore

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रवीन्द्रनाथ : पत्र-लेखक के रूप में

मोहनसिंह सेंगर

लेखक, कवि, चिन्तक, शिक्षाशास्त्री और समाज-सुधारक रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा और विचारधारा जहां सर्वांगीण, सुचिन्तित और सुयोजित रूप से उनके लेखों, कथा-साहित्य, काव्य, नाटक, संगीत, अभिनय आदि में व्यक्त हुई है, वहां उनके मानस-लोक के अनेक रहस्य, उनके अनेक मुग्ध और सूने क्षणों के भावों की रंगीनी, उनके मानस की अनेक दुर्बलताएं, आशंकाएं, निराशाएं और दुविधाएं, उनकी अनेक प्रगल्भ कल्पनाओं और मूडों की छांइयां केवल उनके पत्रों में ही व्यक्त हो पाई हैं। अपने जीवन में कवि ने हजारों ही पत्र लिखे, जिनमें उनकी रचनाओं से भिन्न उनकी अनेक सक्षम और स्थूल भावनाओं, कल्पनाओं और भावुकताओं के साथ ही उनकी सहज वृत्तियों ने भी अभिव्यक्ति पाई है। इनमें किसी भी प्रकार की गोपनीयता या कपट-वृत्ति या औपचारिकता नहीं दिखाई पड़ती। आज तो ये पत्र रवीन्द्र-साहित्य के एक अमूल्य और अप्रतिम अंग बन गए हैं। साथ ही ये कवि, लेखक, संगीतज्ञ, अभिनेता, शिक्षक, समाज-सुधारक और राष्ट्र-कर्मी रवीन्द्रनाथ के पूरे व्यक्तित्व के मूल्यांकन और मनुष्य रवीन्द्रनाथ को सम्पूर्ण रूप में जानने-पहचानने के लिए भी अनिवार्य से हैं।

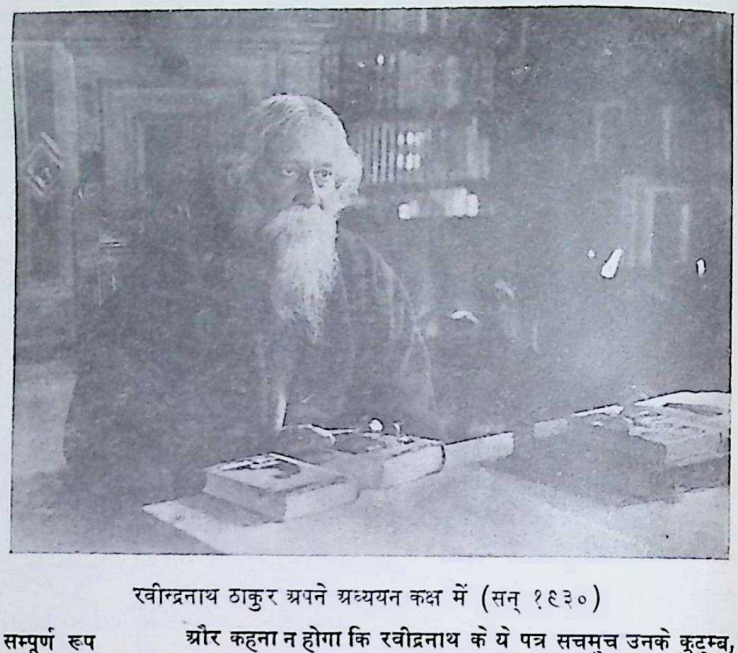

रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने अध्ययन कक्ष में (सन् १९३०)

एक ओर जहां कुछ पत्र रवीन्द्रनाथ के जीवन की एकदम वैयक्तिक स्नेहसिक्त स्मृतियों की रत्नमय कड़ियां हैं वहां दूसरी ओर कुछ में उनके चिन्तन के विरल मोती भी जहां-तहां बिखरे या कल्पना अथवा स्मृति के सूत्र में पिरोए हुए मिल जाते हैं। इन पत्रों के प्रति स्वयं रवीन्द्रनाथ का कितना आग्रह और मोह था, यह अपनी धर्मपत्नी की स्मृति में लिखी गई उनकी एक कविता 'स्मरण' में इस प्रकार व्यक्त हुआ है :

देखिलाम खान-कय पुरातन चिठि—
स्नेहमुग्ध जीवनेर चिन्ह दु-चारिटि
स्मृतिर खेलना कटि बहु यत्नभरे
गोपने संचय करि, रेखेछिले घरे।
जे प्रबल काल स्रोते प्रलयेर धारा
भासाइया जाय कत रवि चन्द्रतारा
तारि काछ हते तुमि बहु भये भये
एइ कटि तुच्छ वस्तु चुरि करे लये
लुकाये राखियाछिले,—बलेछिले मने
अधिकार नाइ कारो आमार ए धने।
आश्रय आजिके तारा पावे कार काछे ?
जगतेर कारो नय तबु तारा आछे।*

और कहना न होगा कि रवीद्रनाथ के ये पत्र सचमुच उनके कुटुम्ब, परिजनों और परिचितों की दुनिया से बाहर आकर समस्त संसार की सम्पत्ति ही बन गए हैं। इनमें रवीन्द्रनाथ ने जो कुछ लिखा है, उस सबकी चर्चा करना तो एक महाग्रंथ का-सा काम लगता है, पर कुछ के सम्बन्ध में यहां इस आशय से चर्चा की जा रही है कि पाठक पत्र-लेखक रवीन्द्रनाथ के बारे में कुछ परिचय पा सकें।

सबसे पहले हम यह देखें कि रवीन्द्रनाथ ने जो हजारों पत्र लिखे हैं, उनके पीछे उनकी प्रेरणा या कारण क्या एकदम घरेलू, अनौपचारिक और आत्मीयता के ही थे या और भी कुछ ? २७ पौष, १३३३ बंगाब्द को श्रीमती निर्मलकुमारी महलानवीस को लिखे गए एक पत्र में उन्होंने स्वयं ही इसे यों स्पष्ट किया है :

*अर्थात् मैंने देखा कि स्नेहमुग्ध जीवन के दो-चार चिह्नस्वरूप तुमने कुछ पुरानी चिट्ठियों को स्मृति के खिलौनों के रूप में बड़े यत्न से इकट्ठा कर छिपा कर अपने कमरे में रखा था। प्रबल कालस्रोत की जो प्रलय-धारा न जाने कितने सूर्य, चन्द्र और तारों को डुबो देती है, उससे जैसे तुमने बड़े डरते-डरते ये कुछ तुच्छ वस्तुएं चुरा कर छिपा रखी थीं और मन में सोचा था कि तुम्हारे इस धन पर और किसी का भी कोई अधिकार नहीं है। आज (जब कि तुम नहीं रहीं) भला उन्हें कौन सुरक्षित रूप से रखेगा ? फिर भी संसार में किसी के न होकर भी ये आज अपना अस्तित्व तो रखते ही हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

शान्तिनिकेतन,

कल्याणीयासु रानी,

हर डाक से तुम्हारी चिट्ठी पाऊंगा, इसकी आशा तो मैंने कभी नहीं की; पर पोर्ट सईद से लेकर कोलम्बो तक मेरे सारे हफ्ते बिना तुम्हारी चिट्ठी के ही बीते और मेरे हिसाब से वे निष्फल ही गए। पर इसीलिए यह अरसा कैफियतहीन भी नहीं है। फिर भी मेरे मन में तुम्हारा सम्वाद पाने का आग्रह इसीलिए भी था कि मैंने तुम्हारा इलाज शुरू होने-भर की खबर पाई थी, अगर उसके पूरा होने की खबर देतीं, तो मेरा मन आश्वस्त हो जाता। सच पूछो, तो अब मेरी हालत यह हो गई है कि तुमको सम्बोधित कर अपने मन की सारी अनर्गल बातें बक देने का अभ्यास पक्का हो गया है। मेरा मन स्वभावतः नदी की उस धारा की तरह हो गया है, जो एकसाथ चलती और बोलती जाती है—गूंगे की तरह अवाक् होकर चलना उसके वश की बात नहीं है। पर यह शायद कुछ अच्छा अभ्यास तो नहीं है। कारण, जिस बात को एकदम भुला देना चाहिए, उसे लिख डालने से कुछ कुछ स्थायित्व तो मिल ही जाता है और इस प्रकार जिसे जीवित रहने का का कोई अधिकार नहीं, वह भी जीवित रहने के लिए संघर्ष करने लगता है। चिकित्साशास्त्र की उन्नति के लिए कुछ ऐसे लोग भी खामख्वाह जीवित रहते हैं, प्रकृति ने जिन्हें जिन्दा रहने का परवाना देकर नहीं भेजा है! वे दुनिया के अन्न की हानि ही करते हैं। इसी तरह मेरे मन में जो-कुछ आता है, अगर उसके पासपोर्ट का विचार न कर उसे ज्यों-का-त्यों लेखन-राज्य में प्रवेश करने दिया जाए, तो इसी तरह की गड़बड़ी होगी।.... यह ठीक है कि जो क्षणजीवी है, उसको काफी आयु देने की शक्ति साहित्यकार की कलम में है और उससे साहित्य की बहुत बड़ी क्षति भी नहीं होती। किन्तु व्यावहारिक रूप में होता क्या है? जो-कुछ विचार उठते हैं, फौरन मैं उन्हें रूप दे देता हूं। सब समय यह अयथा होता है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु जीवन-यात्रा में पग-पग पर इस तरह रूप देनेवाले की अपेक्षा चुप रहनेवाले का काम कहीं बेहतर है। मैं स्वयं भले ही प्रगल्भ होऊं, किन्तु जो चुप रहना जानते हैं, उनकी श्रद्धा करता हूं। जो मन बात-बात पर भड़क कर अपनी बात कहने लगता है, आज इस समय मैं उसे निर्मल आकाश के नीचे एक पेड़ की छाया में बैठकर चुप कराने की चेष्टा कर रहा हूं। चुप के द्वारा सचमुच शान्ति और सत्य के दर्शन होते हैं। आजकल हम लोगों के सांसारिक जीवन में जो एक विपर्यय घटित हुआ है, चिर अभ्यास के कारण उसे देखकर मन मुखर हो उठने को उतावला हो उठता है। किन्तु यदि मैं उसे बिना रोक-टोक के सच-सच बोलने दूं, तो घटना के साथ वर्णन के योग से जिस तूफान का हुंकार उठेगा, उसके आलोड़न में न तो सुख होगा और न कोई प्रयोजन ही। हर नवीन अवस्था के साथ जीवन की संगति बिठाने की चेष्टा करने में अनेक जगह घाव लगने स्वाभाविक हैं और कहीं-कहीं वे बड़े भी हो सकते हैं। जैसे कि कोई बच्चा नया-नया चलना सीखता है, तो गिर कर घायल हो जाता है। पर इसे लेकर आह-ऊह करनेवालों में जो बिल्कुल बच्चे हैं, वे तो रोने लगते हैं, किन्तु जो बुद्धिमान हैं, वे ऐसी जगह चुप रह जाते हैं। सब बातें मन में रखना ही मन की श्रेष्ठ शक्ति नहीं है, बोलनेवाली बातों को बोले जाने देना ही उसकी शक्ति का परिचायक है।

स्नेहासक्त,

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

भावुकता के कुछ क्षण

पत्र-लेखन जैसे रवीन्द्रनाथ की एक आदत या आवश्यकता-सी हो गई थी, जो उनकी स्वस्थ या अस्वस्थ अवस्था में बराबर चलती रहती थी। कई बार तो डाक्टरों के मना करने पर भी वे पत्र लिखने से बाज नहीं आते थे। एक बार उनकी पुत्र-वधू श्रीमती प्रतिमा देवी ने उनके पत्र-लेखन के इस क्रम को कम करने के लिए उन्हें पत्र लिखनेवाले कुछ आत्मीय जनों को सूचना भेज दी कि आजकल रवीन्द्रनाथ बहुत अस्वस्थ हैं, इसलिए आप लोग उन्हें कोई पत्र न लिखें, क्योंकि पत्र पाने पर उत्तर न देना उनके स्वभाव के विरुद्ध-सी बात है। इसके फलस्वरूप रवीन्द्रनाथ के पास आनेवाले भारतीय जनों के पत्रों की संख्या एकदम गिर गई, पर इससे भी उनके पत्र लिखने के क्रम पर कोई खास असर नहीं पड़ा। १६ वैशाख, १३३० बंगाब्द के पत्र में उन्होंने श्रीमती महलानवीस को लिखा :

शान्तिनिकेतन,

तर्जनियासु,

दस दिन बाद ही मेरी उम्र ६० से चलकर ७० के बीच स्टेशन पर आ पहुंचेगी। इस लम्बे-चौड़े समय में स्वदेश या विदेश के आबाल-वृद्ध-वनिता में से किसी एक ने भी मुझ से यह कभी नहीं कहा कि वे मुझ से अपने पत्रों का उत्तर नहीं पाना चाहते। लेकिन मेरी ही जन्मभूमि की एक बंगाली लड़की की यह स्पर्धा मेरे लिए दुस्सह है! इसलिए मैं तुम्हें बताना चाहता हूं कि मैं तुम्हें जवाब दूंगा, दूंगा, दूंगा ही। और मैं इस चिट्ठी का कोई जवाब नहीं चाहता, नहीं चाहता, नहीं चाहता।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

वैसे तो आत्मीय जनों की बीमारी का संवाद हर व्यक्ति से लिए दुखद ही होता है; किन्तु रवीन्द्रनाथ की प्रतिक्रिया ऐसे संवादों को पाकर कैसे होती थी, इसका एक नमूना देखिए :—

शान्तिनिकेतन,

कल्याणीयासु रानी,

अभी-अभी तुम्हारी चिट्ठी मिली है। किन्तु इसे पाकर मैं खुश हुआ हूं, यह कैसे कह सकता हूं! तुम्हारा बुखार बढ़ गया है, यह जानकर मुझे बिल्कुल ही अच्छा नहीं लग रहा। इच्छा होती है कि एकदम अपने मन्त्र-बल से जबर्दस्ती तुम्हारा बुखार झाड़ दूं। इस बीमारी के बीज ने न जाने किस मर्मस्थल में आश्रय ग्रहण किया है कि आरोग्य की कोई भी चेष्टा वहां तक पहुंच नहीं पाती। यह जानकर मेरे मन में भारी उद्वेग पैदा हो रहा है। आज मैं अभी-अभी नुटू को एक नया गीत सिखा रहा था। किन्तु तुम्हारी चिट्ठी पढ़ने के बाद मुझे ऐसी व्यथा हुई कि भीतर-ही-भीतर मैंने एक गहरी पीड़ा का अनुभव किया, जिससे मैं किसी भी तरह छुटकारा नहीं पा सका। अगर मनुष्य के मन में किसी एकान्त उत्कण्ठा की कोई शक्ति होती, तो शायद अपनी इच्छा के बल से मैं तुम्हारे शरीर को स्वस्थ कर देता। निश्चय ही फिर तुम्हें और किसी औषधि की आवश्यकता न रहती।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

एक बार रवीन्द्रनाथ काफी अस्वस्थ थे। उन दिनों वे बड़े पत्र न लिख कर सिर्फ कुछ आत्मीय जनों को छोटे-छोटे पत्र ही लिखते थे। पर इनमें भी न केवल उनके मन की क्लान्ति ही व्यक्त हुई, बल्कि कभी-कभी तो कविता का एक-आध पद भी लिखा गया। बाद में इसी को लेकर रवीन्द्रनाथ ने पूरी कविताओं की भी रचना की, जिनमें से अनेक को तो

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रवीन्द्र-काव्य में बड़ा विशिष्ट स्थान मिला। २५ चैत्र, १३३२ बंगाब्द को लिखा गया उनका एक पत्र देखिए :

शान्तिनिकेतन,

कल्याणीयासु,

आजकल मैं बड़ा क्लान्त हूं। हमेशा बस नींद ही नींद आती है। लिखते-लिखते सो जाता हूं और पढ़ना तो जैसे क्लोरोफार्म का काम करता है। बीच-बीच में कभी झरोखे के पास रखे तख्त पर तकिए के सहारे पड़ कर आधा सोता और आधा जागता हुआ जैसे किसी कोहरे में से अपने मधुमंजरी लताबितान के ऊपर आकाश में धूप और छाया की आंखमिचौनी देखा करता हूं और सोचता हूं :

भालोबेसेछिनु एइ धरणी रे
सेइ स्मृति मनेआसे फिरे फिरे
कत बसन्ते दक्षिन समीरे
भरेछे आमार साजि
आज हृदयेर छायाते अलोते
बांसुरी बेजेते आजि।†

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हार्दिकता और दूरदृष्टि

रवीन्द्रनाथ छोटे-से-छोटे और सामान्य-से-सामान्य व्यक्ति के पत्रों का भी कितना ध्यान रखते थे और उनमें लिखी बातों को पूरा करने के लिए अपने व्यस्त जीवन में भी कितने जागरूक रहते थे, इसका भी एक नमूना देखिए :

शान्तिनिकेतन,

कल्याणीयासु,

शायद तुम्हें याद होगा कि कुछ समय पहले एक बेचारे गरीब जर्मन ने मुझे अपनी डाक-टिकटों की एक कापी भेजी थी। उसका अनुरोध था कि इसके बदले में मैं उपयुक्त परिमाण में उसे भारत के डाक-टिकट भेजूंगा। तुमने मेरे पास से वह चिट्ठी और डाक-टिकटों की कापी ले ली थी और वायदा किया था कि तुम काबुल को ये टिकट देकर इनके बदले में दूसरे टिकट लेकर यथास्थान पहुंचा दोगी। पर मुझे लगता है कि तुम शायद इस बेचारे गरीब की बात भूल ही गई हो। बीच-बीच में कई बार मेरे मन में यह बात उठी और इस बारे में उत्कण्ठा भी जागी, किन्तु इस बीच तुम लोग चूंकि अनेक स्थानों की यात्रा कर रहे थे, इसलिए मैंने तुम्हें लिखा नहीं। अब निश्चय ही तुम लोगों ने अलीपुर-वेधशाला के पास ही कहीं अपनी घर-गृहस्थी जमा ली होगी। इसलिए अगर अब भी उस बेचारे जर्मन के सम्बन्ध में यथोचित व्यवस्था कर सको, तो मेरे मन का बोझ कुछ हल्का हो।

तुम्हारा,
रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अपने सहयात्रियों के सम्बन्ध में भी जब-तब रवीन्द्रनाथ ने अपने पत्रों में बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उन्हें देखकर वे अपने देश के लोगों को कभी भूल नहीं सके हैं। एक पत्र में उन्होंने लिखा है :

हमारे सहयात्रियों में एक जर्मन नृतत्वविद् दम्पति भी भारतवर्ष जा रहा है। उन्होंने शान्तिनिकेतन के इस विषय के अध्यापक का नाम भी सुना है। बातों-ही-बातों में मुझ से बोले, "सुना है कि वे भौतिक विज्ञान पढ़ाते हैं। इससे पता चलता है कि वह नृतत्वविद्या के आंकिक पहलू की चर्चा करते होंगे। हम तो केवल उनके मानविक पहलू को ही लेकर चल रहे हैं।" उसके इस मानविक पहलू का क्या अर्थ हो सकता है, इसका थोड़ा-बहुत अन्दाज उनके अध्यवसाय को देखकर ही किया जा सकता है। ये लोग दक्षिण और मध्य-भारत की आदिमजातियों का विवरण संग्रह करने के लिए भारत जा रहे हैं। हमारे यहां तो इन जातियों का विषय आज भी अज्ञात और दुर्जेय ही बना हुआ है। मैंने तो इनका नाम तक भी कभी नहीं सुना। इतना जरूर सुना है कि ये लोग बड़े दुर्गम स्थानों पर और बड़े प्रच्छन्न भाव से रहते हैं। यह जर्मन दम्पति उनकी इस प्रच्छन्नता में प्रवेश करके ही उन्हें जानना चाहते हैं। अलग किसी तम्बू में रहने से शायद आदिवासी इनसे डरें या इन पर सन्देह करें, इसलिए रात को सोने को इन्होंने बड़े-बड़े थैले साथ लिए हैं और जहाज पर भी रात में उसी में सो जाते हैं। इस प्रकार जंगलों में रहने में सांप और अन्यान्य हिंस्र जन्तुओं, अपथ्य, अनियम और बीमारियों आदि की आशंका तो है ही। फिर भी ये जैसे अपने प्राणों को हथेली पर लिए चल रहे हैं। ये अपने काम के सिल-सिले में दो साल तक भारत के जंगलों में रहेंगे। इन्हें जर्मन सरकार ने खर्च देकर भेजा है। पति के साथ उसकी युवा पत्नी भी है। इन्होंने बताया कि इनके एक बच्चा भी है, जिसे किसी आत्मीय के यहां छोड़ आए हैं। पत्नी इसलिए साथ आई है कि जंगल में कहीं पति बीमार हो जाए, तो उसकी देख-रेख कौन करेगा? रास्ते-भर पत्नी अपने पति की सहायता के लिए भारत के जंगलों के नक्शे और कई किताबें सामने रखकर नोट तैयार करती रहती है। इन लोगों के साथ अपने देश के लोगों की तुलना करने पर बड़ी शर्म आती है। जिन लोगों के बारे में ये आवश्यक सामग्री एकत्र करने के लिए इतने कष्ट-कठिनाइयां झेल कर जंगलों में भटकने चले हैं, वे कोई इनके अपने लोग नहीं हैं, सभ्य लोग भी नहीं हैं और मानव-जाति के विकास-सम्बन्धी तथ्यों को छोड़कर उनके पास से कोई और दुर्मूल्य चीज प्राप्त भी नहीं की जा सकती। हम लोग तो सभी भारत हितैषी भारतीय हैं न, पर घर से डेढ़ हाथ दूर रहनेवालों की खोज-खबर को भी हाथ-पांव नहीं हिलाते और एक ये जर्मन-दम्पति हैं, जो दुनिया के सारे ज्ञान-भण्डार के द्वार खोलने के लिए अपना घर छोड़ कर निकले हैं! हम तो जैसे सारे संसार की मिट्टी पर फटी चटाई बिछा कर उस पर डंड पेलना ही अपना धर्म और कर्म समझ बैठे हैं। इससे तो अच्छा है कि हम दुनिया की जो जगह दखल किए हुए हैं, उसे भी छोड़ दें, क्योंकि विधाता ने उसे साफ करने के लिए और भी बहुत से दूत लगा रखे हैं। इस जहाज पर मैंने दो-एक और भी दुर्जय शक्ति-सम्पन्न कर्मवीर और पंडित जर्मनों को देखा। जब उन्होंने मेरे प्रति सम्मान प्रदर्शित किया, तो मैंने अपने मन में उसे माया ही समझा।

प्रमाण बनाम सम्पूर्ण दृष्टि

किसी के मुंह पर रवीन्द्रनाथ प्रायः उसकी आलोचना नहीं किया करते थे और न ही कभी किसी से कोई अप्रिय बात ही कहा करते थे। किन्तु कौन कैसा है और क्या करता है, इस सम्बन्ध में वह पूरी-पूरी खोज-खबर रखा करते थे। मनुष्य को देखने और परखने की जो क्षमता और दृष्टि उन्होंने पाई थी, उसका कहीं-कहीं उनके पत्रों में उल्लेख भी आ गया

---

†अर्थात् मैंने इस धरणी को प्रेम किया है, यही स्मृति मेरे मन में बार-बार आती है। कितने वसन्त और दक्षिण के समीर ने मुझे सुखी और सम्पन्न किया है। आज हृदय की छाया और धूप में जैसे उसी की बांसुरी बज रही है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। उदाहरणस्वरूप 'स' नामक शान्तिनिकेतन के एक अध्यापक के बारे में उनके पास कई बार कई सूत्रों से कई तरह की शिकायतें पहुंची और उनसे कहा गया कि ऐसे आदमी को शान्तिनिकेतन से तुरन्त हटा देना चाहिए। किन्तु रवीन्द्रनाथ ने कभी भी न तो उस आदमी से कुछ कहा और न उसके खिलाफ कभी कोई कार्रवाई ही की। यथार्थ में इसका क्या रहस्य था, यह कई वर्ष बाद उनके एक पत्र से इस प्रकार प्रकट हुआ :

नोर्डेटंशर लायड ब्रीमैन,
११ नवम्बर, १९२६

कल्याणीयासु,

'स' की मृत्यु की खबर पाकर जैसे मैं उसे भूल नहीं पा रहा। कभी-कभी मैं अपने जीवन की बात सोचने लगता हूं--कितने सुदीर्घ काल से मैं जीवित हूं। कितना सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा, चेष्टा और साधना तथा कितना जटिल कांटों से बना जीवन के इतिहास का जाल बुनते-बुनते कितने दिन बीत गए? इसकी तुलना में 'स' का जीवन कितना छोटा था। उस बेचारे की तो जवानी पूरा होते-न-होते ही जीवन समाप्त हो गया। फिर भी उसके जीवन की तस्वीर बड़ी साफ है। इसमें विचित्रता चाहे कोई न हो, किन्तु अर्थ है। चारों तरफ कितने लोग कारबार करते हैं, घर-गृहस्थी बसाते हैं; पर है यह सब क्षणिक मृग-मरीचिका ही। वे एक दिन पर दूसरे दिन को रख-रख कर दिनों का स्तूप खड़ा करते हैं। किन्तु ये सब मिल कर किसी खास रूप को तो धारण नहीं करते। किन्तु 'स' का जीवन ऐसा रूपहीन जीवन नहीं था। मुझे अच्छी तरह याद है अभी उस दिन ही तो वह अमेरिका से अपनी शिक्षा समाप्त कर लौटा था। शान्तिनिकेतन में आकर उसने अपने लिए एक स्थान बना लिया था और अध्यापक का काम करता था, जैसा कि वह और किसी जगह कर सकता था, या उससे शायद कुछ ज्यादा। किन्तु 'स' ने अपने तरुण हृदय की सारी श्रद्धा जुटा कर अपने सम्पूर्ण जीवन को यहां के कार्यक्षेत्र में नियोजित किया था। इसमें सन्देह नहीं कि इसके साथ अवश्य ही उसकी जीविका का योग भी था। पर उससे कहीं ज्यादा मेरा भी योग था। वैसे तो हम सभी व्यक्तिगत प्रयोजन के अधिकार को लेकर प्रतिदिन कुछ-न-कुछ ऐसा करते ही हैं, जिसका न कोई विशेष ध्येय होता है और न जिसमें कोई प्रकाश ही होता है। उसका उद्देश्य अपने में ही शोषित होकर निःशेष हो जाता है। किन्तु 'स' का समस्त जीवन एक ऐसी साधना के साथ जुड़ गया था, जहां व्यक्तिगत प्रयोजन बहुत ही पीछे छूट जाता है। उसकी शक्ति की सम्पूर्णता यथेष्ट थी और व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि में भी उसमें क्षुद्रता का अभाव नहीं था; फिर भी उसके सारे दोषों और विरोधाभास के बीच से भी पैदा हुई सृष्टि-शक्तिशालिनी-निष्ठा प्रतिदिन उसके जीवन को एक सुषमा में परिणत करती रहती थी। आज भी मैं उसके उस श्रद्धा-प्रदीप्त जीवन की परिणति का चित्र खूब स्पष्ट रूप में देख रहा हूं। इसलिए मैं उसे और भी स्पष्ट रूप में देख पा रहा हूं कि जिस कारण से उसका जीवन स्वच्छ और सरल था, उसमें उपादानों की बहुलता नहीं थी। उसका संसार और उसकी साधना, उसका कर्म और उसका आदर्श एक ही स्थान पर मिले थे। उसकी अल्पायु को देखते हुए ये उसके जीवन में पनप सके यह उसका सौभाग्य ही समझो। पिछले कुछ दिनों से मुझे यह आशंका होने लगी थी कि उसके लिए एक आसन्न संकट का समय उपस्थित होनेवाला है। जिस सूत्र से वह कुछ समय से शान्तिनिकेतन के साथ सम्बन्धित हुआ था, वह बड़ा पतला और दुर्बल था। वह अधिक दिन टिक नहीं सकता था। उसके बाद क्या होता, मैं नहीं कह सकता। इसलिए मुझे लगता है कि शायद मत्यु के द्वारा उसने अपने जीवन की ठीक समाप्ति ही की। उस बेचारे ने अपने बुद्धि के दोष और क्षमता के अभाव में जो अपने-आपको इस स्थिति में ला पटका था, उसके लिए किसी को भी दोष नहीं दिया जा सकता। मैं यह जानता हूं कि उसने अपनी बुद्धि के दोष से शान्तिनिकेतन के प्रति विरुद्धाचरण किया था। किन्तु ये सब विरुद्ध प्रमाण लेकर ही यदि उसके बारे में विचार किया जाए, तो शायद उसके प्रति अविचार करना ही होगा। अक्सर मनुष्य के सम्बन्ध में विरुद्ध प्रमाण ही प्रत्यक्षतः प्रबल होते हैं और संख्या में भी काफी होते हैं। फिर भी मनुष्य की सत्यता इनसे पराभूत नहीं होती। पर इसे कितने लोग जानते हैं? जानते हैं केवल वे, जिनमें धैर्य है और मन में दर्द है। अगर मैंने 'स' को प्रमाणों के द्वारा ही जाना होता, तो मेरी यह जानकारी गलत होती। मैंने तो उसे सम्पूर्ण दृष्टि से ही जाना। किसी के प्रति अनुराग होने से हर वक्त उसके प्रति दृष्टि विकृत हो जाती है, ऐसी बात नहीं है; वह सम्पूर्ण भी हो सकती है। मेरी बुद्धि प्रमाण को अस्वीकार तो नहीं करती, किन्तु मेरी दृष्टि-शक्ति प्रत्यक्ष की भी श्रद्धा करती है। इन दोनों के बीच में कभी-कभी पारस्परिक विरोध भी होता है और तभी इनके रहस्य बड़े कठिन और दुखद भी हो जाते हैं। इससे मृत्यु में यह विरोध है। पर हमारे हृदय का चरम बोध कभी भी उसे चरम रूप में मानने को तैयार नहीं। किन्तु विरोध-प्रमाण का तो फिर भी अन्त नहीं और इन दोनों पक्षों की खींच-तान में ही तो बड़ी दुःसह वेदना है। मेरी 'जेते नाहि दिब' कविता ऐसी वेदना की कविता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

शालवन की फरियाद

शान्तिनिकेतन से दूर यात्राओं पर निकले रवीन्द्रनाथ का ध्यान और मन सदा शान्तिनिकेतन के शालवन और उसी के इर्द-गिर्द घूमा करते थे। शान्तिनिकेतन और उसमें काम करनेवाले जैसे सदा उनके मन-मस्तिष्क के सामने ही रहते थे और वे अक्सर उन्हीं के बारे में सोचा करते थे। जब कहीं उन्हें किसी स्थान का प्राकृतिक सौन्दर्य थोड़ा भी उससे मिलता-जुलता दिखाई पड़ता, उन्हें अपने शालवन की याद हो आती थी। एक पत्र में उन्होंने इसका बड़ा ही रोचक और प्रामाणिक वर्णन इस प्रकार किया है :

डी० फुल्डा जहाज पर
१५ दिसम्बर, १९२६

कल्याणीयासु,

कल सुबह हमारा जहाज कोलम्बो पहुंचेगा। जब मैं यूरोप की यात्रा कर रहा था, तब मैंने आज के इस दिन की बड़ी-बड़ी कल्पनाएं की थीं। हमारा जहाज अब भारतवर्ष के बिल्कुल निकट आ पहुंचा है। उज्ज्वल आकाश ने हमारे आलिंगन के लिए मानो अपनी छाती फैला दी है। जिस प्रकार शकुन्तला का बालक भरत सिंह की अयाल से खेलता था, उसी तरह शरद् की निर्मल सुनहरी धूप भी तरंगित नील समुद्र के साथ खिलवाड़ कर रही है। और वह दूर नारियल के पेड़ों की कतार बनी दिखाई पड़ती है, वह मानो अपने लम्बे-लम्बे हाथ हिला कर हमें बुला रही है। जब लंका द्वीप के खूब पास से हमारा जहाज गुजरा, तो ऐसा लगा जैसे मेरी कल्पना का वह चित्र आज प्रत्यक्ष सामने उभर आया है। मुझे लगा जैसे श्यामल-तट-भूमि का कण्ठ-स्वर मैं सुन रहा हूं। इसी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

तरुवेष्टित दिगन्त के बीच में मनुष्य के दैनंदिन जीवन की यात्रा चल रही है, यह बात जैसे आज एक नए विस्मय के साथ हम लोगों ने जानी। यह मैं जानता हूं कि जो लोग इस मिट्टी पर रह रहे हैं, वे इसके आनन्द, इसके सौंदर्य और इसकी महानता को स्पष्ट रूप से समझ नहीं पा रहे। अभ्यास हमारी चेतना को म्लान कर देता है, फिर भी जो सत्य है वह तो सत्य ही रहेगा। दूर से शान्तिनिकेतन मेरे लिए जो-कुछ है, पास से ठीक वैसा ही अच्छा न हो, पर इससे क्या प्रमाणित होता है। सच तो यह है कि दूर की दृष्टि से हम जिस समग्रता के साथ जिस चीज को देखते हैं या देख सकते हैं, वही बड़ा देखना है। नजदीक की दृष्टि से जो बाधाएं हमारे मन में आकर समष्टि को स्पष्ट नहीं देखने देतीं, वह तो हमारी शक्ति की असम्पूर्णता ही है। इसलिए हम लोग सारी आयु-भर जो जीवन-यापन करते हैं, उसे हम भली-भांति जान ही नहीं पाते। जो-कुछ पाया है, उस पर कुलबुलाते हैं और जो खो दिया है, उस पर रोते हैं। इस तरह जो पाया है, उस सब को लेकर उसकी जांच करने का अवकाश ही हम नहीं पाते। कहने का तात्पर्य यह है कि शान्तिनिकेतन के आकाश और अवकाश से परिवेष्टित हमारा जो जीवन है, उसमें सत्य ही एक सम्पूर्ण रूप है, जो कलकत्ता के सूत्राच्छन्न जीवन में नहीं है। इस सम्पूर्ण रूप में अनेक अभाव और त्रुटियां भी हैं। पर यह उसी प्रकार अप्रासंगिक है, जिस प्रकार कोई पर्वत के गढ़े को देखकर उसकी उच्चता वृथा प्रमाणित करे। शान्तिनिकेतन के द्वारा मोटे तौर पर मैं किस प्रकार अपने-आपको अभिव्यक्त कर रहा हूं, इसी से प्रमाणित होता है कि शान्तिनिकेतन मेरे लिए क्या है। बीच-बीच में उसने मुझ से न जाने कितनी फरियादें की हैं और छटपटाया भी है। पर इस रूप में नहीं। और सिर्फ मैं ही नहीं, शान्तिनिकेतन में ऐसे बहुत से लोग हैं, जिन्होंने अपने-अपने साध्य के अनुसार सुसंगति के द्वारा अपने-आपको अभिव्यक्त करने का सुयोग पाया है। तेजेश कोई विशिष्ट आदमी नहीं है, और आश्रम के इतिहास में उसका नाम शायद बड़े अक्षरों में भी नहीं रहेगा; किन्तु आज यहां से उसका चित्र एक पूरा चित्र दिखाई देता है और दैनन्दिन अप्रासंगिकता उसकी विशिष्टता को दबा नहीं सकते। और कहीं वह शायद हाईस्कूल का एक मास्टर होता किन्तु यहां वह तेजेश हुआ है। इसलिए वह खुश है! शास्त्री महाशय, नन्दलाल, क्षिति बाबू आदि सबके बारे में यही बात सच है। अगर हम यह कहें कि ऐसा जो हुआ है, वह केवल मेरे कारण ही हुआ है, तो यह बात सुनने में चाहे झूठ न होकर भी गर्वोक्ति-सी मालूम होगी। मैंने अपनी इच्छा या कार्य-प्रणाली से किसी को भी यहां बांध कर कभी भी नहीं रखा। इससे कोई असुविधा नहीं होती, यह मैं नहीं कहता। इसके लिए स्वयं भी काफी दुखित रहा हूं और मुझे असुविधा भी कम नहीं हुई है। किन्तु मोटे तौर पर इसी पर मुझे गर्व भी रहा है। अधिकांश कर्मवीरों को शायद इसमें अनुशासन की शिथिलता दिखाई पड़े, अर्थात् वे 'हां' के पहलू से न देखकर इसे 'न' के पहलू से ही देखें। पर कर्म के साथ स्वाधीनता का सामंजस्य संगठित करना यह व्यवस्था मेरी ही सृष्टि और इसका उद्भव मेरे ही स्वभाव से हुआ है। जब मैं शान्तिनिकेतन से सदा के लिए विदा हो जाऊंगा और वहां रह जाएंगी केवल संस्था, परिषद् और नियमावली, तब यह चीज नहीं रह पाएगी। बड़े-बड़े प्रतिवादों और अभियोगों के साथ लड़-झगड़ कर मैंने इतने दिन इस स्वतन्त्रता की रक्षा की है, पर जो विज्ञ और अभिज्ञ हैं, वे इस पर विश्वास नहीं करते। मेरे बाद में हाईस्कूल के मास्टरों की मनोवृत्ति से विशुद्ध ज्यामितिक नियमों द्वारा बंधी पद्धति से ही वहां का काम-काज होगा और शान्तिनिकेतन का आकाश, प्रान्तर और शालवन विमर्ष होकर उसे देखेंगे और ठंडी सांस भरेंगे। तब क्या उनकी फरियाद किसी कवि के पास पहुंच सकेगी?

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कुमारी 'प' और कवि का धर्म-संकट

अक्सर देश और विदेशों में सुपुरुष रवीन्द्रनाथ को देखकर अनेक सुन्दरियाँ उनकी ओर आकृष्ट होती थीं और बहुत-सी तो अपना सारा जीवन शान्तिनिकेतन के लिए अर्पित करने तक को उद्यत हो जाती थीं—भले ही उनमें वहाँ के लायक कोई भी योग्यता न हो। ऐसे समय में रवीन्द्रनाथ जिस तरह के धर्म-संकट में पड़ जाते थे, उसका आभास भी उनके कुछ पत्रों में मिलता है। एक बार तो जहाज़ पर यात्रा करते समय ही एक जर्मन युवती उनका पीछा इस बुरी तरह से करने लगी कि उन्हें उसकी उपस्थिति में आत्म-रक्षा के कवच के रूप में अपनी पुत्र-वधू तक की सहायता लेनी पड़ी। इसका मनोरंजक वर्णन उनके एक पत्र में इस प्रकार है:

डैसडी जहाज़,
१५ दिसम्बर, १९२६

कल्याणीयासु,

अभी रात है। कल सुबह कोलम्बो पहुँचूंगा। इस बीच कुमारी 'प' को लेकर मन में जो उथल-पुथल मची है, उसे खुलासा करके लिख देना ही ठीक होगा। पता नहीं मैं उसके सम्बन्ध में ठीक सोचता हूँ या गलत, कोई नहीं कह सकता। किन्तु रथी और उसकी बहू का मन भी खराब हुआ है, यह देखकर लगता है कि शायद अविचार ही की आशंका अधिक हो। पिछले कुछ दिनों तक कुमारी 'प' मेरी तरफ़ बहुत ज्यादा बढ़ गई है—खास तौर से रात के अंधेरे में डैक पर। इसलिए आत्म-रक्षा के लिए मुझे अपनी पुत्र-वधू को पास रखना पड़ा। इससे बहू के मन में भी जैसे कुछ टेढ़ापन दिखाई पड़ा। अन्त में मैंने उससे स्पष्ट कहा कि देखो, किसी आत्मीयजन के सिवाय और किसी को मैं अपने पास आने-जाने नहीं देना चाहता। तब से कुछ छुट्टी मिली है। चूंकि प्रशान्त रथी का टाइपराइटर ले गया है, इसलिए रथी को मेरी कुछ चीज़ें टाइप करने के लिए मजबूरन उससे टाइपराइटर माँगने जाना पड़ा। उसकी इच्छा टाइपराइटर देने की बिल्कुल नहीं थी। उसने रथी को कहा कि शायद तुम टाइप करना जानते नहीं, इसलिए मशीन खराब कर दोगे। टाइप करने की विद्या में तो महलानवीस का हाथ बड़ा कुशल है। पर इस धिक्कार को सह कर भी रथी को मजबूर होकर ज़रूरी काम के लिए उसकी मशीन का उपयोग करना पड़ा। किन्तु रथी के साथ उसका व्यवहार बैरन वंश की किसी लड़की का-सा नहीं रहा। उसकी हरकतें देखकर रथी और उसकी स्त्री बड़े उद्विग्न हुए, यद्यपि मुझसे कुछ भी नहीं कहा।

कुमारी 'प' ने बताया कि अनेक विद्याओं में वह पूरी सोलह आना पारंगत है। एक दिन प्रसंगतः उसने मेरी पुत्रवधू से कहा कि वह पौटरी में भी बड़ी दक्ष है। उसे यह नहीं मालूम था कि मेरी पुत्रवधू इस विद्या में सचमुच दक्ष है। इसलिए जब उसने 'प' से पूछा कि अच्छा ग्लेज़ करने के लिए कौनसा मसाला काम में लाया जाता है, तो पता लगा कि वह इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानती और अगर उसकी पौटरी में कोई जानकारी भी थी, तो वह मेरी पुत्रवधू से भी कम थी। इससे

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मेरी पुत्रवधू के मन में खटका पैदा हुआ। उसने उससे पूछा कि क्या तुम्हारे पास अपनी बनाई हुई कोई मूर्त्ति या चित्र या उसकी रूपरेखा है? 'प' ने चट से जवाब दिया कि नहीं, मेरी बनाई हुई सब कलाकृतियाँ तो लन्दन में बिक गईं और उसके बाद उसने अपनी कापी में और कोई चित्र नहीं आँका। किन्तु लन्दन में छोटी-बड़ी सभी कलाकृतियों का बिक जाना कोई साधारण बात नहीं है। एक्स्टाइन जैसे व्यक्ति को भी यह सौभाग्य वहाँ प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए मेरी पुत्रवधू की आशंका और भी दृढ़ हो गई। हमारे जहाज़ के जर्मन साथियों के पास भारतवर्ष और भारतीय कला-विद्या के सम्बन्ध में कई तरह की किताबें थीं और इस सम्बन्ध में कई यात्री पूछताछ भी करते थे पर 'प' ने न तो कभी भारत-सम्बन्धी किसी किताब की ही माँग की और न कोई बातचीत ही की। मुकुल के चित्र को छोड़कर भारत के सम्बन्ध में उसकी और कोई जानकारी नहीं थी। इसलिए मुझे यह भांपने में देर नहीं लगी कि भारतीय कला के सम्बन्ध में कुछ जानने की उत्सुकता के कारण यह मेरे साथ नहीं लगी है। शान्तिनिकेतन के बारे में भी उसका मन और दिमाग़ एकदम कोरे थे। जब वह लन्दन में थी, तब कभी किसी से भी उसने कुछ भी जानने की चेष्टा नहीं की——यहाँ तक कि स्वयं मुकुल से भी नहीं। यह कहना सर्वथा अत्युक्ति होगा कि शान्तिनिकेतन अथवा विश्वभारती के आदर्श से खिंच कर वह मेरे साथ हो गई थी। फिर वह इतने दिनों से जहाज़ पर जो मेरे साथ है, पर उसने एक भी ऐसा सवाल मुझसे कभी नहीं पूछा, जिससे यह पता चलता कि वह संसार से ऊबी हुई है और उसके मन को सान्त्वना चाहिए और ऐसा मेरे किसी उपदेश से हो सकता है। जहाज़ पर नाचने का उसने अपना खासा बड़ा दल बना लिया है और पिछले दिनों से इस बात का आभास मिलने लगा है कि किसी-किसी युवक के साथ उसके मधुर सम्बन्ध भी चल रहे हैं। कभी वह स्वयं इस बात का ज़िक्र करती है और फिर उसका प्रतिवाद भी करती है। किन्तु यह सब कुछ वाहियात नहीं है। पारिवारिक फ़ोटोग्राफ़ आदि की प्रदर्शनी करके उसने अपने आभिजात्य के बारे में सबको चकित कर रखा है। वह यह समझती है कि अभी भी मेरे मन में उसके प्रति कुछ संदेह है, इसलिए वह सब फ़ोटो लाकर मुझे दिखाती है। परसों ही दिखाए थे। क्या तो उसकी कला है और क्या है उसका आभिजात्य! फिर भी वह इन दोनों के जैसे काफ़ी फ़ोटोग्राफ़िक प्रमाण लिए घूमती है। हाँ, शान्तिनिकेतन के बारे में अभी तक केवल एक ही चिन्ता उसने प्रगट की है और वह यह कि वहाँ पर 'वेणीसंहार' का नाई अभी भी मौजूद है या नहीं! मैंने बराबर यह कोशिश की है कि उसके प्रति मेरे मन में कोई सन्देह पैदा न हो। उसके सम्बन्ध की और सब बातों को तो मैंने भुलाने की चेष्टा की है; पर जो एक बात मेरे मन से अभी भी नहीं हटती, वह यह है कि सर्वत्यागिनी होकर भी उसने आखिर मेरा ही हाथ किसलिए पकड़ा है। पारमार्थिक कारण से तो यह है ही नहीं। इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। साहित्यिक कारण हो सकता है। पर हठात् अभी परसों बड़े उत्साह के साथ मेरे पास आकर उसने कहा कि चिड़ियों के सम्बन्ध में एक फ्रांसीसी किताब उसके हाथ लगी है, जो वह मुझे पढ़ाना चाहती है। जब मैंने इसका कारण पूछा, तो उसने बताया कि मैंने एक बार अपनी बातचीत के सिलसिले में असावधानी से कहीं चिड़ियों के दौरात्म्य के सम्बन्ध में अपना विरोधी मत प्रकट कर दिया था। किन्तु उस पुस्तक के लेखक का मत है चिड़ियों में गुण भी बहुत होते हैं। अतएव हम में से अधिकांश का यह मत है कि छोटे जीवों में गुण-दोष दोनों होते हैं। किसी साहित्यिक रचना के बारे में मैंने उसमें पहली बार यह उत्साह देखा। पर इससे भी बड़ा उसके उत्साह का विषय था प्रशान्त। उसका कहना है कि प्रशान्त की तरह 'ह्यूमरस' व्यक्ति बहुत ही कम हैं। यह निश्चय ही परोक्ष रूप में मुझ पर कटाक्ष था। उसका यह भी कहना है कि प्रशान्त अत्यन्त बुद्धिमान की तरह उसको उपदेश देता है। समझा तुमने कि यह भी परोक्ष रूप से मेरी ही आलोचना है। पर उसने प्रशान्त की जर्मन के सम्बन्ध में मेरे सामने कोई राय प्रकट नहीं की——शायद उसके सामने की हो। पर जो भी हो, मेरे भाग्य में क्या लिखा है, कौन जाने——ट्रेजेडी या कामेडी। पर इस चिट्ठी से तो मेरी कमज़ोरी ही प्रकट होगी। किन्तु मन में दुर्बलता——अगर कोई दुर्बलता हो——तो उसे तुमसे छिपाना उचित नहीं। स्वभाव का दोष है कि मेरा मन इससे विचलित हुआ है, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसलिए मुझे अपने खिलाफ़ कमर बाँध कर अभी लड़ना है। किन्तु लगता है, जैसे कमर का यह बंधन काफ़ी ढीला हो चला है।

रवीन्द्रनाथ

सम्मान की लज्जा

यह सभी जानते हैं कि रवीन्द्रनाथ के मन में अपनी जन्मभूमि भारतवर्ष के प्रति अगाध स्नेह और श्रद्धा थी और वे उसे विदेशी पराधीनता के पाश में जकड़े शोषित और जर्जरित देखकर भयंकर पीड़ा अनुभव करते थे। अप्रैल, १९१९ में जब पंजाब के जलियाँवाला बाग़ में भारत के अनेक स्वाधीनता-कामी नर-नारियों और बच्चों को विदेशी शासकों ने अपनी गोलियों का शिकार बनाया, तो कवि की आत्मा तड़प उठी। वे कुछ तय नहीं कर पाए कि इस समय अपनी इस पीड़ा और वेदना को किस रूप में व्यक्त करें। एक दिन पंजाब से आए श्री बनवारीलाल चौधरी ने उन्हें प्रो० रुचिराम साहनी की ओर से कई आँखों-देखी बातें बताईं, जिन्हें सुनकर मानो कवि के रोम-रोम में आग लग गई। उन दिनों वे इतने अस्वस्थ थे कि सीढ़ियों से ऊपर चढ़ना-उतरना भी उनके लिए कष्टकर था और अधिक समय वे लेटे ही रहते थे। उन्होंने दीनबन्धु एण्डरूज़ को बुलाया और कहा कि अंग्रेज़ों ने भारतीयों पर जो अमानुषिक बर्बरता की है, उसका कोई भी प्रबल विरोध नहीं हो रहा। यह मेरे लिए बड़े ही दुःख की बात है। अगर महात्मा गाँधी राज़ी हों, तो दिल्ली में हम दोनों मिलें और फिर हम दोनों पंजाब में प्रवेश करने की चेष्टा करें। यही पंजाब के अमानुषिक काण्ड और वहाँ जारी किए गए मार्शल-ला का प्रतिवाद होगा।

रवीन्द्रनाथ का यह सन्देश लेकर एण्डरूज़ गाँधी जी के पास गए और कुछ दिनों बाद लौट कर आए और रवीन्द्रनाथ से पूछा कि आपकी तबियत अब कैसी है? रवीन्द्रनाथ ने उनकी बात काट कर कहा कि मैं तो अपनी बात का जवाब सुनना चाहता हूँ। इस पर एण्डरूज़ ने धीमे स्वर में कहा——"इस समय गाँधीजी पंजाब जाने को राज़ी नहीं हैं। उन्होंने कहा कि मैं इस समय सरकार को परेशान नहीं करना चाहता।"

यह सुन कर रवीन्द्रनाथ अवाक् रह गए और पाँच-सात मिनट तक कुछ भी न बोले। उनके दुर्बल शरीर पर उनकी इस मानसिक उत्तेजना और क्लान्ति का कुप्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा और बाद में पता चला

(शेष पृष्ठ ७९ पर)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

क्षुधित पाषाण

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अपने एक रिश्तेदार के साथ मैं दुर्गापूजा की छुट्टी में देशाटन समाप्त कर कलकत्ता लौट रहा था कि रेलगाड़ी में उस बाबू से भेंट हो गई। उसका पहनावा देखकर मुझे पहलेपहल भ्रम हुआ था कि वह पछाहीं मुसलमान है। उसकी बातचीत सुनकर और भी उलझन में पड़ गया। दुनिया के हर मामले में ही वह इस ढंग से बातें करने लगा मानों उसी के साथ सलाह-मशविरा कर विश्व-विधाता हर काम किया करते हैं। सारे संसार में, भीतर ही भीतर ऐसी-ऐसी अश्रुतपूर्व गंभीर घटनाएं घट रही थीं,—रूसी इतना आगे बढ़ गए हैं, अंग्रेजों के ऐसे-ऐसे छुपे मनसूबे हैं, देशी राजाओं में एक खिचड़ी-सी पक रही है—इन सभी के बारे में कुछ भी न जानकर हम लोग सम्पूर्ण रूप से निश्चिन्त बने हुए थे। हमारे नव-परिचित मित्र ने मुस्करा कर कहा,—"There happen more things in heaven and earth, Horatio, than are reported in your newspapers." (ऐ, होरेशियो, स्वर्ग और धरती पर केवल उतनी ही घटनाएं घटित नहीं होतीं जितनी अखबारों में छापी जाती हैं। उनकी संख्या कहीं अधिक होती है।)

हम लोग पहली बार घर छोड़ कर बाहर निकले थे, इसलिए उस आदमी का हाव-भाव देखकर हम लोग दंग रह गए। मामूली-मामूली बातों के सिलसिले में वह विज्ञान की चर्चा करता, तो कभी वेदों की व्याख्या करने लगता और फिर कभी फारसी के शेर सुनाने लगता। विज्ञान, वेद और फारसी में हम लोगों को कोई दखल नहीं था। इसलिए उसके प्रति हमारी भक्ति लगातार बढ़ती ही रही। यहां तक कि मेरे थियोसोफिस्ट (अध्यात्मवादी) रिश्तेदार के मन में यह दृढ़ विश्वास उपजा कि हमारे इस सहयात्री के साथ किसी अलौकिक मामले का कोई एक सम्बन्ध है, कोई एक अनोखा मेग्नेटिज्म या देवशक्ति या सूक्ष्म शरीर या वैसे ही कुछ के साथ इसका सम्बन्ध है। वे इस मामूली व्यक्ति की सारी मामूली बातों को भी भक्तिविह्वल और मुग्ध होकर सुन रहे थे और छिप कर उसे कागज पर नोट किये जा रहे थे। हाव-भाव देखकर मुझे यों लगा कि वे असामान्य व्यक्ति भी गुप्तरूप से यह समझ रहे थे और खुश भी हो रहे थे।

गाड़ी आकर जंक्शन पर रुकी तो हम लोग उतरकर दूसरी गाड़ी की प्रतीक्षा में वेटिंग रूम में इकट्ठे हुए। उस समय रात के साढ़े दस बजे थे। सुना कि रास्ते में कोई गड़बड़ी हो जाने की वजह से गाड़ी काफी देर में आएगी। इसी बीच मेज पर बिस्तर बिछाकर मैंने सोने का इन्तजाम कर लिया था। इतने में ही उस असामान्य व्यक्ति ने नीचे लिखा किस्सा सुनाना शुरू कर दिया। उस रात को मुझे फिर नींद नहीं आई।

× × ×

राजकीय व्यवस्था से सम्बन्धित दो-एक विषयों पर जब मेरा मतभेद हुआ तो मैं जूनागढ़ का काम छोड़ कर हैदराबाद के निजाम की सरकार में आ गया। मुझे कम अवस्था और मजबूत शरीर का देखकर उन लोगों ने पहले-पहल मुझे रुई का राज-कर वसूल करने भड़ौंच भेज दिया।

भड़ौंच बड़ा ही रमणीक स्थान है। निर्जन पहाड़ों के नीचे से बड़े-बड़े जंगलों में से होकर वहां की शुस्ता नदी (संस्कृत स्वच्छ तोया का अपभ्रंश हो सकता है) बिल्लोर पत्थर के टुकड़ों से मुखरित मार्ग पर कुशल नर्तकी सी पग-पग पर बल खाती, आड़ी-तिरछी होती हुई द्रुत गति से नृत्य करती हुई चली गई है। उसी नदी के तट पर पत्थर से बने डेढ़-सौ सीढ़ियों वाले ऊंचे घाट के ऊपर एक श्वेत संगमर्मर का महल पर्वत के पैरों के पास अकेला खड़ा है। आसपास कोई बस्ती नहीं। भड़ौंच की रुई की मंडी और गांव यहां से बहुत दूर हैं।

लगभग ढ़ाई सौ साल पहले, शाह महमूद द्वितीय ने अपने भोग-विलास के लिए यह महल ऐसे निर्जन स्थान में बनवाया था। उस समय इसके स्नानागार के फव्वारों के मुंह से गुलाब जल की धाराएं निकलती थीं और उसकी फुहारों से शीतल एकान्त कक्षों में संगमर्मर के बने ठंडे शिलासनों पर बैठी नवयुवती ईरानी रमणियां अपने कोमल नग्न पदपल्लवों को जलाशय के स्वच्छ जल में डाले, नहाने से पूर्व अपने केशों को खोल कर गोद में सितार लिये अंगूर-वन की गजलें गाया करती थीं।

अब न तो वे फव्वारे चलते हैं और न यह संगीत ही सुनाई पड़ते हैं और न उन सफेद पत्थरों पर गोरे-गोरे पैरों की नर्म थाप ही पड़ती है। अब वह महल हम जैसे एकान्त-वास से पीड़ित महसूल कलक्टरों का बहुत ही बड़ा और बहुत ही सुनसान वासस्थान है। लेकिन दफ्तर के बूढ़े मुंशी करीम खां ने मुझे उस महल में रहने से बार-बार मना किया था। कहा था, जी चाहे तो दिन में भले ही रहिए पर रात हरगिज वहां न बिताइएगा। मैंने यह बात हंस कर उड़ा दी। नौकरों ने कह दिया कि वे शाम तक काम करेंगे किन्तु रात को यहां पर नहीं रहेंगे। मैंने कहा, 'अच्छी बात है'। दरअसल यह मकान इतना बदनाम था कि चोर भी यहां आने की हिम्मत नहीं करते थे।

पहले-पहल जब मैं यहां आया था तो परित्यक्त पाषाण प्रासाद की निर्जनता का मेरी छाती पर एक भयानक बोझ-सा बना रहता था। मुझ से जितना सम्भव होता बाहर ही बाहर रहता और काम की थकान से चूर-चूर हो घर लौट कर सो जाता था।

लेकिन हफ्ता भर बीतते न बीतते उस महल के एक अनोखे नशे ने मुझे धीरे-धीरे घर दबाया। मेरी उस दशा का वर्णन करना भी कठिन है और उस बात पर किसी को विश्वास दिलाना और भी कठिन है। यह सारा महल मानों एक सजीव पदार्थ-सा अपने जठरस्थ मोह-रस से मुझे धीरे-धीरे पचाने लगा।

शायद इस मकान में पैर रखते ही मुझ पर यह प्रतिक्रिया शुरू हो गई थी। लेकिन जिस दिन होश की दशा में मैंने इसकी शुरुआत का अनुभव किया उस दिन की बातें मुझे साफ-साफ याद हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उस समय गर्मियों का आरम्भ था और रुई का बाज़ार ढीला था। मेरे हाथ में कोई काम भी न था। सूर्यास्त से कुछ पहले मैं नदी के किनारे उस घाट के नीचे एक आराम कुर्सी पर बैठा था। शुस्ता नदी उस समय काफी सूख गई थी। उस पार का दूर तक फैला हुआ बालू का तट डूबते हुए सूरज की आभा से रंगीन हो उठा था। इस पार घाट की सीढ़ियों के नीचे स्वच्छ छिछले जल में पत्थर की छोटी-छोटी गोल-गोल बटियां चमक रही थीं। उस दिन कहीं भी ज़रा सी हवा न थी। निकट पहाड़ से वन-तुलसी, पुदीना और सौंफ की झाड़ियों से उठती हुई गाढ़ी सुगंध ने सारे निश्चल आकाश को भारी कर दिया था।

सूरज जब गिरि-शिखर की आड़ में डूब गया तो तुरन्त दिन की नाट्यशाला में मानों एक लम्बी छाया—यवनिका-सी गिर गई। यहां बीच में पर्वत आ जाने से प्रकाश और अन्धकार का मिलन चिर-स्थायी नहीं होता। घोड़े पर सवार होकर कहीं घूम आने का विचार कर मैं उठने ही वाला था कि ऐसे ही समय में सीढ़ियों पर किसी के पैरों की थाप सुनाई पड़ी। पीछे पलट कर देखा—कोई नहीं था।

इन्द्रियों का भ्रम है ऐसा समझकर जो मैं मुड़कर बैठा तो अब की बार बहुत-सी पदध्वनियां सुनाई दीं—मानों बहुत से लोग उछलते-कूदते उतरे आ रहे हैं। तनिक भयमिश्रित एक अपूर्व पुलक मेरे सारे अंगों पर छा गई। यद्यपि मेरे सामने कोई भी मूर्त्ति न थी फिर भी प्रत्यक्ष के समान मुझे स्पष्ट लगने लगा कि ग्रीष्म की उस सन्ध्या में प्रमोद चंचल नारियों का एक दल शुस्ता के जल में नहाने उतरा है। यद्यपि इस शाप्त को, निस्तब्ध पर्वत के नीचे, नदी तट पर, निर्जन महल में, कहीं भी कोई शब्द नहीं हो रहा था फिर भी मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ा कि झरने की सहस्र धाराओं की तरह कौतूहलपूर्ण कल-हास्य करती हुई और एक-दूसरे का वेग से पीछा करती हुई स्नानार्थिनी तरुणियां मेरे शरीर के निकट निकल गईं। उन्होंने मेरी तरफ देखा तक नहीं। वे मानों मेरे लिए अदृश्य हों और मैं उनके लिए उसी प्रकार अदृश्य हूं। नदी पहले की ही तरह स्थिर थी किन्तु मुझे स्पष्ट अनुभव होने लगा कि स्वच्छतोया का उथला प्रवाह बहुत से कंगन-झंकृत बाहों से विक्षुब्ध हो उठा है, हंस-हंस कर सखियां एक-दूसरे पर जल उछाल रही हैं और तैरनेवालियों के पैरों के प्रहार से जल की बूंदें, मोतियों की फुहारों सी आकाश में उड़ रही हैं।

मेरे हृदय में एक प्रकार का कम्पन होने लगा। यह उत्तेजना भय के, आनन्द के या कुतूहल के कारण थी मैं ठीक तौर से बता नहीं सकता। मुझे बड़ी इच्छा होने लगी कि अच्छी तरह से देखूं लेकिन सामने देखने को कुछ न था, लगा कि एक बार अच्छी तरह से कान लगाकर सुनूं तो शायद उनकी सारी बातें ही साफ-साफ सुनाई पड़ेंगी। लेकिन कान को एकाग्र करने से केवल जंगल के झींगुरों की ध्वनि ही सुनाई पड़ी। लगा कि ढाई सौ साल का काला पर्दा मेरे ही सामने लटक रहा है—डरते-डरते उसका एक छोर उठाकर मैंने भीतर देखा—वहां बहुत बड़ी सभा लगी हुई थी पर गाढ़े अंधियारे में कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था।

अचानक उमस को तोड़ती हुई सनसनाती हुई एक हवा चली—शुस्ता का शान्त जल-तल देखते ही देखते अप्सरा के घुंघराले केश के समान कुंचित हो उठा, और सन्ध्या की छाया से ढकी सारी वन-भूमि क्षणभर में एक ही साथ मर्मर ध्वनि कर मानों दुःस्वप्न से जाग उठी। स्वप्न कहो चाहे सत्य मानो, ढाई सौ साल के अतीत क्षेत्र से प्रतिफलित होकर जो एक अदृश्य मरीचिका मेरे सामने उतर आई थी वह क्षण भर में न जाने कहां विलीन हो गई। जो मायाविनियां मेरे शरीर पर से देहशून्य द्रुत कदमों से, शब्दहीन उच्च कलहास्य के साथ दौड़ती हुई शुस्ता के जल में कूद पड़ी थीं वे भीगे आंचल से पानी निचोड़ती हुई मेरी बगल से होकर ऊपर वापस नहीं गईं। हवा जिस प्रकार गन्ध को उड़ा ले जाती है ठीक उसी प्रकार वसन्त की एक सांस में वे भी उड़कर कहीं चली गईं।

तब मुझे बड़ा भय होने लगा कि कहीं मुझे अकेला पाकर अचानक मेरे कंधे पर कविता देवी तो सवार नहीं हो गईं। मैं बेचारा रुई की चुंगी वसूल करके किसी तरह अपना पेट पालता हूं, कहीं यह सत्यानाशिनी मेरा बंटाधार करने तो नहीं आ गईं। सोचा, ज़रा अच्छी तरह से भोजन करना होगा—खाली पेट में ही ऐसे लाइलाज मर्ज़ भीड़ जमाते हैं। उसी वक्त मैंने अपने बावर्ची को बुलाकर काफ़ी घी मसालेदार मुर्गलिया खाना बनाने का हुक्म दे दिया।

अगले दिन सवेरे यह सारी बातें ही बड़ी हास्य-जनक-सी लगने लगीं। खुशी-खुशी साहबों की तरह सोला की टोपी पहने अपने हाथ से गाड़ी हांकता हुआ अपने काम पर चला गया। उस दिन तिमाही रिपोर्ट लिखने का दिन था इसलिए देर से घर लौटने की बात थी। लेकिन शाम होते न होते ही कोई मुझे घर की ओर आकर्षित करने लगा। कौन मुझे खींचने लगा यह नहीं बता सकता पर मन कहने लगा कि अब और देर नहीं करनी चाहिए। मन कहने लगा कि सब लोग बैठे होंगे। रिपोर्ट अधूरी छोड़ कर सोले की टोपी पहन ली। और उस सन्ध्य-धूसर तरु-छाया से ढंके सुनसान पथ को रथ के पहियों के शब्द से चौकन्ना करता हुआ उस अन्धकारपूर्ण शैलान्तवर्ती निस्तब्ध विशाल प्रासाद में पहुंच गया।

सीढ़ियों के ऊपर, सामने का कमरा बहुत ही बड़ा है। बड़े-बड़े खम्भों की तीन पंक्तियों पर मेहराबदार फैली हुई छत थी। यह विशाल कमरा अपना अगाध सूनापन लिये दिन-रात भांय-भांय किया करता था। उस दिन शाम को उस समय भी बत्ती जलाई नहीं गई थी। दरवाजा धकेलकर ज्योंही मैं उस वृहद् कमरे में दाखिल हुआ त्योंही मुझे लगा कि वहां यकायक बड़ा भारी विप्लव शुरू हो गया है।—मानों अचानक सभा भंग करके चारों ओर के दरवाजे खिड़की रास्ते बरामदे, जिसे जिधर राह मिली उधर ही भगदड़ में लग गई। कौन किधर गई कुछ पता न लगा। मैं कहीं किसी को न देखकर वाक्शून्य हो खड़ा रहा। शरीर एक प्रकार के आवेश से रोमांचित हो उठा। मानों बहुत दिनों पुरानी तेल-फुलेल और अतरों की भीनी महक मेरी नाक में घुसने लगी। मैं उस दीपक शून्य जनशून्य विशाल कक्ष के प्राचीन प्रस्तर-स्तम्भों के बीच में खड़ा हुआ सुनने लगा—झर-झर शब्द करता फव्वारे का जल सफेद पत्थर पर गिर रहा है, सितार पर कौन-सा राग बज रहा है समझ न सका, कहीं पर स्वर्ण-आभूषण की रुन-झुन तो कहीं पायलों की झंकार, कहीं विशाल तांबे के घड़ियाल पर प्रहार-सूचक ध्वनि, बहुत दूर पर नौबत की मीठी तान हवा में डोलते हुए बिल्लौर के बड़े-बड़े झाड़ों के लटकनों की टुन-टुन ध्वनि, बरामदे से पिंजड़े में बुलबुलों का चहचहाना, बाग से पालतू सारसों की पुकार—सब ने मिलकर मानों मेरे चारों ओर एक प्रेतलोक की रागिनी छेड़ दी।

मुझ में ऐसा एक मोह उत्पन्न हो गया कि लगने लगा कि यह अस्पृश्य, अगम्य अवास्तव घटना ही संसार में एक मात्र सत्य है और बाकी सब कुछ मिथ्या से भरी मरीचिका है। मैं, यानी अमुक साहब का बड़ा लड़का, अमुक नाम का मैं, साढ़े चार सौ रुपया तनख्वाह पाने वाला रुई का

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

महसूल कलेक्टर में, सोले की टोपी और छोटा कसावदार कुर्ता पहन टमटम हांक कर दफ्तर जाने वाला मैं यह अपने को समझाने लगा कि यह सभी कुछ मेरे लिए अजीब-सा मज़ाक, निरा झूठ और बे-सिर-पैर का दृश्य है। मैं उस विशाल निस्तब्ध अंधेरे कक्ष के बीच में खड़ा जोरों से ठहाका मारकर हंस पड़ा।

तब तक मेरा मुसलमान नौकर जलता हुआ कैरोसिन का लैम्प हाथ में लिये कमरे में दाखिल हुआ। उसने मुझे पागल समझा या नहीं मुझे नहीं मालूम। लेकिन उसी क्षण मुझे याद आया कि मैं स्वर्गीय अमुकचन्द्र का ज्येष्ठ पुत्र अमुकनाथ हूं, और साथ ही साथ यह भी सोचने लगा कि संसार के भीतर या बाहर कहीं पर भी अमूर्त फव्वारा हमेशा झरता है या नहीं और कहीं पर अदृश्य उंगलियों के झनकारने से किसी मायावी सितार से अनन्त रागिनी ध्वनित होती है या नहीं यह हमारे महाकवि या कविवर ही बता सकते हैं, किन्तु यह बात तो सोलह आने सच है कि मैं भड़ौंच की मंडी में रुई की चुंगी वसूल कर महीने में साढ़े चार सौ रुपये तनख्वाह लेता हूं। तब मैं अपने पूर्व क्षणों की अद्भुत मोह-माया की याद करके टेबिल के पास लैम्प के सामने बैठ अखबार देखता हुआ चस्का ले-लेकर हंसने-मुस्कराने लगा।

अखबार पढ़कर, मुर्गालिया खाना खाने के बाद मैं अपने कोने वाले छोटे से कमरे में जाकर बत्ती बुझाकर बिस्तर पर लेट गया। मेरे सामने की खुली खिड़की से अंधियारे जंगलों से घिरे अरावली पर्वत की चोटी के ऊपर एक जगमगाता हुआ सितारा करोड़ों-अरबों योजन दूर आकाश से इस तुच्छ कैम्प-खाट पर पड़े श्रीमान चुंगी कलक्टर को टकटकी लगाए देख रहा था, और मैं इससे विस्मय और कौतुक अनुभव करता हुआ कब सो गया, बता नहीं सकता हूं। कितनी देर तक मैं सोता रहा यह भी नहीं जानता। यकायक मैं सिहर कर जाग पड़ा,—कमरे में कोई आवाज़ हुई हो ऐसी बात नहीं या कोई घुस आया हो सो भी मुझे दिखाई न पड़ा। अंधकार-मय पर्वत के ऊपर से वह एक-टक सितारा डूब चुका था और अंधेरे पखवाड़े की फीकी चांदनी अनधिकार प्रवेश के संकोच से संकुचित होकर मेरी खिड़की में से अन्दर आ गई थी।

किसी व्यक्ति को देख न सका फिर भी मुझे स्पष्ट रूप से लगा कि कोई मुझे धीरे-धीरे हिला रहा है। मेरे जाग उठते ही वह कुछ न कहकर मानो केवल अपनी अंगूठियों से चमकती हुई पांचों उंगलियों से इशारा करके मुझे बड़ी सावधानी से अपने पीछे-पीछे चलने का उसने आदेश दिया।

मैं बहुत ही दबे पांव उठा। यद्यपि उस शत-प्रकोष्ठों वाले, विशाल सूनेपन से भरे, निद्रित ध्वनि और सजग प्रतिध्वनियों से गूंजते हुए उस विशाल प्रासाद में मेरे सिवा कोई और नहीं था फिर भी पग-पग पर यही शंका बनी रही कि कहीं कोई जाग न जाय। उस महल के अधिकांश कमरे बन्द रहते थे और उन कमरों में मैं कभी गया भी नहीं था।

उस रात को निःशब्द पग धरते हुए, सांस रोके मैं उस अदृश्य आह्वान करने वाली का अनुसरण करता हुआ कहां चला जा रहा था, आज भी स्पष्ट रूप से नहीं बता सकता हूं, कितने संकरे अंधियारे गलियारे, कितने लम्बे-लम्बे बरामदे, कितने स्तब्ध वृहद् सभाकक्ष, कितनी हवाशून्य छोटी-छोटी बन्द कोठरियां पार कर जाने लगा उसकी कोई इन्तहा नहीं थी।

अपनी उस अदृश्य दूती को यद्यपि मैंने आंखों से नहीं देखा था फिर भी उसकी मूर्त्ति मेरे मन से अगोचर न रही। अरब-देशीय रमणी। उसकी ढीली आस्तीनों में से संगमर्मर के बने जैसे कठिन सुडौल हाथ दिखाई दे रहे थे, टोपी के किनारे के एक झीने कपड़े का नकाब उसके मुख पर उतर आया था और उसकी कमरबन्द से एक बांकी छुरी बन्धी हुई थी।

मुझे ऐसा लगने लगा मानों 'अलिफ़-लैला' की हज़ार रातों में से कोई एक रात आज उपन्यास-लोक से उड़कर यहां चली आई है। मैं मानों अन्धकारमयी रात्रि में लुप्त बगदाद शहर की संकरी दीपहीन गलियों में किसी संकट से परे अभिसार के लिए चल रहा हूं।

अन्त में दूती मुझे एक गाढ़े नीले रंग के पर्दे के सामने लाकर सहसा ठिठक कर खड़ी हो गई और नीचे की ओर उंगलियों के इशारे से कुछ दिखाने लगी। नीचे कुछ भी न था फिर भी डर से मेरा खून सूख गया। मैंने अनुभव किया कि उस पर्दे के सामने कमखाब की पोशाक पहने, गोद में खुली तलवार लिये, दोनों पैर फैलाए एक भयानक हब्शी खोजा बैठा-बैठा ऊंघ रहा है। दूती हल्के कदमों से उसके दोनों पैरों को लांघ गई और पर्दे के एक छोर को पकड़ कर उठाया।

भीतर से कमरे का कुछ हिस्सा नजर आया जिसमें ईरानी कालीन बिछा हुआ था। भीतर तख्त के ऊपर कौन बैठा है साफ-साफ दिखाई नहीं पड़ा। सिर्फ ज़ाफ़रानी रंग के ढीले पायजामे के नीचे ज़रीदार नागरे पहने दो छोटे-छोटे सुन्दर चरण गुलाबी रंग के मख़मली आसन पर अलस भाव से पड़े दिखाई दिए। फ़र्श पर एक तरफ एक नीलाभ स्फटिक पात्र में चन्द सेब, नाशपाती, नारंगी और अंगूरों के गुच्छे रखे थे। उसके पास ही एक छोटा-सा प्याला और सुनहरे रंग की मदिरा से पूर्ण कांच का बना पात्र मेहमान के लिए इन्तज़ार कर रहे थे। कमरे के भीतर से एक अनोखे धूप की मादक सुरभि से भरा धुआं आकर मुझे मदहोश कर गया।

कांपत हुए हृदय से ज्योंही मैंने उस खोजे की फैली हुई टांगें लांघकर पार कर जाना चाहा त्योंही वह चौंक कर जाग उठा—उसकी गोद से तलवार पत्थर के फ़र्श पर झन्न से गिर पड़ी।

सहसा एक विकट चीख सुनकर चौंक कर मैंने देखा कि अपने उस कैम्प-खाट पर मैं पसीने से तर-बतर बैठा हूं—प्रभात के प्रकाश में कृष्ण पक्ष का चांद रात भर जगे हुए रोगी की तरह पीला पड़ गया है और बाहर हम लोगों का परिचित पागल मेहरअली अपनी प्रतिदिन की प्रथा के अनुसार उषाकाल के सुनसान पथ पर—"दूर रहो".. "दूर रहो" चिल्लाता हुआ चला जा रहा है।

इसी तरह से मेरे 'अलिफ़ लैला' की एक रात अचानक ही खत्म हो गई, लेकिन अब भी एक हज़ार रातें बाकी थीं।

मेरे दिन के साथ रात का बड़ा भारी विरोध उठ खड़ा हुआ। दिन को थका-मांदा शरीर लेकर काम पर जाता और शून्य स्वप्नमयी मायाविनी रात को कोसता रहता और फिर सांझ घिर आने के बाद दिन के काम-काज भरे अस्तित्व को अत्यन्त तुच्छ, झूठा और हास्यकर समझने लगता।

शाम के बाद मैं एक नशे के जाल में मदहोश सा होकर उलझ जाता था। और उस समय मैं सैकड़ों वर्ष पहले के किसी अलिखित इतिहास का कोई अनोखा व्यक्ति बन जाता और तब मुझ पर वह विलायती छोटा कुर्त्ता और कसी-कसी-सी पतलून बिल्कुल नहीं जंचते थे। तब मैं सिर पर लाल मखमल की टोपी, और बदन पर ढीला पायजामा, फूलदार क़बा और रेशमी लम्बा चोगा पहन रंगीन रुमाल पर अतर डालकर बड़े ही जतन से

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सजावट करता, और सिगरेट फेंककर गुलाब जल से भरी बहुत लम्बी व पेंचदार नली वाली फ़रशी लिये गद्दीदार ऊंची कुर्सी व मसनद पर बैठ जाता। मानों किसी अपूर्व प्रिय सम्मेलन के लिए बड़ी ही आतुरता लिये मैं बैठा रहता था।

उसके बाद जितना ही अंधेरा गाढ़ा होता रहता, उतनी ही, न जाने कैसी अद्भुत घटनाएं होती रहतीं जिनका वर्णन मैं नहीं कर सकता। ठीक ऐसा लगने लगता मानों किसी चमत्कारपूर्ण कहानी के कुछ फटे हुए अंश वसन्त के आकस्मिक झकोरे से इस विशाल प्रासाद के विचित्र कक्षों में उड़ते फिर रहे हों। उस कहानी का कुछ अंश तो मिलता और उसके बाद उसका सिलसिला खो जाता। उसका अन्त दिखाई नहीं पड़ता। मैं भी रात भर उन उड़ते हुए विच्छिन्न अंशों का पीछा करते हुए कमरों में भटकता रहता था।

इन खंड स्वप्नों की भंवर में पड़े कभी तो मुझे हिना की महक मिलती, तो कभी सितार की झंकार सुनाई पड़ जाती, तो कभी सुरभित जल की शीतल बौछारों से मिली पवन-हिलोरों में एक नायिका को बिजली की रेखा सी चमचमाती हुई लमहे भर के लिए देख लिया करता था। वही केसरिया रंग का पायजामा पहने होती, उसी के दूधिया-गुलाबी दोनों पैरों में ज़रीदार नुकीली जूतियां होतीं, उसी के पीनोन्नत वक्षों पर ज़री की फूलदार कंचुकी कसी होती और सिर पर एक लाल टोपी होती जिसकी सुनहली झालर उसके शुभ्र माथे और कपोलों को घेर लेती थीं।

उसने मुझे पागल कर दिया था। मैं उसी के अभिसार के लिये हर रात को निद्रा के पाताल-राज्य में स्वप्नों के घुमावदार पथों पर मायापुरी की गली-गली में, कोठरी-कोठरी में इधर से उधर फिरता था।

किसी-किसी दिन शाम को जब मैं बड़े दर्पण के दोनों ओर दो बत्तियां बड़ी ही दिलचस्पी के साथ अपने को शाहजादा की तरह सजाने में मशगूल रहता तो आइने में मेरी परछाईं की बगल में क्षण भर के लिये उस तरुणी ईरानी की छाया आ ठहरती। और उसी लमहे भर में वह गर्दन टेढ़ी कर, अपनी बड़ी-बड़ी गाढ़ी काली पुतलियों वाली आंखों से अपने हृदय का गहरा आवेश और तीव्र वेदना प्रकट करती, आग्रह-भरी तिरछी चितवन डाल कर, सरस सुन्दर बिम्बाधर में एक अस्फुट भाषा का अभास-मात्र देती हुई, लघु ललित नृत्य से अपनी यौवन-पुष्पित देहलता को वेग से ऊपर की ओर आवर्तित कर क्षण भर में वेदना, वासना और विभ्रम के हास्य-कटाक्षों की बौछार करती हुई और आभूषणों की चमक की चिगारियां बरसाती हुई दर्पण में ही विलीन हो जाती। गिरि-कानन की सारी सुगन्ध लूट कर एक उद्दाम पवन का झोंका आकर मेरी दोनों बत्तियों को बुझा देता। मैं अपनी वेश-भूषा छोड़कर वेश-कक्ष के कोने में अपने बिस्तर पर पुलकित देह लिये आंखे बन्द किये लेटा रहता। मेरे चारों ओर उस हवा में, उस अरावली गिरिकुंज के सारे सुप्त सौरभ में मानों अनेक प्यार, अनेक चुम्बन अनेक कोमल कर स्पर्श एकान्त अन्धकार को पूर्ण करते हुए तैरते रहते थे। मेरे कानों के पास अनेक कल-गुंजन सुनाई पड़ती, मेरे माथे पर सुवासित सांस आ लगती और भीनी खुशबू से भरा झीना दुपट्टा उड़-उड़ कर मेरे माथे को स्पर्श करता रहता। धीरे-धीरे एक मोहिनी नागिनी अपनी मादक लपेट में मेरा सारा अंग बांध डालती और मैं तृप्ति की सांस ले अपनी सुन्न देह लिये गहरी नींद में सो जाता।

एक दिन तिपहर को घोड़े पर सवार हो कर घूमने जाने का मैंने निश्चय किया। पता नहीं कौन मुझे मना करने लगी—लेकिन उस दिन मैंने उसकी एक न सुनी। एक खूंटी पर मेरा साहबी हैट और छोटा कुर्त्ता टंगा था। मैं उन्हें उतारकर पहनने वाला ही था कि ऐसे समय शुस्ता नदी का बालू और अरावली पर्वत की सूखी पत्तियों का झंडा फहराता एक बवंडर अचानक आ धमका और मेरे उस हैट कुर्त्ते को न जाने कहां उड़ाता हुआ लेकर चला गया। और उसी के साथ-साथ एक मीठी पर ऊंची हंसी उस बगुले के साथ घूमती हुई, कौतुक की सभी चाभियों पर चोट करती हुई, ऊंचे सप्तक पर चढ़ती सूर्यास्त-लोक में विलीन हो गई।

उस दिन घुड़सवारी न की जा सकी और उस दिन से मैंने वह हास्य-जनक कसा कुर्त्ता और हैट पहनना छोड़ दिया।

फिर उसी दिन आधी रात को बिस्तर पर उठकर बैठा और सुना मानों कोई दिल-तोड़ कर सिसक रही है—मानों मेरे तख्त के नीचे से, फर्श के नीचे से, इस विशाल प्रासाद की पत्थर की नींव के नीचे से, एक दम अंधेरी कब्र से वह रो-रो कर कह रही है, "मुझे तुम आज़ाद कर ले चलो। इस कठोर माया, इस गहरी नींद और निष्फल स्वप्नों के सारे दरवाजे तोड़ कर तुम अपने घोड़े पर मुझे बिठाकर, अपनी छाती से सटाकर जंगल के भीतर से, पहाड़ी के ऊपर से, नदी पार करके, सूर्यालोक से प्रकाशित अपने कमरे में ले चलो। मुझे आजाद कर दो।"

मैं कौन हूं? मैं कसे तुम्हें आजाद कर दूं? मैं इस घूमते और बदलते हुए सपनों के प्रवाह में से किस डूबती हुई कामना-सुन्दरी को निकालकर किनारे लगाऊं? तुम कहां थीं? हे दिव्यरूपिणी! तुम कहां थीं? किस शीतल सोते के पास, खजूरों की छाया में, किस गृहशून्य मरुवासिनी की गोद में तुम ने जन्म लिया था? तुम्हें कौन बद्दू डाकू, बनलता से फूल की कली की तरह, मां की गोद से तोड़कर, बिजली की चाल चलने वाले घोड़े पर बिठाकर, रेगिस्तान के जलते हुए बालू को पार करके, किस महल के बांदी-बाजार में बेचने के लिए ले आया था? वहां किस बादशाह के नौकर ने तुम्हारी नवविकसित, सलज्ज कातर यौवन-शोभा निहार कर सोने के सिक्कों से तुम्हें खरीद लिया था और समुद्र पार कर सोने की पालकी में बिठाकर तुम्हें अपने मालिक के जनानखाने के लिए भेंट चढ़ा गया था। वहां का इतिहास कैसा था? वहां की सारंगी की धुन, पायलों की झंकार और सुनहरी शिराजी शराब के बीच लपलपाते खुरों की चमक, विष की ज्वाला, चितवनों की चोट—कैसी थी वह? कितनी बेशुमार दौलत थी और कितना अनन्त कारागार था वह? दोनों ओर दो बांदियां कंगन पर जड़े हीरे के नग चमकाती हुई चंवर डुला रही थीं। शहंशाह बादशाह उसके गोरे पांवों के नीचे मानिक-मोतियों से जड़ी हुई जूतियों के पास लोट रहे थे। बाहर दरवाजे के पास यमदूत सा हब्शी, देवदूत जैसी पोशाक पहने, हाथ में नंगी तलवार लिये खड़ा था। उसके बाद उस रक्तपात से अपवित्र, ईर्ष्या के फेन से भरा, षड्यंत्रों से पूर्ण, भीषण उज्ज्वल दौलत के प्रवाह में बहती हुई, मरुभूमि की कुसुम-कली तुम, किस निर्दय मृत्यु के तट पर जा अटकीं या उससे भी अधिक निष्ठुर कठोर महिमातट पर फेंक दी गईं?

ऐसे ही समय वह पागल मेहरअली चिल्ला उठा, "दूर रहो, दूर रहो। झूठा है, सब झूठा है।" आंखें खोलकर देखा, सवेरा हो गया है। चपरासी ने आकर डाक की चिट्ठियां दीं और बावर्ची ने आकर सलाम करते हुए पूछा, "आज क्या खाना बनेगा?"

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मैंने कहा, "नहीं, अब इस मकान में और नहीं रहना है।" उसी दिन अपना सब असबाब-सामान लेकर मैं दफ्तर के कमरे में जा पहुंचा। दफ्तर का बूढ़ा क्लर्क करीम खां मुझे देखकर कुछ मुस्कुराया। मुझे उसकी मुस्कराहट से कुछ झुंझलाहट सी हुई और बिना जवाब दिये मैं अपना काम करने लगा।

जितनी ही शाम निकट आने लगी, उतना ही मैं अनमना सा होने लगा। लगने लगा कि अभी जल्दी ही मुझे कहीं जाना है। रुई का हिसाब जांचना बिल्कुल अनावश्यक मालूम होने लगा। निजाम की निजामत भी मुझे कोई खास बड़ी चीज नहीं मालूम हुई। मेरे चारों ओर जो कुछ भी विद्यमान है, जो कुछ भी चल-फिर रहा है, मेहनत–मुशक्कत कर रहा है, खा-पी रहा है, सभी कुछ मुझे बहुत ही नाचीज, बिल्कुल बेमतलब का और गरीबी से भरा लगने लगा।

मैंने कलम फेंक दी, भारी बही-खाते बन्द कर दिए। फौरन टमटम लेकर रवाना हो गया। देखा ऐन गोधूलि की वेला में टमटम खुद-ब-खुद उस पाषाण-प्रासाद के फाटक के सामने जा खड़ी हो गई। और मैं फुर्तिले कदमों से सीढ़ियां तय करता हुआ कमरे में दाखिल हो गया।

आज बड़ा सन्नाटा था। अन्धेरे कमरे मानों नाराज होकर मुंह फुलाए बैठे हैं। पश्चाताप से मेरा हृदय भर उठने लगा, लेकिन कहूं तो किस से कहूं। किस से माफी मांगूं––कोई ढूंढ़े न मिला। सूना मन लिये मैं हर कमरे में घूमने लगा। जी करने लगा कि एक साज हाथ में लेकर किसी के उद्देश्य में गाऊं, कहूं, "ऐ मेरी शमा जो परवाना तुम्हें छोड़कर भागने की कोशिश कर रहा था वह फिर मरने के लिए आ पहुंचा है। अब की बार उसे क्षमा कर दो, दोनों पंख जला कर उसे खाक कर दो।"

अचनाक मेरे माथे पर दो बून्द आंसू गिरे। उस दिन अरावली पर्वत की चोटी पर घनघोर बादल घिर आए थे। अन्धकारमय अरण्य और शुस्ता का स्याह पानी एक भीषण प्रतीक्षा में स्थिर थे। जल-थल-आकाश सहसा सिहर उठे और अकस्मात एक आंधी अपने बिजली के समान दांत कड़कड़ाती हुई, जंजीर को तोड़कर भागे हुए उन्मत्त पागल के समान दूर जंगल से चीखती-चिल्लाती झटपती चली आई। प्रासाद के बड़े-बड़े खाली सूने कमरे, दरवाजे पटक-पटक कर तीव्र वेदना से हाहा कर रोने लगे।

आज सभी नौकर दफ्तर वाले मकान में थे––आज यहां बत्ती जलाने वाला भी कोई नहीं था। और उस बादलों से ढकी अमावस की रात में महल के भीतर उस कसोटी-से काले अंधेरे में मैंने यह स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि एक रमणी पलंग के नीचे गलीचे पर औंधी पड़ी हुई अपनी कसी हुई मुट्ठियों द्वारा अपने बिखरे हुए बाल नोच रही है। उसके गोरे माथे से खून बह रहा है। कभी तो वह शुष्क और तीव्र कहकहा लगाने लगती तो कभी फूट-फूट कर रोने लगती। कभी दोनों हाथों से अपनी अंगिया फाड़कर वह नग्न वक्ष पीटने लगती। खुली खिड़की से हवा गरजती हुई आ रही है और मूसलाधार वर्षा आकर उसकी सारी देह भिगो रही है।

न तो सारी रात तूफान रुका और न उसका रोना ही बन्द हुआ। मैं रात भर व्यर्थ पछतावा लिये अंधेरे कमरों में भटकता रहा। कहीं कोई नहीं, किसे तसल्ली दूं? ऐसा न मनाया जा सकने वाला प्रचंड रूठना किसका है? यह अशान्त विलाप कहां से आ रहा है?

इतने में पागल चिल्ला उठा, "दूर रहो, दूर रहो। झूठा है, सब झूठा है।"

देखा, सवेरा हो गया है और मेहरअली ऐसे आंधी-पानी वाले दिन पर भी अपने नियम का पाबन्द, उस प्रासाद का चक्कर लगाता हुआ रोज की तरह चिल्ला रहा है। यकायक मुझे यह ख्याल आया कि शायद यह मेहरअली भी, मेरी ही तरह, इस प्रासाद में रह चुका है और आज पागल होकर निकल जाने के बाद भी इस पाषाण-राक्षस की मोह माया से खिचकर रोज सवेरे इसके चारों ओर चक्कर लगाने आता है।

उसी वक्त बारिश में भीगता हुआ मैं दौड़कर पागल के पास गया और उससे पूछने लगा, "क्यों मेहरअली, क्या झूठा है रे?"

मेरी बात का कोई जवाब न देकर उसने मुझे धक्का मारकर गिरा दिया। फिर अजगर की सम्मोहक शक्ति से बंधा हुआ पक्षी जिस प्रकार उसके चारों ओर चक्कर लगाता हुआ उड़ता है और उसके ग्रास को छोड़ नहीं पाता उसी तरह वह उस महल के चारों ओर चक्कर लगाने लगा। फिर सारी शक्ति एकत्रित कर वह बार-बार अपने को सतर्क और सावधान करने के लिए चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगा, "दूर रहो, दूर रहो। झूठा है, सब झूठा है।"

उसी आंधी पानी में पागल की तरह भागता हुआ मैं दफ्तर गया और करीम खां को बुलवाकर मैंने पूछा, "इसका मतलब क्या है, मुझे खोल कर साफ-साफ बताओ।"

वृद्ध ने जो कुछ कहा उसका सारांश यह है कि किसी समय उस प्रासाद में असंख्य अतृप्त वासनाएं और अनेक उन्मत्त संभोग की शिखाएं जला करती थीं। इन्हीं चित्तदाहों और निष्फल कामनाओं के अभिशाप से इस प्रासाद का एक-एक पत्थर का टुकड़ा भूखा और प्यासा तड़प रहा है और जिन्दा आदमी पाने पर खून के प्यासे पिशाच की तरह उसका खून पीकर अपनी प्यास बुझाना चाहता है। आज तक जितने भी लोग उस महल में तीन रातें रह चुके हैं उनमें से सिर्फ मेहरअली ही पागल होकर बाहर निकल आ सका है वर्ना आज तक उसके ग्रास से कोई भी निकल नहीं सका है।

मैंने पूछा, "मेरी मुक्ति का क्या कोई रास्ता नहीं है?"

वृद्ध ने कहा, "एक ही रास्ता है पर वह बड़ा ही दुरूह है। वह तरकीब तुम्हें बताता हूं पर उसस पहले गुलबाग की एक ईरानी बांदी का पुराना इतिहास बताना बहुत जरूरी है। वैसी आश्चर्यजनक और हृदयविदारक घटना शायद ही दुनिया में कभी और हुई हो।"

ऐसे ही समय स्टेशन के कुलियों ने आकर खबर दी कि गाड़ी आ रही है। इतनी जल्दी? झटपट बिस्तर-बंडल बांधते ही गाड़ी आ धमकी। उस गाड़ी के फर्स्ट क्लास के डिब्बे से, नींद से जागा हुआ एक अंग्रेज मुसाफिर खिड़की में से मुंह निकालकर स्टेशन का नाम पढ़ने की कोशिश कर रहा था। वह हमारे उस सहयात्री मित्र को देखते ही 'हैलो', कहकर चिल्ला उठा और हाथ के इशारे से उसने उसे अपने डिब्बे में बुला लिया। हम लोग एक सेकंड क्लास के डिब्बे में सवार हो गए। फिर उस बाबू साहब का कुछ पता न लगा और किस्से का आखिरी हिस्सा भी हम न सुन सके।

मैंने कहा, "यह आदमी हम लोगों को बेवकूफ समझकर मजाक-मजाक में बुद्धू बना गया। यह किस्सा शुरू से आखिर तक मनगढ़न्त है।"

इस विषय में अपने उस अध्यात्मवादी रिश्तेदार के साथ मेरी बहस इतनी जोरदार हुई कि उसके साथ जीवन भर के लिए मेरा सम्बन्ध टूट गया।

अनुवादक : प्रबोधकुमार मजूमदार

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MiDi

रवीन्द्र का प्रारम्भिक कवि-जीवन

इलाचन्द्र जोशी

रवीन्द्रनाथ का जन्म किसी काव्यात्मक वातावरण में न होकर कलकत्ता शहर के कृत्रिम जीवन के बीच एक कृत्रिम चहार-दीवारी के भीतर हुआ। पर जोड़ासांकों के ठाकुर भवन का वह बद्ध वातावरण उनकी जन्मजन्मान्तरीण काव्य-साधना की अखंड प्रवाह-धारा को रोकने में नितान्त असफल रहा।

कविता लिखने का चस्का शिशु रवीन्द्रनाथ को पहले-पहल कब और कैसे लगा, इस तथ्य का ठीक-ठीक निर्धारण आज सम्भव नहीं है। फिर भी कवि ने आत्म-जीवनी में इस सम्बन्ध में जो संकेत दिया है, वह काफी दिलचस्प है। उन्होंने लिखा है कि जब उनकी उम्र सात-आठ साल की थी तब एक दिन उनके भांजे ज्योतिप्रकाश ने, जो उम्र में कवि से काफी बड़े थे, दोपहर में अपने कमरे में ले जाकर कहा : "तुम्हें पद्य लिखना ही होगा।" और यह कह कर उन्होंने इस जन्मजात काव्यात्मा-शिशु को यह गुप्त-मन्त्र बता दिया कि बंगला के बहु-प्रचलित पयार छंद की पंक्ति में चौदह अक्षरों को किस तरह संजो कर कविता रचना की जा सकती है। इस गुरु-मन्त्र को पाते ही बालक को जैसे अपने पूर्व जन्मों के कवि-रूपों की सुध हो आई और इस नए खेल में वह तन्मय और आत्म-विभोर हो गया। तब से शिशु रवीन्द्रनाथ ने एक बढ़िया नीले कागज की कापी अपने पास रख ली और उसमें अपने ही अन्तर-कोश से निकाले गए शब्द-सूत्रों द्वारा तरह-तरह के डिजाइनों के काव्य-जाल बुनने में वह अपूर्व उल्लास का अनुभव करने लगे।

यह खेल तब से निरन्तर चलता रहा। शिशु कवि के इस गैबी खेल का ढिंढोरा सारे मकान में (जो अपने-आप में एक काफी बड़ी दुनिया थी) बहुत जल्दी पिट गया। काफ़ी समय बाद एक दिन कवि के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर को भी किसी ने बता दिया। उन्होंने कौतुकवश बालक कवि को कापी सहित बुलाया। मोती के से सुन्दर अक्षरों में बड़ी ही सुन्दर सजावट के साथ उसमें विविध प्रकार की कविताएं भरी हुई थीं। पढ़कर महर्षि बहुत मुस्कराए। उस मुक्त मुस्कान में उपहास का पुट छिप न पाया। फिर भी महर्षि को इतना सन्तोष तो हुआ ही कि उनका चौदहवां पुत्र, सब से छोटा लड़का अच्छे और शुद्ध अक्षर लिखता है और साहित्यिक विषयों में दिलचस्पी लेने लगा है।

पर अनुभूतिशील बाल-कवि को अपनी कविता के सम्बन्ध में पिता की वह उपहासात्मक मुस्कान कभी नहीं भूली। अन्त में एक दिन इस उपहास का बदला उन्होंने चुका ही दिया।

अपनी जीवन-स्मृति में कवि ने स्वयं बताया है कि एक बार उन्होंने अपना लिखा एक गीत अपने पिता को सुनाया। गीत की प्रथम दो पंक्तियां इस प्रकार थीं :

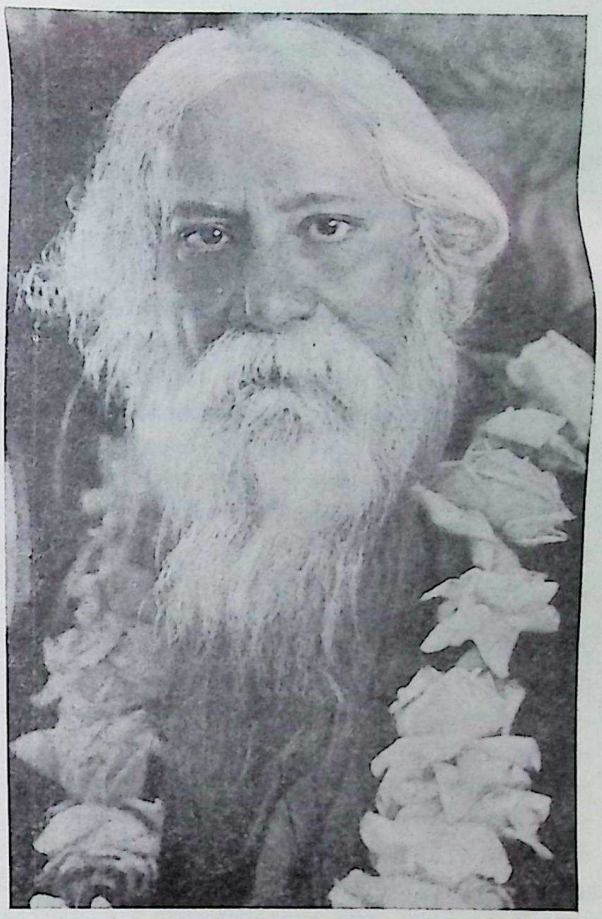

गुरुदेव के ७१वें जन्म-दिवस पर ईरान में लिया गया चित्र

नयन तोमाय पायना देखिते
रयेछो नयने नयने।

'आंखें तुम्हें नहीं देख पातीं, यद्यपि तुम सबकी आंखों-आंखों में समाए हुए हो।'

इस गीत को भक्ति-प्राण महर्षि ने भाव-गद्गद् होकर गम्भीर मौन के साथ सुना। जब पूरा सुन चुके तब आवेश में आकर सहसा उठ खड़े हुए और तत्काल ५०० रु० का एक चेक बालक कवि के नाम लिखकर,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उसे प्रदान करते हुए बोले : "यदि हमारे अधिकारी हमारी भाषा समझते तो वे इस कविता पर बहुत बड़ा पुरस्कार देते, पर जब उनसे अभी कोई आशा नहीं है तो मैं ही यह पुरस्कार देता हूं।"

प्रारम्भ में ही बालक कवि ने अपने अभ्यास को इस हद तक बढ़ा दिया था कि उनकी रचनाएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छद्म नामों से छपने लगीं। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के हस्ताक्षर से उनकी पहली रचना काफ़ी बाद में छपी। इस रचना का शीर्षक था 'हिन्दू मेले का उपहार।' यह कविता तत्कालीन द्विभाषिक 'अमृत बाजार पत्रिका' में छपी थी।

'हिन्दू मेला' उन दिनों एक प्रमुख राष्ट्रीय संस्था थी। इस संस्था के नवें अधिवेशन (सन् १८७६) के अवसर पर जब मेले की तरफ से कवि के पास यह फ़रमाइश आई कि अवसर के उपयुक्त एक कविता आकर पढ़ें तब उनके उत्साह की सीमा न रही। राष्ट्रीय गौरव की भावना तो जन्म से ही कवि के रक्त में कूट-कूट कर भरी थी। इसलिए एक प्रतिष्ठित वातावरण में अपने उद्गारों को अपने नए माध्यम से प्रसारित करने की लालसा को वह दबा न सके। उन्होंने कविता पढ़ी, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई। पर यह एक साधारण राष्ट्रीय कविता थी, जिसमें किशोर हृदय का पूरा आवेग भरा हुआ था। स्वदेशी-जागरण के उस नव-युग में केवल रवीन्द्रनाथ ही नहीं, ठाकुर परिवार के प्रायः सभी सुशिक्षित व्यक्ति राष्ट्रीय कविता लिखने की तीव्र प्रेरणा का अनुभव कर रहे थे। द्विजेन्द्रनाथ, सत्येन्द्रनाथ, गणेन्द्रनाथ आदि सभी राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत कविताएं बड़े उत्साह के साथ लिखते चले जाते थे।

इसी युग में एक और उल्लेखनीय राष्ट्रीय कविता किशोर कवि ने लिखी थी—लार्ड लिटन के दिल्ली दरबार के अवसर पर। अपनी 'जीवन-स्मृति' में इस सम्बन्ध में कवि ने स्वयं लिखा है : "लार्ड कर्ज़न के समय दिल्ली दरबार के विषय पर मैंने एक गद्य-निबन्ध लिखा था, पर लार्ड लिटन के समय लिखा था पद्य में। उस युग की अंगरेज़ सरकार केवल रूस से ही भयभीत थी, चौदह-पन्द्रह साल के बालक-कवि की कोई चिन्ता उसे नहीं थी।"

रवीन्द्रनाथ के अग्रज ज्योतिरिन्द्रनाथ ने 'भारती' नाम से एक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ कर दिया। इससे यह लाभ हुआ कि किशोर-कवि रवीन्द्रनाथ को अपनी विविध-विषयक साहित्यिक रचनाओं के प्रकाशन के लिए एक सुगम माध्यम मिल गया। 'भारती' में वह केवल कविताओं से सम्बन्धित नए प्रयोग ही नहीं करते जाते थे, वरन् गद्य भी धड़ल्ले से लिखने लगे। अपनी नए ढंग की अनुभूतियों और कविताओं के लिए उपयुक्त क्षेत्र बनाने के उद्देश्य से वह साहित्यिक आलोचनाएं भी बड़े ज़ोरों से लिखने लगे।

उनकी विद्रोही और विस्फोटक प्रतिभा का सब से पहला नमूना इस युग के साहित्यकारों और साहित्य-प्रेमी पाठकों को 'भारती' के पहले ही अंक में मिला, उस युग के सर्वसम्मति से सर्वश्रेष्ठ काव्य 'मेघनादवध' पर लिखी गई उनकी तीव्र आलोचना से। उस सुप्रतिष्ठित प्रतिभाशाली और 'अमर' माने जाने वाले महाकाव्य का जब सोलह-वर्षीय प्रतिभाशाली कवि ने अपने पैने आलोचनाशास्त्र से निर्मम विश्लेषण किया और उसे एक अत्यन्त साधारण और अमौलिक महाकाव्य प्रमाणित करने में कोई बात उठा नहीं रखी, तब सब की आंखें इस नए लेखक की ओर केन्द्रित हो उठीं। इसी तरह बंकिमचन्द्र का भी विरोध साहित्याकाश के नवोदित धूमकेतु ने किया।

'भारती' में किशोर कवि ने अनेक स्फुट कविताएं, गीत, छोटी कहानियां, उपन्यास और विविध-विषयक निबन्धों के अतिरिक्त एक खण्ड काव्य भी लिखकर प्रकाशित कराया। इस खण्ड काव्य का नाम रखा गया 'कवि-काहिनी'। इसकी रचना माइकेल मधुसूदन दत्त द्वारा प्रवर्तित अमित्राक्षर (अतुकांत) छंद में हुई थी।

अपनी 'जीवन-स्मृति' में रवीन्द्रनाथ ने अपने इस प्रारम्भिक खण्ड काव्य की 'बचकानी शैली' और 'अपरिपक्व' भाव का परिहास स्वयं उड़ाने का प्रयत्न किया है। बंगला साहित्य के आलोचकों ने भी इसके महत्व की उपेक्षा की है। पर आज जब हम तटस्थ दृष्टि से किशोर कवि के इस भूले हुए काव्य का विचारपूर्वक अध्ययन करते हैं तब यह देखकर हमारे आनन्द और आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता कि सोलह-सत्रह वर्षीय किशोर कवि के अन्तर में विश्व-प्रकृति और विश्व-जीवन के सभी रूपों की गहन रहस्यमय अनुभूति किस तीव्रता में वर्तमान थी। जो सब से बड़ी बात इस काव्य के अध्ययन से हमारे सामने आती है वह यह है कि उस छोटी उम्र में ही कवि पृथ्वी के भीतरी और बाहरी संघर्षों के फलस्वरूप भावी मानव-जीवन की सुन्दर, मंगलमय और सामंजस्यमूलक परिणति की बात पर गम्भीरता से विचार करने लगा था—केवल कोरी भावुकता के आधार पर नहीं, बल्कि जीवन-विकास के निश्चित नियमों के सम्बन्ध में काव्यगत और विज्ञानगत दोनों प्रकार की धारणाओं की समन्वयात्मक अनुभूति द्वारा।

'कवि की कहानी' का नायक एक कवि है जो एक विजन कुटीर में अपना प्रारम्भिक जीवन बिताता है और प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसके रहस्यों की जानकारी भी प्राप्त करता रहता है। वह यह भी अनुभव करता है कि आज भी प्रकृति का अन्तर्विकास और सृजन-क्रिया रुक नहीं गई है :

सर्वव्यापी निशीथेर अंधकार गर्भे
एखनो पृथिवी जेन होतेछे सृजित।

'सर्वव्यापी काल-रात्रि के अंधकार गर्भ में आज भी पृथ्वी का सृजन जैसे निरन्तर नए-नए रूपों में होता चला जा रहा है।'

पर प्रकृति के रहस्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार का एकांत चिन्तन चिर-एकाकी कवि को शान्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं होता। सुख-दुखमय मानव-जीवन के संसर्ग के बिना उसका अन्तर्मन तनिक भी चैन नहीं पाता। वह प्रकृति का विजन क्रोड़ त्यागकर मानव-समाज के बीच में आता है और सहस्र बंधनों के बीच में मुक्ति का स्वाद लेना चाहता है। पर जीवन के प्रतिदिन के संघर्ष की कटुता को दूर करने का कोई उपाय खोज नहीं पाता। वह जीवन के अनन्त प्रवाह के बीच में भटक जाता है। व्यक्तिगत जीवन की असफलता और सामाजिक जीवन की विषमता से वह तिलमिला उठता है। वह फिर एकान्त चिन्तन के लिए मानव-जाति के युग-युग के उत्थान-पतन के चिर द्रष्टा हिमालय का आश्रय लेता है। उस निष्कलंक उच्चता से भविष्य की ओर अपनी दूरदर्शी आंखें केन्द्रित करने पर एक महान भक्त उसके आगे भासित होने लगता है। इसी सिलसिले में वह हिमगिरि से प्रश्न करता है :

'हे देव! यह अशान्ति कब दूर होगी? अत्याचार के असहनीय भार से पीड़ित होकर आज पृथ्वी कराह रही है। सुख और शान्ति ने

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जैसे विदाई ले ली है। इस रजनी का अन्त कब होगा? उस दिन की प्रतीक्षा है जब प्रभात के तुहिन-बिंदुओं से स्नान करने के बाद तरुण रवि की किरणों के प्रकाश में पृथ्वी फिर हंसेगी। असंख्य मानवगण एक कंठ से समता का गीत गाकर समस्त स्वर्ग को गुंजा देंगे। न कोई दरिद्र रहेगा, न कोई धनी, न कोई अधिपति रहेगा न कोई नौकर। सभी सब की सेवा के लिए सब समय तत्पर रहेंगे। हे गिरिवर, वह दिन निश्चय ही आएगा। मैं उस सुदूर भविष्य को आज अपनी अन्तर्दृष्टि से स्पष्ट देख रहा हूं जब कोटि-कोटि मानव-हृदय एक प्रेम में बंध कर एक सूत्र में गुंथ जाएंगे।'

यह कविता लिखी गई थी १८७८ में--जब कवि की उम्र १७ वर्ष की थी। इस कविता से एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि रवीन्द्रनाथ में रोमांटिक प्रवृति जन्मजात होने पर भी उस प्रवृत्ति को उन्होंने कभी व्यक्तिगत प्रेम या आशा-निराशा के भीतर सीमित नहीं होने दिया। प्रारम्भ ही से वह अपनी वैयक्तिक प्रवृत्तियों को विश्व-प्रकृति और विश्व-जीवन के साथ सम्बद्ध रूप में देखने के आदी रहे हैं।

इस बीच किशोर कवि नवयौवन के प्रांगण में प्रवेश करते-न-करते दो बार इंगलैंड हो आए। दूसरी बार उन्हें बैरिस्टरी पास करने के लिए भेजा गया था, पर पढ़ाई में जी न लगने के कारण वह बीच ही में लौट आए थे--१८८० के फरवरी महीनें में। इन्हीं दिनों उन्होंने दो गीति-नाट्य लिखे--'वाल्मीकि प्रतिभा' और 'भग्न-हृदय'। 'रुद्रचंड' नाम से एक नाट्यकाव्य भी उन्होंने इन्हीं दिनों लिखा।

'वाल्मीकि-प्रतिभा' ने यह सिद्ध कर दिया कि गीतात्मकता के क्षेत्र में भी रवीन्द्र-प्रतिभा किस खूबी से चमक सकती है। इस नाटक ने बंगाल में संगीत के क्षेत्र में एक नई और ऐतिहासिक क्रान्ति की लहर बहा दी। इसमें देशी और विदेशी सुरों के मिश्रण से पहली बार कई नई धुनें सुनी गईं। यह नाटक 'विद्वज्जन-समागम-सभा' के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर ठाकुर-भवन में ही खेला गया था। रवीन्द्रनाथ स्वयं वाल्मीकि की भूमिका में अवतरित हुए थे। उस युग के सभी प्रमुख विद्वान, साहित्यकार, कवि, लेखक और संगीतज्ञ द्रष्टा रूप में उस अवसर पर उपस्थित थे, जिनमें बंकिमचन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बंकिमचन्द्र ने साहित्य और संगीत दोनों दृष्टियों से एक नई प्रतिभा का परिचय पाकर इस नाटक की बड़ी प्रशंसा की थी। 'स्टेट्समैन' में भी नाटककार, गीतकार, गायक और अभिनेता के रूप में नवोदित कवि की बड़ी प्रशंसा की गई थी।

जिस पहली रचना में रवीन्द्रनाथ ने समसामयिक बंगला काव्यधारा से अपने को पूर्णतः मुक्त करने में सफलता पाई वह थी 'संध्या-संगीत। स्वयं रवीन्द्रनाथ ने इस रचना को अपनी काव्य-धारा का आदि-स्रोत माना है। उसके पहले की रचनाओं को उन्होंने बचकाना साहित्य बताकर अत्यन्त उपेक्षणीय माना है। उसके पहले की अधिकांश रचनाओं का प्रकाशन भी उन्होंने बन्द करवा दिया था।

'संध्या-संगीत' में हम पहली बार रवीन्द्रनाथ की काव्य-प्रतिभा की उस विशिष्टता का परिचय पाते हैं जिसके विकसित रूप ने आगे चलकर समस्त बंगाल के साहित्य-क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रान्ति मचा दी थी, बाद में समग्र संसार के सर्वश्रेष्ठ साहित्य-समीक्षकों को चकित और मुग्ध कर दिया था। उनके अन्तर्मन में कई दिनों से, अज्ञात रूप से, उनकी आनेवाली नई कविता–शैली का रूप विकसित होता चला जा रहा था। एक दिन उपयुक्त अवसर पाकर वह बरबस फूटकर बह निकली।

यह अवसर कैसे आया इसका भी एक छोटा सा इतिहास है। रवीन्द्रनाथ ने अपने एक संस्मरण में सूचित किया है कि एक दिन ज्योति दादा और भाभी कादंबरी देवी सहसा ठाकुर भवन त्याग कर कलकत्ते से बाहर भ्रमण के उद्देश्य से चले गए। इन दो परम स्नेहशील आत्मीय जनों के चले जाने से सारा विशाल भवन उन्हें एकदम सूना लगने लगा। बैरिस्टरी पास करने में असफल और व्यावहारिक जीवन के क्षेत्र में कोई कृतित्व दिखाने में असमर्थ, नव-यौवन की देहली पर खड़े उस तीव्र अनुभूतिशील नवीन कवि को जब घर के सभी लोग निकम्मा समझकर मन-ही-मन नितान्त दया का पात्र मान रहे थे, विराट जीवन की सर्वतोमुखी उपलब्धि के सम्बन्ध में उसकी जो महत्वाकांक्षा भस्माच्छादित अग्नि की तरह उसके अन्तर में दहक रही थी, उसके प्रति एकदम उदासीन रहकर उसकी अन्तर्वेदना को समझने के लिए तनिक भी उत्सुक नहीं थे, तब स्वभावतः उसे साहित्य-कला-प्रेमी, उदार-हृदय ज्योति भैया और स्नेहमयी मंझली भाभी के विछोह की वेदना अत्यन्त मार्मिक रूप से अनुभूत हुई होगी। ऐसी मनःस्थिति में वह अपने तीसरे खण्ड वाले कमरे और निर्जन छत पर एकान्त अधिकार जमाकर अपनी उफनती हुई भाव-वेदना को नई कविता का रूप देने के लिए अत्यन्त अधीर हो उठे और उनकी लेखनी से ये पंक्तियां बरबस फूट निकलीं:

'चले गेलो सकलेई चले गेलो गो।
बुक शुधू भेंगे गेलो दले गेलो गो।

'चले गए। सभी चले गए। हृदय को चूर कर, कुचलकर चले गए।' उपेक्षित कवि के भीतर का अभिमान 'सन्ध्या-संगीत' की कविताओं में जैसे पत्थरों पर पछाड़ खाते रहने वाले निर्झर की तरह फूल-फूल कर उफ़न उठा है।

'संध्या-संगीत' की भाषा अत्यन्त सरल और बोलचाल की है। छंद-योजना उसमें जान-बूझकर शिथिल कर दी गई है -- परम्परा को तोड़कर, मुक्त बहने वाले भावों को एक नए ही ढांचे में 'फ़िट' करने के लिए।

नियम को तोड़कर, बंधनहीन आनन्द में बहने की अपनी अदमनीय प्रवृत्ति का परिचय इसी संग्रह की एक कविता--'सृष्टि, स्थिति और प्रलय' में कवि ने दिया है। कविता का आशय इस प्रकार है: "जब ब्रह्मा भावमय आनन्द में विभोर होकर देशकाल शून्य विराट आदिम अंधकार के बीच एक नई सृष्टि की योजना से ध्यानमग्न हुए तब सहसा अनन्त जीवन-धाराएं विश्व के अदृश्य गंगोतरी-शिखर से सहस्रों स्रोतों में बह चलीं। अग्निमयी वाणी फूट पड़ी और वाष्पमय भावराशि विलीन हो गई। विष्णु ने जीवन के नए उल्लास और नए प्रेम में मग्न संसार में सर्वत्र मंगलमय आशीर्वाद बिखेर दिया। इस प्रकार जब असीम जगत् के चराचर एक महाछंद में बंध गए तब धीरे-धीरे विश्व अपने भीतर एक निर्विचित्रता और जड़ता का अनुभव करने लगा। सभी प्राणी महादेव के पास जाकर बोले: नियम का पाठ बहुत पढ़ चुके, अब खेलने की साध जगी है। हे देव, एक बार इस अनन्त आकाश के बीच हमें मुक्त रूप से बिखेर दो। मरण-गीत गाओ, जिससे हम फिर से नया जीवन प्राप्त करके नए सिरे से जगें।

सुनकर शूली ने प्रलय-पिनाक अपने हाथों में उठा लिया। तत्काल जगत के सारे बंधन टूट गए। महाशून्य में छंदोमुक्त विश्व का आनन्द-कोलाहल तरंगित होकर गरज उठा। रवि, शशि, ग्रह-तारा, धूमकेतु सभी नियम-बंधन से छिन्न होकर निर्बंध रूप से महाशून्य में बिखर गए।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सृजन के आरम्भ में अनादि अंधकार छाया हुआ था, सृजन के ध्वंस में युगांतर में रह गया केवल असीम उतावशन।"

यह कविता परवर्ती युग के महान द्रष्टा और दार्शनिक विश्वकवि के प्रारम्भिक विकास का बहुत ही सुन्दर परिचय देती है।

इस संग्रह की कई कविताएं एक विचित्र प्रकार की गीतात्मक निराशा की सहज-उच्छ्वसित वेदना से भरी हैं। पर सभी में उस युग की इतिवृत्तात्मक कविताओं से मुक्ति का स्वर बड़ी तीव्रता से बोलता है। 'सन्ध्या-संगीत' की कविताओं ने बंगाल के तत्कालीन काव्य-क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी भाव-धारा और पूर्णतः नई शैली का आनयन किया।

उस युग के सर्वश्रेष्ठ साहित्य-सर्जक और महान् साहित्यालोचक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने इस कविता-संग्रह के प्रकाशन के उपलक्ष्य में तरुण कवि को कितना बड़ा सम्मान प्रदान दिया, इसका उल्लेख स्वयं कवि ने अपने एक संस्मरण में किया है। बात १८८२ के जुलाई महीने की है। उस दिन विख्यात पुरातत्ववेता और साहित्यकार रमेशचन्द्र दत्त की लड़की का विवाह था। कलकत्ता के सभी विद्वान् साहित्यकार और कवि आमन्त्रित थे। बंकिमचन्द्र दरवाजे पर पहुंचे ही थे। रमेशचन्द्र दत्त उन्हें एक महान् साहित्यकार के रूप में सम्मानित करने के उद्देश्य से उनके गले में माला डालने ही जा रहे थे कि इतने में तरुण कवि रविन्द्रनाथ वहाँ पहुंच गए। बंकिम ने तुरन्त वह माला रवीन्द्रनाथ के गले में डालते हुए कहा : इस माला के वास्तविक अधिकारी यही हैं। रमेश, तुमने इनका संध्या-संगीत पढ़ा है ? रमेशचन्द्र के 'नहीं' कहने पर बंकिम ने उसमें संगृहीत कविताओं की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। रविन्द्रनाथ ने लिखा था कि इतना बड़ा सम्मान उन्हें जीवन में फिर दूसरा नहीं मिला।

'संध्या संगीत' में यद्यपि तरुण कवि को एक नई दिशा मिली तथापि उसमें भी वह भावों के अरण्य में भटकते रहे। इस अरण्य से उन्हें वास्तविक मुक्ति तब मिली जब वह अपने किशोर-हृदय की असंख्य उलझनों से मुक्त होकर, छोटे-छोटे वैयक्तिक सुख-दुखों, भावुकतापूर्ण हृदयवेगों और उच्छ्वासों से ऊपर उठ कर कवि ने 'श्यामला-विपुला' पृथ्वी के जीवन-वैचित्र्य पर अपनी द्वन्द्व-रहित दृष्टि प्रेरित की और अस्पष्ट काव्यात्मक स्वप्नों में से उलझी हुई उनकी मोहक स्वप्नावस्था भंग हुई। इस नए जागरण के प्रतीक रूप में उनकी 'निर्झरेर स्वप्नभंग' शीर्षक कविता हमारे सामने आती है, जो उनके इस नवोदित युग की पहली कविता थी। इस कविता में रवीन्द्रनाथ के परवर्ती युगों की सम्पूर्ण जीवन साधना के आदर्श का पूर्वाभास उनके अज्ञात ही में व्यक्त हो उठा था। कवि के अन्तस्तल में दबी हुई गहरी अनुभूतियों और उदात्त भावों की जो निर्बाध धारा समस्त मानसिक उलझनों, कुण्ठाओं और अवरोधों के पाषाणों को हटाकर, इस कविता द्वारा निर्झर के उन्मुक्त प्रवाह के रूप में बह निकली, वही आगे चलकर और कल-प्रवाहिणी भागीरथी में परिणत होकर अपने कूलों-उपकूलों को शस्य-श्यामला बनाती हुई, अपनी अन्तर्साधना द्वारा विश्व-जीवन के महासागर में मिश्रित होने के लिए इन शब्दों के साथ निरन्तर आगे बढ़ती चली गई :

भांग रे हृदय, भांग रे बांधन
साध रे आजिके प्राणेर साधन
लहरीर परे लहरी तुलिया
आघातेर परे आघात कर।
मातिया जखन उठेछे पराण
किसेर आंधार किसेर पाषाण,
उथलि जखन उठेछे वासना,
जगते तखन किसेर डर !

'तोड़ो, तोड़ो, मेरे हृदय, बंधन तोड़ डालो। आज मन की साध पूरी कर लो। लहर पर लहर उठाते हुए आघात पर आघात करो। जब प्राण मतवाला हो उठा है, तब कहां का अंधकार और कैसा पाषाण। जब मन की उमंगें उफन उठी हैं तब अब संसार में किस का डर है !'

दीदी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

नदी के किनारे
काट रहे माटी
ईंट के भट्ठे सजाने को
पश्चिमी मजूरे।
उनमें से कोई की बेटी है छोटी
जो घाट पर करती है आवा जाही
ले थाली, कटोरा औ' लोटा ही कितने
वह घिसती है—माजंती है।
वह आती है दौड़-दौड़ दिन में सौ बार
पीतल के कंगन पीतल की थाली पर,
बजते हैं ठन-ठन।
रहती वह व्यस्त बहुत सारा दिन।
उसका ही छोटा एक भाई,
माथा मुड़ाए, कीचड़ लिपटाए, वस्त्र हीन तन लिए,
पालतू पखेरू की नाईं आ पीछे-पीछे
आदेश से दीदी के बैठा ही रहता है ऊंचे किनारे पर
स्थिर हो—धैर्य धरे।
माथे पर भरा घड़ा लिए
कांख में बायीं, थाली दबाए
वह जाती है बाला घरे बच्चे का हाथ, हाथ से दाहिने।
जननी की पतिनिधि,
झुकी हुई भार से कर्म के
कितनी ही छोटी है
दीदी वह !

रूपान्तरकार : शशिशेखर तिवारी

'दिदि' महाकवि की कृति 'चैतालि' (अप्रैल १८९६) में संग्रहीत।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का चित्रालेखन

नगेन्द्र भट्टाचार्य

बीसवीं शती के चतुर्थ दशक के प्रारम्भ में एक चित्रकार के रूप में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का उदय भारतीय चित्रकला के इतिहास में एक महान् घटना थी। किन्तु, इस देश में, तत्काल ही इस तथ्य को नहीं पहचाना गया। इसके विपरीत, उनके चित्रों से उन अनेक लोगों को आघात लगा, जो उन्हें देखने के पश्चात्, 'तूलिका और रंग से कवि की खिलवाड़' को एक सम्मान्य व्यक्ति की सनक और पुनः बचपन की ओर लौटने का संकेत समझकर जैसे उन पर अनुग्रह-सा करने को प्रवृत होते थे। आखिर वे क्या थे?—कागज पर रंगों की वह लीपापोती, विचित्र आकृतियां और आकार-शून्य आकार, जो वस्तु-जगत् में देखी-सुनी, जानी-पहचानी किसी चीज से मिलने के बजाय स्वप्न-जगत् की कल्पनाओं से कदाचित् अधिक मिलते-जुलते थे? वे गड़बड़झाले और अव्यवस्था से भरे, एवं अपनी नवीनता और विलक्षणता की दृष्टि से एकदम वाहियात प्रतीत होते थे। कवि के प्रशंसक एतद्देशवासी सदा उनके साथ विश्रान्ति और शान्ति की भावना का, एवं आत्मा को ऊंचा उठाने वाली प्रत्येक भद्र भावना का सम्बन्ध जोड़ते रहे हैं। यह सत्य है, रवीन्द्रनाथ योद्धा भी थे, किन्तु संसार की समस्त पामरताओं और अमानवीयताओं, असुन्दरताओं और अश्लीलताओं से उन्होंने युद्ध किया, और यह युद्ध उन्होंने निर्मल हथियारों और निर्मल हाथों से किया, क्योंकि वे सदा सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के उपासक रहे। कवि रवीन्द्रनाथ में और चित्रकार रवीन्द्रनाथ में कोई कैसे मेल बिठा सकता था? 'माडर्न रिव्यू' को छोड़कर, कलकत्ता के लगभग सभी समाचार-पत्रों ने और जनता ने उनके चित्रों के प्रति कोई प्रशंसा का भाव व्यक्त नहीं किया, वस्तुतः, कुछ लोगों ने तो उनका उपहास तक करने का प्रयत्न किया।

किन्तु फिर भी, समुद्रों के पार यूरोप की चित्रवीथियों में उनके चित्रों ने, जब १९३० में और उसके बाद वे प्रदर्शित किए गए, अलोचकों और चित्रकारों से प्रभूत प्रशंसा अर्जित की।

प्रतिक्रिया के इस भेद की कैसे व्याख्या की जाए? इसे कवि के देशवासियों की प्रतिकूल मनोवृत्ति या हठधर्मिता कहना उचित नहीं होगा। मैं स्पष्ट और व्यक्तिगत बात कहूं। जब कवि की आयु के ७० वर्ष पूरे हो जाने पर उनके जन्म-दिवस समारोह के अवसर पर १९३१ में पहली बार उनके चित्रों की प्रदर्शिनी कलकत्ता में लगाई गई थी तब, कला का विद्यार्थी होने के नाते मुझे स्वयं भी, उन चित्रों में कोई गम्भीर और आकर्षक बात प्रतीत नहीं हुई थी। मुझे स्मरण नहीं कि उन चित्रों के प्रति किसी ने भी विशिष्ट रुचि प्रदर्शित की हो, और सच पूछो तो, समारोहों के कार्यक्रमों की उस भीड़ में चित्रों की उपेक्षा ही हो गई और जनता ने उनके महत्व की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया।

फिर १९३२ में, कलकत्ता के सरकारी स्कूल आफ आर्ट्स ने उनके चित्रों की प्रदर्शनी का आयोजन किया, परन्तु तब भी हमें उनमें पसन्द आने योग्य कोई बात नहीं लगी। अब तक हम जिसे कला समझते आए थे उस भावना पर उन चित्रों ने तीव्र आघात ही लगाया और जैसे हमारी भावना से बलात्कार हुआ। हम उनके चित्रों का सिर या पैर कुछ भी न समझ सके।

यह उसके कुछ ही वर्ष बाद की बात है कि उनके चित्रों का महत्व मेरे सामने प्रकट होने लगा। १९३७ की शरद् ऋतु थी, और मैं कलकत्ता में आयोजित, शान्तिनिकेतन के कला-भवन के छात्रों और शिक्षकों द्वारा बनाए गए चित्रों की प्रदर्शनी देख रहा था।

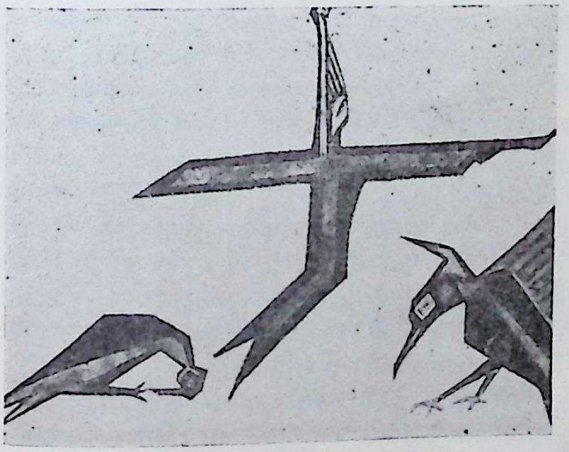

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वहां अनेक सुन्दर चित्र और काष्ठोत्कीर्ण चित्र थे जिनमें श्री नन्दलाल वसु का प्रसिद्ध चित्र 'स्वर्णिम घट' और उनका आलेख्य-चित्र 'अर्जुन' भी शामिल था। मैं एक के बाद एक उनके नोट लेता जा रहा था कि एकदम अप्रत्याशित रूप से एक चित्र मेरी आंखों के सामने पड़ा—गरिमामय सूर्यास्त का एक प्राकृतिक दृश्य। अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह अत्यन्त सशक्त था, परन्तु उसके रचना-विधान में कुछ त्रुटि लगती थी। मैं इस चित्र के रंग और गहराई से मुग्ध हो गया। जब मुझे बताया गया कि उसका कलाकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर है तब मैं हैरान रह गया।

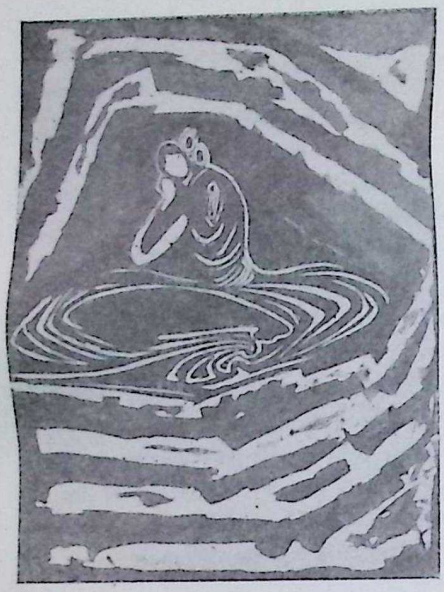

चित्रकला के सम्बन्ध में मेरे पुराने विचारों को इससे गहरा धक्का लगा। जब मैं प्रदर्शनी से लौट रहा था तब मैंने अपने आप से पूछा—किसी चित्र में वस्तुतः महत्वपूर्ण चीज क्या है? क्या महान् शिल्पिक नैपुण्य से सम्पादित प्रकृति और जीवन के यथार्थ चित्रण से कोई चित्र महान् होता है, या यह उससे भी अधिक, यथार्थवादी चित्रण से भिन्न भी, कोई चीज हो सकती है—कोई ऐसी चीज जो पूर्ण लय के साथ रंग और रूप को व्यक्त करती है?

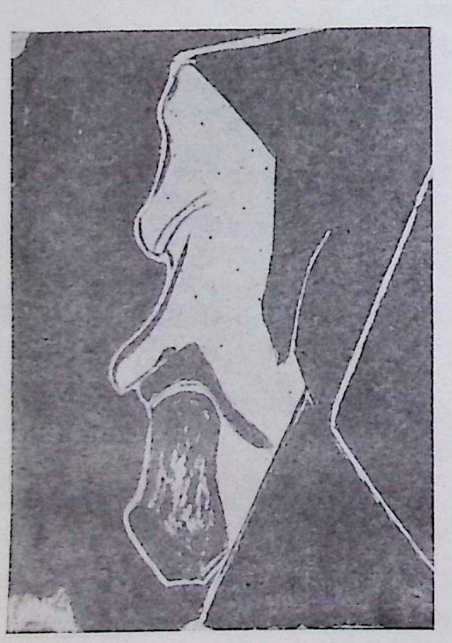

तथ्य यह है कि हम समय से पीछे थे और उन परीक्षणों से परिचित नहीं थे जो १९ वीं सदी के अन्तिम दशक से यूरोप के देशों में किए जा रहे थे। हम यह नहीं पहचनाते थे कि वस्तुनिरपेक्षतामूलक चित्रकला में सब रूपों का चित्रण नहीं किया जाता उस महान चित्रकला में किसी वस्तु का चित्रण या प्रतिनिधित्व सर्वथा नहीं किया जाता, किन्तु रूपों और रंगों की, आयतन और स्थान की, कुछ ऐसी कलापूर्ण व्यवस्था की जाती है कि उससे समस्वरता और लय की एक परिपूर्ण भावना व्यक्त होती है।

वस्तुतः, एक तरह से, रवि बाबू को भारत में वस्तुनिरपेक्षतामूलकेतर चित्रकला का अग्रणी और जनक कहा जा सकता है क्योंकि उसकी खोज और सृजन के लिए किसी गम्भीर प्रयत्न से पहले भारत को अभी दो दशक तक और प्रतीक्षा करनी थी।

किन्तु, इससे यह परिणाम निकालना उचित नहीं होगा कि रवि बाबू की चित्रकला का प्रेरणा-स्रोत यूरोप की आधुनिक वस्तुनिरपेक्षता-मूलकेतर कला थी या उन्होंने जानबूझ कर भारत में कला की उस विधा के पक्ष में आन्दोलन के नेतृत्व का प्रयत्न किया। किन्तु इसके सर्वथा विपरीत, यह एक सर्वथा आकस्मिक घटना थी कि उन्होंने पाया कि उनकी शैली यूरोप के चित्रालयों में जो नवीनतम परीक्षण किए जा रहे हैं उनसे मेल खाती है, और लगभग बिना चेते के और निश्चय ही बिना इरादे के, बहुत कुछ किसी योजनाबद्धता के बिना वे जो अपने मानसिक वैपुल्य का प्रदर्शन कर रहे हैं, उसी का यूरोप के चित्रकार जानबूझ कर और योजनाबद्ध रूप से कतिपय प्रभावों को व्यक्त करने के लिए अभ्यास कर रहे हैं। वे अपने परिणामों पर स्वतन्त्र रूप से ही पहुंचे थे। उनकी प्रेरणा के स्रोत को समझने के लिए और बात को साफ करने के लिए पहले इस शुरुआत को हृदयंगम कर लेना चाहिए।

रवि बाबू की प्रेरणा का मुख्य स्रोत, चाहे कविता में चाहे चित्रकला में, चाहे संगीत में या चाहे किसी अन्य कला में, उनका वह पारिवारिक वातावरण रहा है जिसमें उनका पालन-पोषण हुआ था। उनके ज्येष्ठ-भ्राताओं में से एक, जिनके प्रति वे अपने कलामय जीवन के लिए अधिकांशतः ऋणी थे, ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर, केवल विशिष्ट लेखक ही नहीं थे किन्तु साथ ही एक अच्छे चित्रकार भी थे। उनके दो भतीजे, गगनेन्द्रनाथ ठाकुर और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, चित्रकारों के रूप में ही विख्यात हुए। साहित्य और संगीत के समान, चित्रकारिता की कला भी परिवार में विकसित हुई थी, और रवीन्द्रनाथ को अपने बचपन से ही इसके प्रति भी गहरा अनुराग हो गया था। इस प्रारम्भिक प्रभाव के परिमाणस्वरूप, वे अपनी शिक्षा की योजना में कला—संगीत, कविता, नृत्य और चित्रकला—की महत्ता पर हमेशा ज़ोर देते थे और उन्होंने अपने शान्तिनिकेतन के विद्यालय में कलाओं के अध्ययन को प्रमुख स्थान दिया। यही कारण है कि 'संगीत भवन' और 'कला-भवन' विश्वभारती विश्वविद्यालय के महत्वपूर्ण अंग बन गए।

चित्रकार के रूप में उन्होंने अपना जीवन कैसे प्रारम्भ किया, यह जानना भी मनोरंजक है। अपनी अन्तरात्मा के अनुकूल शब्दों के जागरूक कलाकार होने के नाते, वे अपने आलेख में संशोधन करने और उसमें रद्दोबदल करने में काफी परिश्रम करते थे। काटा-पीटी के और मिटाने के तथा संशोधन के निशान स्वभावतः ही आंखों को सुखद प्रतीत नहीं होते, अपने निशानों में रेखाएं और गोलाकार या मुड़ी रेखाएं

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जोड़ कर और उन्हें सुन्दर नमूने बनाकर उन्होंने संशोधित पाण्डुलिपि के भद्देपन को हटाने का प्रयत्न किया। धीरे-धीरे इन नमूनों की सुन्दरता उन्हें आकर्षित करने लगी और उनके मन में यह इच्छा जगाने लगी कि पाण्डुलिपि के बाहर भी कुछ आलेख्य-कार्य किया जाए। इन प्रयत्नों में वस्तु का या जीवन का प्रतिनिधित्व करने की कोई चेतन इच्छा नहीं थी, वे केवल लय की अपनी तीव्र ग्राहिता से ही परिचालित थे। न ही उन्होंने चित्रकला का कोई विधिवत् प्रशिक्षण प्राप्त किया था। जैसा उन्होंने स्वयं कहा है : "मेरे चित्रों का मूल प्रशिक्षित अनुशासन में, परम्परा में या इरादे से किए गए चित्रण के प्रयत्न में नहीं है।" अन्त में जो भी तस्वीरें बन कर सामने आईं, वे किसी पूर्वायोजित विचार या इरादे का परिणाम नहीं थीं। असल में तो, वे स्वयं भी नहीं जानते थे कि अन्त में इन रेखाओं से क्या निकलेगा। लय की सहजात भावना ही उन की एकमात्र पथ-प्रदर्शक थी जो उनमें बचपन से विकसित हो रही थी, न केवल उनके कवि-कर्म में और गीतों में किन्तु उनके जीवन को जीने की विधि में भी।

१९वीं सदी के अन्तिम दशक से यूरोपीय चित्रकारों के शिल्पविधान में और रवि बाबू के शिल्प के उदय की विधि में हम अन्तर देख सकते हैं। यूरोपीय चित्रकारों के शिल्प विधान में यथार्थ के फोटोग्राफिक हूबहू चित्रण के विरुद्ध क्रान्ति का वह आन्दोलन था, जिसे उनके पूववर्तियों ने पूर्णता तक पहुंचा दिया था। वस्तुनिरपेक्षता-मूलक कला के १९वीं सदी में पूर्णता तक पहुंचने के बाद पश्चाद्वर्ती कलाकारों ने देखा कि अब उनके पास उसमें जोड़ने के लिए और कुछ नहीं है। उन्हें नए धरातल की खोज करनी थी या कलाकार के रूप में समाप्त हो जाना था। इस प्रकार यूरोप में आधुनिक कला को नई लयों की खोज करनी पड़ी और ढांचों और नमूनों के नए रूपों पर परीक्षण करने पड़े। शुरू-शुरू में उन्हें निष्फलता ही हाथ लगी, और केवल पलायन-वाद का प्रभाव उपस्थित करने में ही उन्हें सफलता मिली। आधुनिक कलाकार की सब से अधिक स्पष्ट विशेषता यह थी कि उसका प्रयत्न इन्द्रियों के लिए शान्तिदायक न होकर आघात लगाने वाला था। तथापि, धीरे-धीरे, कठिन साधना के बाद, उसे अभिव्यक्ति के नए रूप और नए माध्यम खोजने में सफलता मिली। किन्तु उनकी सब गवेषणाएं और परीक्षण केवल तभी प्रारम्भ हुए जब वे विधिवत् और पूर्ण अकादमीय प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके थे।

किन्तु, जैसा कि हमने देखा है, रवि बाबू की बात उन सबसे निराली थी। अपनी पाण्डुलिपि के संशोधित पृष्ठों में सुन्दरता लाने का प्रयत्न करते करते, वे बिना किसी विधिवत् अकादमीय प्रशिक्षण के, चित्रकार बन गए। इसीलिए, उनके चित्र बिलकुल उनके ही हैं और शिल्प विधान की दृष्टि से या किसी और तरह से उनकी नकल नहीं की जा सकती। इसलिए, उनके चित्रों पर किसी यूरोपीय चित्रकार के या कला के किसी आधुनिक स्कूल के सीधे प्रभाव की तलाश करना बुद्धिमानी नहीं होगी, यद्यपि मुंच, मार्क्स और पौल क्ली जैसे समकालीन जर्मन चित्रकारों की कृतियों के साथ हम उनका साम्य देख सकते हैं।

कोई महान् कवि साथ ही चित्रकार भी बन जाए, यह बात निस्सन्देह, केवल मात्र रवि बाबू के साथ ही नहीं है। लिन-यु-तांग ने कहा है : "कविता और चित्रकला एक ही मानवीय आत्मा से उद्भूत होते हैं और यह स्वाभाविक है कि दोनों का आन्तरिक शिल्पविधान और भावना भी एक ही हो। चित्रकार भी वही प्रभाव, वही सुझाव का प्रकार, अव्याख्येय वातावरण पर वैसा ही बल और प्रकृति के साथ वही काल्पनिक एकता प्रदर्शित करता है, जो चीनी कविता की विशेषता है। क्योंकि कवित्व का मनोभाव और चित्र खींचने की प्रेरणा वाला क्षण प्रायः एक जैसे ही होते हैं और कलाकार का जो मन एक को पकड़ सकता है और उसे कविता का रूप दे सकता है थोड़े से अभ्यास के साथ, दूसरे के चित्रों में भी व्यक्त कर सकता है।" रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विक्टर ह्यूगो, माइकेल एंजलो, तथा अन्य बहुमुखी कलाकारों की प्रतिभा के सम्बन्ध में यह बात सत्य है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे कोई यह अनुमान कर सकता है कि चित्रकारिता रवि बाबू के लिए एक बच्चे का खेल था, या उनको इसमें कोई कठिन परिश्रम और साधना नहीं करनी पड़ी, या वे अपने चित्रों को बड़ी सुगमता से बिना किसी प्रयत्न के बना लिया करते थे। यह सत्य है कि यह सब एक खेल के रूप में शुरू हुआ, किन्तु बहुत जल्दी ही रवि बाबू इसके सम्बन्ध में गम्भीर हो गए और अपने शिल्प-विधान को विकसित करने के लिए अविश्रान्त गति से परिश्रम करते रहे। इसलिए यह कल्पना करना बहुत गलत होगा कि चित्रकला एक दैवीय प्रेरणा के रूप में एक प्रभात में उनके पास आई और वे अचानक ही महान् चित्रकार बन गए। प्रत्युत इसके विपरीत, उनके निकटतम मित्रों तक को जब इसके सम्बन्ध में पता लगा उससे पहले लगभग ३० वर्ष तक वे गम्भीरता से और अत्यन्त मौन भाव से, अपने ढंग से लगातार उसका अभ्यास करते रहे। वे अपने चित्रों को किसी को दिखाने तक में बहुत संकोच करते थे, जनता में उन्हें प्रदर्शित करने की बात तो

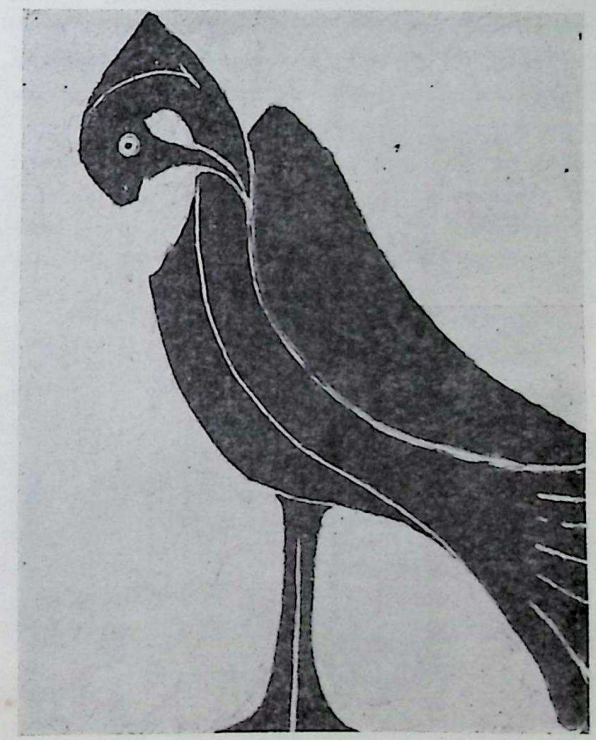

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दरकिनार । मुझे पता नहीं कि कैसे और किन परिस्थितियों में जनता को पहली बार उनके चित्रों के सम्बन्ध में पता लगा। सम्भव है कि अपने यूरोप के प्रवास में उन्होंने अपने किसी आलोचक और चित्रकार मित्र की सम्मति पूछी हो। किन्तु एक बार जब इस सम्बन्ध में पता लग गया, तब वे स्वयं केवल अपने लिए भी उनको और अधिक छिपाकर नहीं रख सकते थे। और उनके चित्रों की पहली प्रदर्शनी १९३० में पेरिस की गैलरी पिगाल में हुई, जिसने सर्वथा अप्रत्याशित रूप से सनसनी पैदा कर दी।

कोलोन की आर्ट गैलरी के सुप्रसिद्ध संचालक हर फर्डिनेण्ड मूलर ने मुझे बताया कि कितनी बड़ी कठिनाई के बाद, वे १९३० में कवि को इस बात के लिए प्रेरित कर सके कि म्यूनिख और बर्लिन में उनके चित्रों की प्रदर्शनी की जाए। वे रवि बाबू के चित्रों के बहुत प्रशंसक थे। उन्होंने मुझ से पूछा कि क्या भारत में उन चित्रों को रखने के लिए कोई स्थायी गैलरी बनाई गई है।

इन चमत्कार-पूर्ण चित्रों के गुणाधिक्य से ही नहीं किन्तु मात्राधिक्य से भी आदमी हैरान रह जाता है। आज केवल रवीन्द्र भवन में ही उनके बनाए हुए लगभग २,००० चित्र हैं, जिनमें अनेक काफी बड़े आकार के हैं। उनके शिल्प-विधान के वैविध्य से भी आदमी चकित हुए बिना नहीं रहता। वस्तुतः प्रत्येक चित्र के लिए उनका नया शिल्प विधान है इसलिए प्रत्येक दौर में उन्हें अपने शिल्प विधान की ईजाद करनी पड़ती थी। कुछ अस्पष्ट घसीटों को, वे एक आकार प्रदान करते और उस आकार से फिर वे संतुलन और लय के साथ पूरा चित्र बना डालते—यह सन्तुलन और लय ही उनकी सबसे बड़ी विशेषता होती। कौनसा रंग चुना जाए या पेंटिंग की कौनसी सामग्री काम में लाई जाए, इस सम्बन्ध में वे कभी किसी लकीर से बंधे नहीं रहे। रंगने का जो भी सामान उन्हें मिल जाता वे उसी का इस्तेमाल करते; पानी से न मिटने वाली स्याहियां, चमड़े के काम आने वाले रंग, पानी और पोस्टर क रंग, और कभी-कभी पेड़ों की पत्तियों और फूलों की पंखुड़ियों का रस।

यह कल्पना करना गलत होगा कि अमूर्त चित्रकारों या अति यथार्थवादियों की कृतियों से उनके चित्रों की तुलना की जा सकती है। उन्होंने धैर्यपूर्वक अपने चारों ओर के संसार को देखा, और सब समय अपनी कल्पना से छन कर आने वाली अपनी

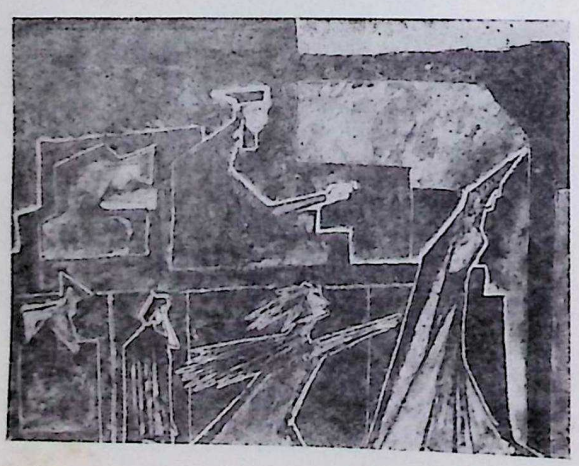

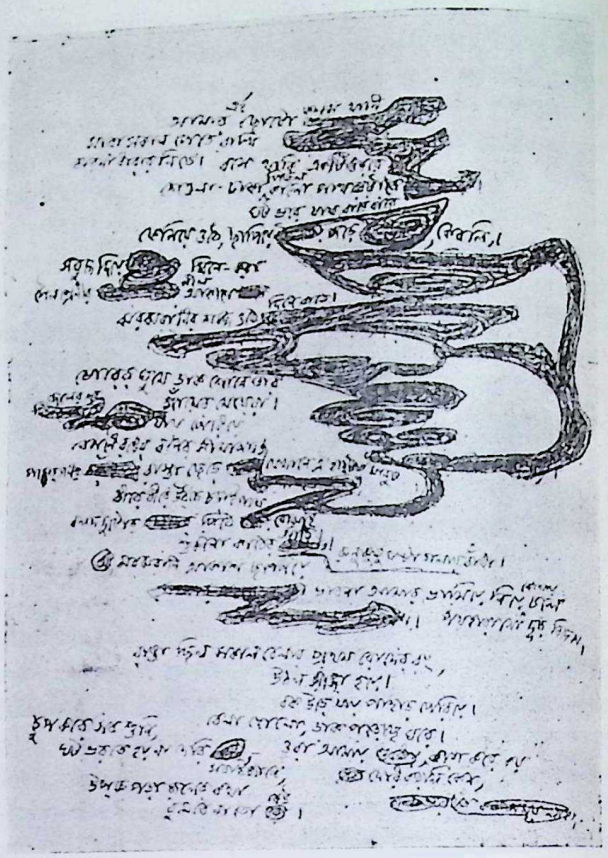

चित्र में परिवर्तित गुरुदेव की हस्तलिपि

मानसिक अनुभूतियों का उन्होंने रंगों और रेखाओं में एक सशक्त काल्पनिक चित्र उपस्थित कर दिया। उनकी तस्वीरें विचारों की कोई व्याख्या या तथ्यों का चित्रण नहीं हैं, परन्तु फिर भी वे निस्संकोच रूप से एक सन्देश और एक मनोभाव प्रेषित करती हैं। चित्रकला के विधिवत् प्रशिक्षण के बिना, परम्परा के अनुशासन को आत्मसमर्पण किए बिना, रवि बाबू अत्यन्त महत्व के और मूल्य के चित्रकार के रूप में उदित हुए। मैं समझता हूं कि उन्होंने आलेखन और चित्र बनाना कैसे प्रारम्भ किया और अपनी रचना के विषय में उनके क्या भाव थे इस सम्बन्ध में रवि बाबू के अपने वक्तव्य से ही यह लेख समाप्त करना उचित होगा :—

"चित्रों के संसार में मने जो अनधिकार प्रवेश किया है उसके लिए मेरी ओर से क्षमा-याचना शेष है, और इस प्रकार जो यह नहीं जानते कि उन्हें कुछ भी पता नहीं है वे उस जगह फैसला देने में उतावली करेंगे जहां देवदूत भी भीतीपूर्वक सावधान रहते हैं। कलाकार के रूप में मैं अपने उत्साह के लिए किसी योग्यता का दावा नहीं कर सकता क्योंकि यह आडम्बर-शून्य व्यक्ति का अचेतित उत्साह है, एक ऐसे व्यक्ति का जो स्वप्न में संकटापन्न पथ पर चलता है, और जो केवल इसलिए सुरक्षित रहता है क्योंकि वह खतरे के प्रति अंधा है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

"अपने बाल्यकाल से जो एकमात्र कला सम्बन्धी प्रशिक्षण मैंने प्राप्त किया था, वह केवल लय का प्रशिक्षण था। विचार में लय, ध्वनि में लय। मुझे यह ज्ञान प्राप्त हुआ कि जो भी कुछ असम्बद्ध और अनियमित है, जो अपने आप में महत्वशून्य है, उस सब को लय एक वास्तविकता प्रदान करता है। और इसलिए, जब मेरी पाण्डुलिपि की खरोंचें, मुक्ति के लिए पापियों के समान पुकारती थीं और अपनी असम्बद्धता के भद्देपन से मेरी आंखों को भर देती थीं, तब जो कुछ मेरा स्पष्ट काम था उसे जारी रखने के बजाय, उन खरोंचों का लय की दयापूर्ण परिसमाप्ति में उद्धार करने के लिए मैं प्रायः अधिक समय बिताता था।

"इस उद्धार-कार्य को करते करते मैंने इस तथ्य को खोज निकाला कि रूपों और आकारों के इस जगत् में भी रेखाओं के प्राकृतिक चुनाव की एक सतत प्रक्रिया जारी है, और उसमें भी उस योग्यतम की ही विजय होता है जो लय-ताल-सुर के अनुकूल हो। मैंने अनुभव किया कि निरालम्ब, बेकार और असम्बद्ध दिखाई देनेवाली रेखाओं में परस्पर सम्बद्ध सन्तुलन स्थापित करना अपने आप में सृजन है।

"मेरे चित्र रेखाओं में मेरा पद्य-निर्माण है। यदि कभी अकस्मात् वे किसी मान्यता के हकदार हों तो उसका मुख्य कारण यही होगा कि उनमें रूपों का कुछ लयात्मक महत्व है, और वही अन्तिम है। किसी विचार की व्याख्या के लिए या किसी तथ्य के चित्रण के लिए वे अभिप्रेत नहीं हैं।"

नहीं है मेरा मुक्ति का मार्ग, जगत् के प्रति आत्म-समर्पण,
मेरे लिए तो है अनन्त स्वाधीनता का आस्वादन,
जबकि मैं अभी बंधा हूं सहस्र बन्धनों से चक्र के साथ,
शब्द और रूप और गन्ध की प्रत्येक गरिमा में,
मैं चारों ओर प्रसृत तेरे अनन्त आनन्द को पाऊंगा :
मुक्ति की ज्वाला के समान मेरी वासना जल उठेगी,
मेरे प्रेम का पुष्प भक्ति के परिपक्व फल में परिणत होगा।

रवीन्द्रनाथ : पत्र-लेखक के रूप में--(पृष्ठ ६५ का शेषांश)

कि इसी कारण रात-भर उन्हें नींद भी नहीं आई। दूसरे दिन उन्होंने बड़ी विरक्ति के साथ कहा--"ऐसे समय सारा देश मुंह पर ताला डाल कर चुप रहे, यह मेरे लिए असह्य है। तुम लोग एक सार्वजनिक सभा का आयोजन करो और मैं अपनी तरफ़ से कहता हूँ कि उसका सभापति मैं होऊँगा।" उस समय जो लोग वहाँ उपस्थित थे, उन्होंने रवीन्द्रनाथ की बात मान ली और चले गए।

थोड़ी देर बाद देखा गया कि रवीन्द्रनाथ सारी बीमारी और दुर्बलता भूल कर एक मेज़ पर झुके हुए जल्दी-जल्दी कुछ लिख रहे हैं। यह था उनका भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड चैम्सफोर्ड के नाम लिखा गया वह ऐतिहासिक पत्र, जिसमें उन्होंने न केवल जलियाँवाला बाग के काण्ड और उसके बाद अपनाए गए अमानुषिक विशेष कानूनों का ही प्रतिवाद किया, बल्कि प्रतिवाद स्वरूप अपनी 'सर' की उपाधि भी लौटा दी। पत्र इस प्रकार है :

शान्तिनिकेतन,
३० मई, १९१९

महामहिम,

पंजाब के कुछ स्थानीय उपद्रवों को शान्त करने के लिए सरकार ने जो भारी-भरकम कदम उठाए हैं, उनसे हमें गहरा आघात लगा है और हमें यह भी अहसास हुआ है कि भारत में ब्रिटिश प्रजा के रूप में हम कितने असहाय हैं। अभागे भारतीयों को जो जरूरत से ज्यादा कड़ी सजाएँ दी जा रही हैं और उन्हें जिस ढंग से दिया जा रहा है, उनसे हमें यह विश्वास होता है कि शायद विरल अपवादों को छोड़ कर प्राचीन और आधुनिक सभ्य सरकारों के इतिहास में इनकी कोई तुलना नहीं। यह विचार कर कि ऐसा कठोर व्यवहार सर्वथा निःशस्त्र और साधन-सुविधाहीन लोगों के साथ किया जा रहा है और वह भी एक ऐसी सत्ता द्वारा, जो मनुष्यों के नाश के लिए भयंकर दक्षता से सुव्यवस्थित है, तो हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि ऐसा किसी राजनीतिक आवश्यकता या नैतिक औचित्य के लिए कदापि नहीं किया जा रहा। पंजाब में हमारे भाइयों को जिन अपमानों और यन्त्रणाओं में से गुजरना पड़ा है, उनकी बातें लोगों के मुंह पर बाँधी गई पट्टियों के बावजूद भारत के कोने-कोने में पहुँची हैं। इससे देश-भर में जिस क्षोभ और पीड़ा की सृष्टि हुई है, उसकी शासक शायद यह समझकर उपेक्षा कर रहे हैं कि वे जनता को शिक्षा देने के लिए कोई सबक सिखाना चाहते हैं। कई अधगोरे पत्रों ने तो इस हृदयहीनता की प्रशंसा भी की है और कुछ ने तो हमारी यन्त्रणाओं का मज़ाक भी उड़ाने की अमानुषिक धृष्टता भी की है। जो सरकार जन-साधारण के क्षोभ और फरियाद को बड़ी निर्ममता के साथ दबाने की चेष्टा कर रही है, उसने इन्हें रोकने की आवश्यकता ही नहीं समझी।

यह जान कर कि हमारी अपीलें बेकार साबित हुई हैं और सरकार की राजनीतिमत्ता को प्रतिशोध की दुर्भावना ने अन्धा कर दिया है--जबकि अपनी शक्ति और नैतिक परम्परा को देखते हुए वह आसानी से उदार हो सकती थी--अपने देश के लिए मैं कम-से-कम जो कुछ कर सकता हूं, वह यह है कि अपने देश की करोड़ों की संख्या में इस आतंक से क्षुब्ध और मूक जनता की ओर से मैं इस बर्बरता का विरोध करूं और इसके सारे परिणाम अपने-आप पर झेलूं। अब समय आ गया है जबकि सम्मान के बिल्ले हमारी इस जिल्लत की पृष्ठभूमि में बड़े असंगत लगते हैं और हमारी शर्म को और भी उभार देते हैं। इसलिए मैं अपनी तरफ़ से इन सब विशेष सम्मानों से मुक्त होकर अपने उन देशवासियों के साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ा कर खड़ा होना चाहता हूँ, जो अपनी तथाकथित नगण्यता के कारण उस नीचता को सहन करने के लिए बाध्य हैं, जोकि मनुष्यों के उपयुक्त कदापि नहीं। इन्हीं कारणों से मजबूर होकर मैं आपसे यह अनुरोध कर रहा हूँ कि आप मुझे मेरी 'नाइटहुड' की उस उपाधि से मुक्त कर दें, जो मैंने ससम्मान सम्राट् की ओर से आपके पूर्वाधिकारी के हाथों स्वीकार की थी और जिसके हृदय की उदारता का मैं आज भी बहुत प्रशंसक हूँ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रवीन्द्र का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

लक्ष्मीशंकर व्यास

भारत की समस्त भाषाओं के साहित्य को कवीन्द्र रवीन्द्र ने नवीन मार्ग दिखाया है। ऐसी कोई भारतीय भाषा नहीं जो रवीन्द्र की वाणी से प्रभावित और पुष्ट न हुई हो। समस्त भाषाओं पर उनकी छाप अंकित हुई है। वस्तुतः भारतीय साहित्य उनके विचारों का ऋणी है और सदा रहेगा। आपकी वाणी बंगला, भावना भारतीय और प्रेरणा वैश्व थी। इस देश के प्रत्येक साहित्य में आपने युगान्तर उपस्थित कर दिया था। इसी अर्थ में आप भारतीय थे। और आपकी वाणी भारती। प्राचीन को आपने अपनाया, अर्वाचीन को हृदयंगम किया और भविष्य के मार्ग का प्रदर्शन किया। इसी कारण आप गुरुदेव थे। भारत की आत्मा आपके श्रीमुख से प्रकाशित होती थी।

मानवता को आध्यात्मिकता का सन्देश सुनाने वाले, तथा प्राच्य सभ्यता एवं संस्कृति का पाश्चिमात्य प्रदेशों में प्रचार करने वाले रवीन्द्र वस्तुतः विश्व कवि थे। रवीन्द्र की भव्य भावनाओं, दिव्य दार्शनिक विचारों और अलौकिक अनुभूतियों का परिदर्शन हम उनके साहित्य में आज की भांति आने वाले युग-युग में भी करते रहेंगे। गुरुदेव व्यक्ति नहीं विभूति थे। वास्तविकता तो यह है कि हमें आत्मबोध कराने के लिए भारत की आत्मा ही रवीन्द्र के रूप में अवतीर्ण हुई थी। आधुनिक भारत में प्राचीन ऋषि परम्परा की अभिव्यक्ति कवीन्द्र रवीन्द्र में हुई थी। रवीन्द्र की तेजोमयी, दयामयी, शान्त, सौम्य तथा तेजस्वी एवं प्रभावशाली मूर्ति सहज ही वाल्मीकि और व्यास का स्मरण कराती रही। वे केवल कवि नहीं, चित्रकार नहीं, कलाकार नहीं, नाटक-उपन्यासकार नहीं, राजनीतिक नेता और सांस्कृतिक गुरु नहीं, युगावतार थे। आज उनकी जन्म शती के अवसर पर उनका महान व्यक्तित्व एवं कृतित्व हमारे गर्व एवं गौरव की वस्तु है।

हिन्दी गद्य और पद्य दोनों पर रवीन्द्र साहित्य का महान् प्रभाव पड़ा। उनकी भाषा-शैली के कारण हिन्दी में परिमार्जित और सुन्दर संस्कृत पद-विन्यास की परम्परा का प्रचलन हुआ। काव्यात्मक गद्य प्रबन्धों के रूप में गद्य की नई धारा का प्रवर्तन हुआ। कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रभाव से रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता लिए जिस भावात्मक गद्य का प्रचलन हुआ वह विशेष अलंकृत होकर अन्योक्ति पद्धति पर चला। समालोचना के क्षेत्र में आपकी मौलिक और महान् देन है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से अनेक संस्कृत काव्यों की समीक्षा करते हुए अनेक स्थानों पर आध्यात्मिक अर्थों की योजना की है। 'प्राचीन साहित्य' शीर्षक अपनी पुस्तक में 'मेघदूत' आदि पर जो निबन्ध आपने लिखे हैं उनसे उक्त तथ्य का स्पष्टीकरण हो जाता है। काशी में अपने व्याख्यान में उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के आख्यान का आध्यात्मिक पक्ष निरूपित किया था।

कवीन्द्र ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन साहित्य' में काव्य की उपेक्षिताओं की चर्चा करते हुए अत्यन्त मार्मिक टीका की है, जिसका हिन्दी साहित्य के निर्माण पर महान् प्रभाव पड़ा है। आपने लिखा है—"कवि ने अपने कल्पना-निर्झर का सारा करुण जल केवल जनक-नन्दिनी के पुण्याभिषेक में ही समाप्त कर दिया। किन्तु वहीं एक ओर म्लानमुखी तथा संसार के सारे सुखों से वंचित जो राजवधू सीता के पास घूंघट डाले खड़ी है, उसके चिर संतप्त नम्र ललाट पर न जाने कवि के कमण्डलु से एक बूंद भी अभिषेक का जल क्यों नहीं पड़ा।" देखा आपने कितनी पैनी और मर्म-भरी दृष्टि है समालोचक रवीन्द्र की। यही नहीं, जैसा पहले कहा जा चुका है इसका हिन्दी-साहित्य पर ऐतिहासिक प्रभाव पड़ा है।

अपने इसी निबन्ध में रवीन्द्र ने लिखा है कि वाल्मीकि ने उर्मिला का उज्वल चरित्र, सीता का चरित्र चमकाने के लिए उपेक्षित किया। कालिदास ने 'शाकुन्तल' में प्रियंवदा एवं अनुसूया को भुला दिया। वाण ने 'कादम्बरी' में तरलिका का समुचित ध्यान नहीं रखा। कवीन्द्र की इस समालोचना एवं नवीन उद्भावना ने हिन्दी साहित्य के अनेक श्रेष्ठ कवियों का ध्यान आकृष्ट किया। केवल ध्यान ही नहीं, उनके काव्य निर्माण की दिशा पर भी प्रभाव डाला। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में उर्मिला और लक्ष्मण के चरित्र चित्रांकन पर विशेष ध्यान दिया। 'द्वापर' पर भी रवीन्द्र की रचना शैली का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। सन १९१५ में गुप्त जी की रचना 'झंकार' भी ऐसी ही कृति है।

सन् १९१३ में महाकवि रवीन्द्रनाथ को उनकी कृति 'गीतांजलि' पर विश्व विख्यात नोबेल पुरस्कार मिला। अपनी बंगला भाषा की इस रचना का, महाकवि ने अपने मित्र दीनबन्धु एण्डरूज के अनुरोध पर अंगरेजी रूपान्तर किया। गीतांजलि रवीन्द्र ने सन् १९१० में लिखी थी। अंगरेजी में 'गीतांजलि' का रूपान्तर प्रकाशित होते ही यूरोप के साहित्य-संसार में उसकी सर्वत्र चर्चा प्रारम्भ हो गई। प्रसिद्ध पाश्चात्य साहित्यकार श्री ईट्स ने 'गीतांजलि' की भूमिका लिखी और उसमें लिखा कि "यह काव्य सर्वोपरि प्रतिभा एवं सर्वोत्कृष्ट संस्कृति का द्योतक है।" पाश्चात्य साहित्य समालोचकों ने लिखा—"इस दिव्य काव्य के आश्रय से यूरोप के साहित्य-संसार में एक नवीन युग का आरम्भ हो गया है।" इसी समय से महाकवि रवीन्द्रनाथ विश्व कवि रवीन्द्र हो गए। इस घटना का भारतीय साहित्य विशेषतः हिन्दी साहित्य पर भी भारी प्रभाव पड़ा। साहित्य के विभिन्न अंगों, मुख्यतः आधुनिक हिन्दी कविता के रचना-विधान में आपने युगान्तर उपस्थित किया।

कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीतांजलि' पर विश्व विख्यात नोबेल पुरस्कार प्राप्त होने पर हिन्दी साहित्य में भी उसकी धूम मच गई। तत्कालीन

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कवियों का ध्यान रवीन्द्र की काव्य रचना शैली और उसके स्वरूप-विधान पर भी गया। परिणाम यह हुआ कि नवीनता प्रदर्शन के इच्छुक नवीन कवियों में अनेक, वंग भाषा की रहस्यात्मक कविताओं की रूपरेखा लाने लगे। पण्डित गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' ने 'गीतांजलि' का पद्यात्मक अनुवाद प्रस्तुत किया। रवीन्द्र की कविताओं और उनकी काव्य शैली का प्रभाव द्विवेदी युगीन कविता पर भी पड़ा। उन्हीं दिनों हिन्दी कविता की स्वच्छन्द नूतन धारा का प्रारम्भ हुआ था। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त और श्री मुकुटधर पाण्डेय हिन्दी कविता की इसी नवीन धारा का निर्माण कर रहे थे कि रवीन्द्र की रचनाओं ने हिन्दी जगत् का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। रवीन्द्र की रहस्यात्मक कविताओं की जो लहर आई उसके परिणामस्वरूप अनेक हिन्दी कवियों ने रहस्यवाद, प्रतीकवाद अथवा चित्र-भाषावाद को ध्येय बना कर काव्य रचना करना प्रारम्भ किया।

आधुनिक हिन्दी काव्य में छायावादी कविता पर कवीन्द्र रवीन्द्र का महान् प्रभाव लक्षित होता है। यदि कहा जाय कि छायावादी कविता रवीन्द्र के प्रभाव से हिन्दी में आई तो कुछ अनुचित न होगा। आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का अभिमत है कि रूपात्मक आभास को यूरोप में 'छाया' (फैण्टामस्ता) कहते थे। बंगाल में ब्रह्म समाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे, वे 'छायावाद' कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहां के साहित्य क्षेत्र में आया और रवीन्द्र बाबू की धूम मचने पर हिन्दी के साहित्य क्षेत्र में भी प्रकट हुआ।

हिन्दी कविता की स्वच्छन्द नवीन धारा के प्रवर्तन के प्रारम्भ में ही कवीन्द्र रवीन्द्र की आध्यात्मिक रहस्यवादी कविता का प्रभाव पड़ा। यहीं से छायावाद का आरम्भ मानना चाहिए। छायावाद की प्रारम्भिक कविताएं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन काल में ही 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। इसमें श्री मुकुटधर पाण्डेय की छायावादी कविता के अतिरिक्त कविवर सुमित्रानन्दन पन्त की 'स्वप्न' शीर्षक कविता भी निकली थी। महाकवि 'निराला' की 'जूही की कली' मुक्त छन्द की रचना भी इसी समय हुई थी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि द्विवेदी युग में रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा के प्रकाश से छायावाद का भावोदय हुआ किन्तु उसकी काव्य कला का विकास उसके पश्चात् ही सम्यक्-रूपेण हुआ।

कवीन्द्र रवीन्द्र की रहस्यमय कविता के अनुकरण पर हिन्दी में भी रहस्यवाद की कविता प्रकाशित होने लगी, इसका पहले ही संकेत किया जा चुका है। यही नहीं, उनके प्रभाव से नवीनता की रुचि कुछ इस प्रकार व्यापक हुई कि अनेक प्रमुख कवियों ने छन्द का बन्धन तोड़ कर केवल नाद के आधार पर छोटी-बड़ी पंक्तियों में रचना आरम्भ की। बंगला के अनुकरण पर ऐसी कविता छायावादी कविता कही जाने लगी। एक ओर छायावाद शब्द का व्यवहार रहस्यवाद के अर्थ में हुआ और दूसरी ओर वाग्वैचित्र्य एवं वैलक्षण्य लिए हुए काव्यों के लिए। छायावादी कवियों की वृहत्त्रयी—'प्रसाद', 'निराला' और पन्त' के रूप में अवतरित हुई। इसमें श्रीमती महादेवी वर्मा का भी विशेष एवं विशिष्ट योगदान है। इन लोगों ने आधुनिक हिन्दी कविता को प्रौढ़ता एवं प्रांजलता की पराकाष्ठा पर पहुंचाया है। इनकी रचनाओं, विशेषकर आरम्भिक कविताओं पर रवीन्द्र की स्पष्ट छाया दृष्टिगोचर होती है।

नाटक के क्षेत्र में भी रवीन्द्र के नाटकों ने यथेष्ठ प्रभाव डाला है। श्री द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के बाद कवीन्द्र रवीन्द्र के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद हुआ। श्री गोपाल राम 'गहमरी' ने सर्वप्रथम 'चित्रांगदा' का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया। महाकवि रवीन्द्र ने यद्यपि इस नाट्य काव्य की रचना सन् १८९२ में की किन्तु इसके नृत्य नाट्य का संगीतात्मक रूप सन् १९३६ ईस्वी में तैयार किया। इस नाटक की रचना की प्रेरणा कवीन्द्र रवीन्द्र को उस समय हुई जब कि वे रेलगाड़ी में बैठे शान्ति-निकेतन से कलकत्ते की ओर जा रहे थे। इस सम्बन्ध में स्वयं उनका कथन है "..... तब शायद चैत का महीना होगा। रेल के किनारे-किनारे पेड़-पौधों का जंगल था। पीले, बैंगनी-सफेद पुष्प खिल रहे थे। देखते-देखते चिन्ता आई मन में कि कुछ दिनों बाद धूप तेज हो जाएगी और तब फूल अपने रंगों की मरीचिका में आप ही खो जाएंगे। नव पल्ली-प्रांगणों में आम लगेंगे डाल-डाल पर। और तरु-प्रकृति अपने हृदय के निगूढ़ रस-संचार का स्थायी परिचय देगी अपने अप्रगल्भ फल-सम्भार से। इसके साथ ही, न जाने क्यों, सहसा मेरे मन में उस सुन्दरी युवती की याद आई जिसने यौवन की माया से प्रेमी के हृदय को मुग्ध कर रखा है.....। इस भाव को नाट्य-आकार में प्रकट करने की इच्छा उसी समय मन में आई और साथ ही याद आई 'महाभारत' की 'चित्रांगदा' की कथा। यह कहानी कुछ रूपान्तर लिए हुए बहुत दिनों से मेरे मन में प्रच्छन्न थी। अन्त में लिखने का आनन्दित अवकाश मिला उड़ीसा के पाण्डुआ नामक एक निभृत गांव में।" कवीन्द्र के इस नाटक के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों की चर्चा इसलिए आवश्यक है कि महाकवि के सर्वश्रेष्ठ नाटक के रूप में 'चित्रांगदा' ने हिन्दी नाट्य रचना तथा रंगमंच को भी प्रभावित किया है।

सन् १९३७ के लगभग जब कवीन्द्र रवीन्द्र शान्ति-निकेतन के छात्र-छात्राओं का दल लेकर अपने नाट्य-प्रदर्शन के लिए निकले तो 'चित्रांगदा' नृत्य नाट्य देखने का अवसर मुझे भी मिला था। पटना के गांधी मैदान के निकट स्थित ऐलिफिनिस्टन सिनेमा के रंगमंच पर एक ऐतिहासिक और चिरस्मरणीय आयोजन हुआ था। बिहार की राजधानी पटना में उन दिनों कवीन्द्र रवीन्द्र के आगमन की सर्वत्र चर्चा थी। उन दिनों मैं हाई स्कूल का विद्यार्थी था। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि उक्त सांस्कृतिक आयोजन का प्रवेश टिकट बहुत पहले ही बिक गया था। मुझे टिकट मिल चुका था। इसकी बड़ी प्रसन्नता थी। निश्चित तिथि को महाकवि रवीन्द्र सदलबल पधारे और 'चित्रांगदा' का चिरस्मरणीय नृत्य नाट्य प्रारम्भ हुआ।

रंगमंच की साज-सज्जा महाकवि की मौलिक एवं आदर्श स्वरूप-कल्पना के अनुकूल थी। मंच के बाएं पार्श्व में कुर्सी पर श्वेत परिधान में कवीन्द्र रवीन्द्र स्वयं विराजमान थे। महाकवि नृत्य नाट्य का निर्देशन करते हुए नाटक की कथा तथा कथनोपकथन की संगीतमय अवतारणा कर रहे थे। अर्जुन और चित्रांगदा के प्रेम का यह पौराणिक नाट्य, महाकवि की मौलिक भावनाओं तथा चित्रांकन से अत्यन्त आकर्षक बन गया था। इसके संगीत की मधुरता तथा मोहकता ने जिसमें स्वयं कवीन्द्र ने आदि से अन्त तक प्रमुख भाग लिया था—झंकृत कर दिया था विदग्ध विदुषों के हृदय की वीणा का तार-तार। चित्रांगदा और मदन, अर्जुन तथा चित्रांगदा के मार्मिक कथनोपकथनों का एक ओर नृत्य नाट्य द्वारा भाव प्रदर्शन हो रहा था, वहीं दूसरी ओर महाकवि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रवीन्द्र के नेतृत्व में उनकी मण्डली के विशिष्ट कलाकारों का समवेत स्वर उसकी संगीतमय अभिव्यक्ति एवं अवतारणा कर रहा था।

हिन्दी कथा साहित्य पर कवीन्द्र रवीन्द्र का प्रभाव हिन्दी उपन्यासों एवं कहानी साहित्य में भली भांति देखा जा सकता है। महाकवि सफल कहानीकार भी हैं। आपने कई सौ कहानियां लिखी हैं। इन कहानियों में भारतीय ग्रामों के सरल-सहज जीवन के दुख-सुख का ऐसा मार्मिक चित्रण हुआ है कि वे हमारे हृत्तल को स्पर्श करती हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'कथा' की समस्त कहानियां अपनी पत्नी के देहावसान के पश्चात् अपने पुत्र के मनोरंजन के लिए लिखी थीं। 'गल्प गुच्छ' के चार खण्डों में प्रायः एक सौ कहानियां संगृहीत हैं। आधुनिक छोटी कहानियों का रवीन्द्र ने एक आदर्श उपस्थित किया, जिसका प्रभाव हिन्दी के कथा साहित्य पर भी पड़ा है। पोस्टमास्टर, सुमा, काबुली-वाला आदि कहानियों में मानव के अन्तरद्वन्द्व का जैसा मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है वह तत्कालीन हिन्दी कहानी साहित्य में नहीं था। रवीन्द्र के कथा शिल्प ने भी हिन्दी कहानी साहित्य पर अपनी छाप अंकित की है। कवीन्द्र रवीन्द्र की कहानियों ने कथा शिल्पियों का ध्यान भारत के ग्रामीण जीवन की ओर आकृष्ट किया और वहां के जीवन की झांकियां प्रस्तुत कीं।

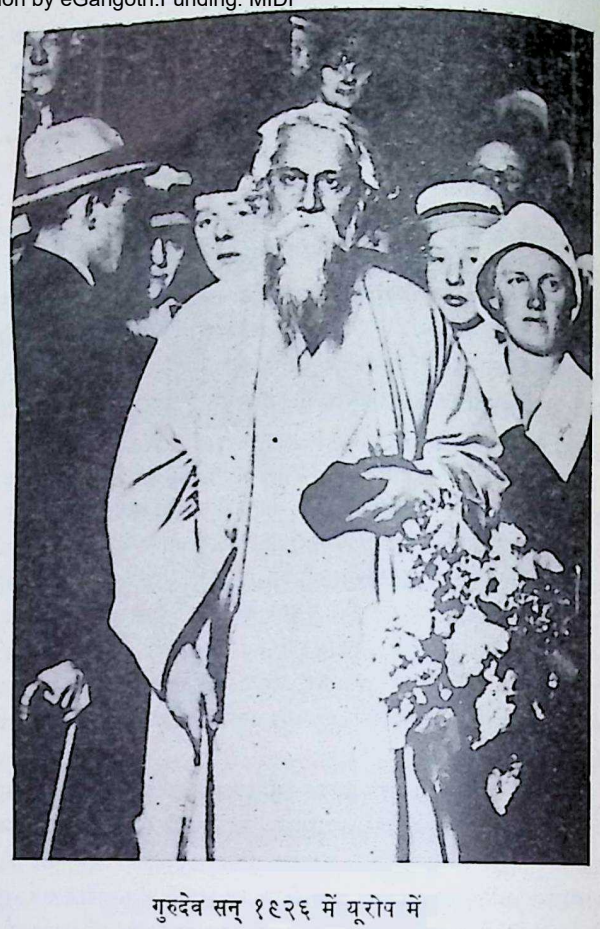

गुरुदेव सन् १९२६ में यूरोप में

रवीन्द्रनाथ छायाकार : नगेन्द्र भट्टाचार्य

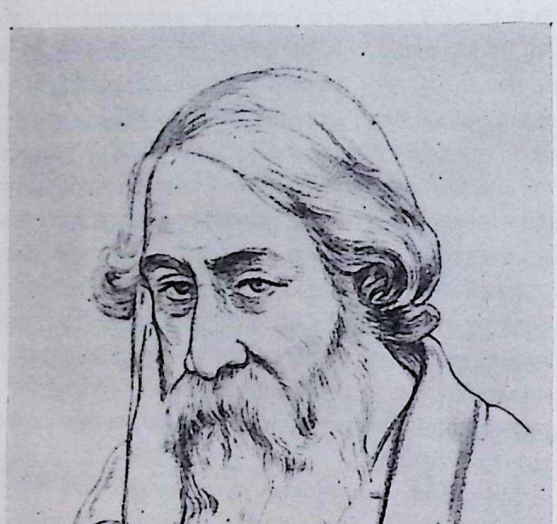

अपने नाटकों और उपन्यासों द्वारा भी कवीन्द्र ने भारतीय कथा-साहित्य को प्रभावित किया है। आपके नलिमी, मायार, खेल, राजा और रानी, विसर्जन, भग्न हृदय, मुक्तधारा, अचलायतन, नटीर पूजा, रक्त कवरी उल्लेखनीय नाटक हैं। इनमें 'चित्रांगदा' की विशेषताओं का पहले ही उल्लेख हो चुका है। इन नाटकों के अभिनय तथा हिन्दी रूपान्तरों ने हिन्दी के नाटकों और रंगमंच पर यथेष्ठ प्रभाव डाला है। यही बात आपके उपन्यासों के भी सम्बन्ध में कही जा सकती है। करुणा, बहु ठकुरानीर, हाट, चोखेरवाली, नौका डूबी, घरे बाइरे, राजर्षि, गोरा, दि रेक में भारतीय जीवन की सजीव अनुभूतियां अंकित की गई हैं। 'दि रेक' में हिन्दू परिवार की मार्मिक झांकी है। भक्ति भावना से पूर्ण, प्रेम और सेवा की वृत्तियों से जीवन कितना आनन्दपूर्ण हो जाता है, इसी का प्रतिपादन 'दि रेक' में हुआ है। जासूसी, तिलस्मी कथा साहित्य के स्थान पर वास्तविक जीवन की समस्याओं और उलझनों का वर्णन-विश्लेषण रवीन्द्र के कथा साहित्य की विशेष देन है। कथा-साहित्य के रचना विधान में संस्कृत पदावली का प्रयोग तथा प्रभावोत्पादक भाषा-शैली के व्यवहार के लिए भी हम महाकवि रवीन्द्रनाथ के ऋणी हैं।

आधुनिक हिन्दी कविता के कवीन्द्र रवीन्द्र अनन्य प्रेरणा स्रोत हैं। कविवर पन्त और महाकवि 'निराला' की कविताओं पर महाकवि

(शेष पृष्ठ ९१ पर)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भारतीय शिक्षा-चिन्ता और रवीन्द्रनाथ

सुनीलचन्द्र सरकार

पाश्चात्य शिक्षा-चिन्ता और कर्म का धारावाहिक विवरण हमें मिल जाता है किन्तु भारतीय शिक्षा-चिन्ता और क्रिया-कलाप के सम्बन्ध में जो तत्व अथवा तथ्य उपस्थित किए जाते हैं वे इतने बिखरे हुए और महत्त्व की दृष्टि से कभी-कभी इतने अप्रधान होते हैं कि अनेक आधार पर भारतीय चिन्ता-धारा का कोई सुस्पष्ट रूप खड़ा करना प्रायः असम्भव होता है। जो सामग्री मिलती है उससे कुल मिलाकर एक मोटी धारणा मात्र बनती है, अधिक नहीं। आश्रम अथवा तपोवन की शिक्षा के पीछे हिन्दू समाज की बलिष्ठ वर्ण-व्यवस्था वर्तमान थी, जिससे उस शिक्षा को आधुनिक अर्थ में लौकिक अथवा ऐहिक नहीं कहा जा सकता।

किन्तु यदि शिक्षा को जीवन के दूसरे क्षेत्रों से स्वतन्त्र न करके समस्त जीवन को ही शिक्षा-साधन का जीवन्त क्षेत्र मानें तो इसे स्वीकार करने में शायद किसी को आपत्ति नहीं होगी कि हमारे देश की प्रतिभा ने इस विषय में जो सूक्ष्म, निपुण, पर्याप्त और सुसम्बद्ध विचारधारा सामने रखी है, उसकी तुलना नहीं मिलती। उपनिषद और गीता का प्रभाव केवल धर्म-सम्प्रदायगत साधना पर ही नहीं पड़ा, उसने लौकिक जीवन में आत्म-संगठन और आमोन्नति के बहुमुखी प्रयास की प्रेरणा जुगाई है।

आधुनिक भारत के जिन मनीषियों ने देश की संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया है और हमारी शिक्षा में उस संस्कृति को प्रतिफलित करने का प्रयास किया है, वे सभी उपनिषद् और गीता द्वारा विशेष रूप से प्रभावित जान पड़ते हैं। गाँधीजी को यदि हम बाकायदा एक शिक्षाविद् के रूप में देखेंगे तो उनके प्रति अन्याय होगा। शिक्षा के क्षेत्र में उनका दान प्रतिभा का एक विद्युत्-स्फुरण कहा जा सकता है। उसमें किसी सुसंबद्ध विचार धारा का अन्वेषण करना उचित नहीं होगा। निःसन्देह उनकी चिन्ता पर भी गीता का प्रभाव विशेष रूप से स्पष्ट है, तथापि इस प्रसंग में उनकी चर्चा हम छोड़ सकते हैं। यहां हम जिन श्रेष्ठ शिक्षा-नायकों का उल्लेख करना चाहते हैं वे हैं—विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ और श्री अरविन्द। विचार करने पर मालूम होगा कि इन तीनों के शिक्षा चिन्तन की भित्ति और उसका ढांचा गीता में ही निहित है। गीता वेद-उपनिषद् का सूत्रसंकलन ग्रंथ है, इसलिए उसकी सहायता से हम यहां भारतीय शिक्षा के मूल सूत्रों का परिचय पा सकते हैं और साथ ही यह देखने का प्रयास कर सकते हैं कि उक्त शिक्षा-नेताओं का झुकाव किन पहलुओं की ओर है।

पहला सूत्र है, आत्मबोध अथवा समस्त बाधाओं को हटा कर आत्म-शोधन के द्वारा अपनी अन्तरतम सत्ता को प्रकाशित करना। इसी रास्ते साधक समता और अनासक्ति की उपलब्धि करते हुए स्थित-प्रज्ञ हो जाता है। दूसरा सूत्र आत्मबोध के भीतर से अखिल विश्व के साथ एकात्मता का अनुभव करता है। तब आत्मबोध और विश्व-बोध में कोई पार्थक्य नहीं रह जाता। तीसरा सूत्र है, अपने में और अन्य सभी में भगवान् का दर्शन तथा भगवान् के भीतर समस्त की उपलब्धि। जिस साधना के द्वारा विश्व-बोध और ईश्वर-दर्शन एक साथ ही संभव है, उस साधना का आधार है एक विशाल समन्वय, जिसमें प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा की त्रिवेणी प्रवाहित रहती है। इसे भक्ति, ज्ञान और कर्म-योग के नाम से भी पुकारा गया है। गीता इन तीनों योग-मार्गों का एक अपूर्व सम्मिलन है। हम जानते हैं कि विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ और श्री अरविन्द—तीनों इस महान् योग-समन्वय के प्रति अत्यन्त आस्थावान थे।

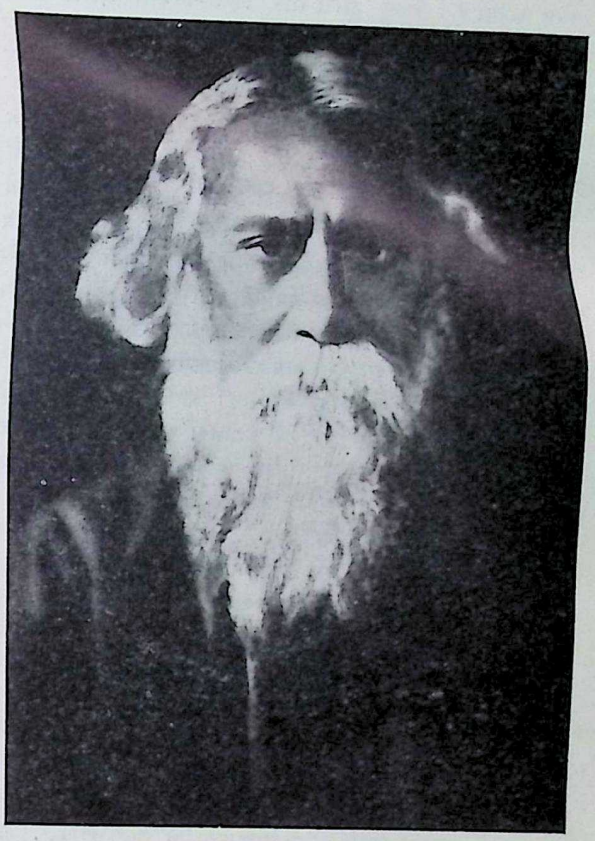

चिन्तक रवीन्द्रनाथ ठाकुर (१९२४ में)

आत्म-साधना की इस त्रिविध प्रक्रिया को केवल धर्म अथवा अध्यात्म-साधन के क्षेत्र में सीमित करके नहीं देखा जा सकता। जीवन के समस्त

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

तथाकथित आध्यात्मिक और लौकिक प्रयास इसी प्रक्रिया के छन्द में बंधे हुए हैं। पूर्व और पश्चिम के सभी शिक्षा-विशारदों ने आत्मबोध और विश्वबोध के महत्त्व को स्वीकार किया है, यद्यपि इस स्वीकृति में प्रकार-भेद है। तृतीय प्रयास अर्थात् ईश्वर दर्शन को यूरोप की कैथोलिक शिक्षा-चिन्ता में प्रधान स्थान प्राप्त था। आज हम देखते हैं कि आधुनिक शिक्षा-संस्कार सबसे पहले ज्ञान की साधना को धर्म और अध्यात्म के प्रभाव से सम्पूर्ण मुक्त करके उसे सोलहों आने लौकिक या ऐहिक बनाना चाहता है। किन्तु दूसरी ओर किसी-न-किसी आदर्श अथवा नीति की ओर मानव के ऊर्ध्वमुखी प्रयास की आवश्यकता आज पश्चिम के अनेक शिक्षा-नायक अनुभव कर रहे हैं, इस सत्य को भी आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता।

भारत की अपनी शिक्षा-चिन्ता का एक प्रधान लक्षण यह है कि वह ईश्वर-दर्शन की साधना को भुला कर शिक्षा की किसी भी परिकल्पना को यथार्थ शिक्षा के रूप में नहीं स्वीकार करती। जब हम यह कहते हैं कि विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ और श्री अरविन्द तीनों इसी भारतीय परम्परा के अनुयायी हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि वे शिक्षा को धर्म-नीति और धर्म-चर्या के कठोर शासन के हाथों सौंप देना चाहते हैं। वास्तव में वे भारतीय चिन्ता परम्परा के साथ सजीव सामञ्जस्य रखते हुए केवल इसी सत्य को पुनराविष्कार और स्वीकार करने के प्रयासी रहे हैं कि जीवन को किन्हीं बनावटी चहारदीवारियों में बांध रखना बुद्धि का काम नहीं, धर्म के क्षेत्र में आत्मोन्नयन और इष्ट-लाभ के उद्देश्य से जो साधन सामने रखे गए हैं, उनका प्रयोग आवश्यक हेर-फेर के साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी निःसन्देह सम्भव और उपयोगी है।

आधुनिक भारत के शिक्षित समाज के अनेक विचारक शिक्षा के प्रसंग में गीता और योग की चर्चा को शायद अप्रसन्न और संदिग्ध दृष्टि से देखेंगे। यह पाश्चात्य शिक्षा का कदाचित ऊपरी प्रभाव है किन्तु कौतुक और कुतूहल की बात यह है कि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम कुछ वर्षों से शुरू करके आज तक पश्चिमी विचारधारा जिस रास्ते चलती आई है, उसकी दृष्टि से ऐसा कहना अन्याय नहीं होगा कि पश्चिम ने अपनी परम्परा और परिवेश के अनुकूल एक प्रकार के ज्ञान और कर्म-योग को ग्रहण किया है। प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान, प्रयोगात्मक मनस्तत्त्व, मनोविश्लेषण आदि की सहायता से मनुष्य की मूल प्रकृति और उसके व्यक्तित्व के अन्तरंग रहस्यों का अन्वेषण करने की चेष्टा को हम किसी हद तक ज्ञानयोग का आधुनिक पाश्चात्य संस्करण कह सकते हैं। शिक्षा का नवीन सूत्र-प्रयोग के द्वारा सीखना अथवा 'प्रॉजेक्ट' या ड्यूई का 'एक्टिविटी प्रोग्राम' आदि, जिनका प्रभाव गांधीजी की बुदियादी तालीम और सरकार के शिक्षा-सुधार के प्रस्तावों पर देखा जा सकता है, किसी दृष्टि से नए ढंग के कर्मयोग के अन्तर्गत पड़ते हैं।

इस प्रसंग में भारतीय और पाश्चात्य शिक्षा-दर्शन के बीच कुछ मौलिक प्रभेद देखे जा सकते हैं। पहला भेद यह है कि आत्मा की स्वयं सम्पूर्णता की स्वीकृति और बाहर के विविध आवरणों को दूर करते हुए आत्मा को प्रकाशित करने की साधना विशेष रूप से भारतीय अथवा कम-से-कम प्राच्य कही जा सकती है। आधुनिक भारत की शिक्षा-चिन्ता से यदि हम विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ और श्री अरविन्द द्वारा अनुप्राणित विचारधारा को ग्रहण करते हैं तो स्वीकार करना होगा कि यह आत्म-तत्व भारतीय शिक्षा-दर्शन की एक प्रधान विशेषता है। आत्म-विस्तार और एकात्मता-साधन के द्वारा विश्व के सार्विक-तत्व अथवा चेतना तक पहुंचना यूरोपीय दर्शन में अपरिचित नहीं, किन्तु ऐसा कहना भ्रामक नहीं होगा कि यह तत्त्व भी मूलतया भारत से ही प्रचारित हुआ है। कम-से-कम इतना अवश्य माना जा सकता है कि इसकी जैसी विस्तृत और गंभीर उपलब्धि, विश्लेषण और साधन इस देश में हुआ है, उसकी तुलना में पश्चिम की समग्र चेष्टा अपरिस्फुट और प्राथमिक जैसी जान पड़ती है। यह भारतीय शिक्षा चिन्तन की दूसरी विशेषता है। तीसरी है, अभीप्सा और आत्मोन्नयन की चेष्टा के द्वारा अपनी उच्चतम सत्ता अथवा आदर्श को प्राप्त करना। आदर्श-वाद ने यूरोपीय शिक्षा को भी प्रभावित किया है, किन्तु इस जनतांत्रिक युग में व्यक्ति-स्वाधीनता और आदर्श की अनिवार्यता के बीच एक प्रकार का विरोध मान लिया जाता है। भारत के तीनों शिक्षा-नायकों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि व्यापक शिक्षा के भीतर आध्यात्मिक अनुभूति का ऐश्वर्य किस प्रकार संचारित किया जा सकता है। चौथी विशेषता मनुष्य के इन्द्रिय बोध के विश्लेषण, शोधन और उसकी विभिन्न क्षमताओं के विकास-साधन के विषय में योग-शास्त्र की व्यावहारिक आलोचना है। यह आलोचना ज्ञान, कार्य और उपासना के सभी क्षेत्रों में प्रयुक्त है। पश्चिम का 'एप्रिसियेशन' अथवा मूल्य-बोध गीता की भाषा में श्रद्धा का रूप लिए हुए है। श्रद्धा से एकात्मकता, सहानुभुति और अन्तर्दृष्टि आती है तथा कर्म के भीतर से समस्त तत्त्वों का सार्थक प्रयोग सिद्ध होता है। इस प्रकार इन तीनों प्रक्रियाओं का सचेतन व्यवहार भी भारतीय चिन्ताधारा का एक विशेष लक्षण जान पड़ता है।

विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ और श्री अरविन्द की शिक्षा-चिन्ता में उक्त सभी सामान्य लक्षण गृहीत हुए हैं। तथापि तीनों के विचारों में अपनी-अपनी विशिष्ट छाप है। विवेकानन्द के अनुसार "मनुष्य के अन्तर में जो स्वयंसम्पूर्णता सहज ही पाई जाती है, उसे प्रकाशित करने का ही दूसरा नाम शिक्षा है।····चकमक पत्थर में समाई हुई आग के समान ज्ञान-शक्ति अन्तर में ही निहित है; बाहर का संकेत घर्षण के द्वारा इसी गोपन अग्नि को प्रदीप्त कर देता है।"

आज से कोई अर्ध-शताब्दी पूर्व रवीन्द्रनाथ ने 'तपोवन' शीर्षक निबन्ध में लिखा था: "भारतवर्ष ने जिस साधना को ग्रहण किया है वह है विश्व-ब्रह्माण्ड के साथ चित्त का योग, आत्मा का योग अर्थात् सम्पूर्ण योग। यह केवल पश्चिमी अर्थ में ज्ञान का योग नहीं, बोध का योग है। गीता में कहा गया है कि इन्द्रियों को श्रेष्ठ वस्तु माना जाता है किन्तु मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, बुद्धि मन से श्रेष्ठतर है और बुद्धि से भी श्रेष्ठ हैं स्वयं भगवान्।·····इन्हीं सर्वश्रेष्ठ को निखिल के भीतर बोध के द्वारा अनुभव करना भारत की साधना है। अतएव यदि हम मानते हैं कि भारतवासी की शिक्षा का प्रधान लक्ष्य उसे भारतवर्ष की इसी साधना में दीक्षित करना है तो हमें यह भी निश्चय-पूर्वक स्मरण रखना होगा कि केवल इन्द्रियों की शिक्षा को ही नहीं, केवल ज्ञान-शिक्षा को भी नहीं, बोध की शिक्षा को हमारे विद्यालयों में प्रधान स्थान देना होगा।·····भारतवर्ष का सत्य है ज्ञान में अद्वैत तत्त्व, भाव में विश्वमैत्री और कर्म में योग-साधना।"·····कवि ने अन्यत्र कहा है, "हमारे अन्तर में वे कौन हैं जो मानव होते हुए भी व्यक्तिगत मानव को अतिक्रम कर के सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट हैं? वे सर्वजनीन, सर्वकालीन मानव हैं।·····उनका आकर्षण निरन्तर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मनुज के अन्तर से अपना कार्य करता है, इसीलिए आत्मप्रकाश की प्रत्याशा और प्रयास में मानव कहीं किसी सीमा को स्वीकार नहीं करता।" और भी : "अपूर्णता को क्षय करके पूर्ण के साथ हमारा मिलन विशुद्ध आनन्दमय होगा, यही अभिप्राय विश्वमानव के भीतर प्रतिष्ठित है।·····मनुष्य ने अपने चैतन्य को अपने ही असीम की ओर प्रसारित किया है। वह ज्ञान, प्रेम और कर्म में वृहत्तर ऐक्य को प्राप्त करना चाहता है।" तथा "मानव के विचित्र सम्बन्धों में आनन्द का रस निहित है। उसी को लेकर सर्वत्र एक महारस प्रकट हो रहा है? रसोवै सः।·····जब अहं अपनी एकान्तिकता को भूल पाता है, तभी सत्य के दर्शन करता है।"

श्री अरविन्द के अनुसार "भारत ने व्यक्तिरूप मानव के भीतर सदा आत्मा के दर्शन किए हैं, शरीर और मन के अन्तराल में भागवत तत्त्व के ज्योतिकण की उपलब्धि की है, प्रकृति के भीतर विश्वसत्ता और आत्मा का सचेतन प्रकाश देखा है।·····इसी प्रकार समग्र मानव जाति में विश्व-तत्त्व का जो दर्शन प्राचीन काल में पाया गया था, उसी के अनुसार हमें मानव के सांस्कृतिक उत्कर्ष की परिकल्पना करनी होगी। हमें समझना होगा कि यही विश्व-शक्ति व्यक्तिरूप मानव की विविध क्षमताओं को विकसित करके उसे एक दिव्यतर सत्ता और जीवन की ओर प्रेरित करते हुए अपनी पूर्णता की दिशा में अग्रसर हो रही है।····सार्वभौम अहं को हमारे व्यक्तिगत विच्छिन्न अहंतत्त्व में सीमित करके ही हमारी असम्पूर्ण व्यक्तिसत्ता बनी है।····· अविद्या के भीतर से ही हमारा विकास हो रहा है, जो आत्म-आविष्कार और विश्व आविष्कार के समस्त सुख-दुःख के द्वारा वैचित्र्य प्राप्त कर रहा है। उसकी आंशिक सफलता और उसके बार-बार नाना प्रकार से पाने और खोने से मिलकर जिस अवस्था की सृष्टि हुई है, वही हमारी प्रारम्भिक अवस्था है। इसी में से हमें अनिवार्य रूप से विकसित होते हुए विद्या की अवस्था में उपनीत होना होगा। यह विकास आत्म-आविष्कार और उन्मोचन के भीतर अपना रूप ग्रहण करेगा। वह उच्चतम अध्यात्म सत्ता के द्वारा सभी कुछ के अन्तर में सुप्त दिव्यभाव को प्रकाशित करेगा। प्रकृति में भी उसकी वही सत्यतम शक्ति-लीला व्यक्त होगी जो आज भी हमारे बोध और चेतना की पहुंच के बाहर है।"

उपर्युक्त उद्धरणों के सहारे हम तीनों चिन्ता नायकों की दृष्टिभंगी का कुछ परिचय प्राप्त करते हैं। विवेकानन्द ने विस्तृत और सुपरिकल्पित रूप से शिक्षा के विषय में नहीं सोचा। उन्हें इसका सुयोग भी नहीं मिला। श्री अरविन्द ने बंग-भंग आन्दोलन के पूर्व से ही भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में विचार किया था। रवीन्द्रनाथ ने वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से ही शिक्षा की परिकल्पना और रूप के विषय में दीर्घकाल तक चिन्ता की थी। शिक्षा-शास्त्र के अनेक सूत्र और संकेत केवल उनके निबन्धों ही में नहीं, विभिन्न गीतों में, नाटकों और प्रहसनों के विविध चरित्रों तथा संलापों में और शान्ति-निकेतन में प्रवर्तित अनेक रीति-नीति व्यवहार में साकार हो उठे हैं। उन्होंने केवल इस विषय की व्याख्या-विवेचना ही नहीं की, अपने वक्तव्य और अपनी भावनाओं को साहित्य तथा व्यवहार के भीतर से लोक चेतना के सामने प्रत्यक्ष प्रतिष्ठित किया। इस दृष्टि से वे भारतीय शिक्षा के पुनरुद्धारकों में अग्रणी हैं और उनकी देन संसार के शिक्षा-नायकों की तुलना में अद्वितीय है। दार्शनिक विश्लेषण और उसकी पूर्णतम व्याख्या में श्री अरविन्द का दान निःसन्देह अतुलनीय है, किन्तु सन्तोष का विषय यह है कि रवीन्द्रनाथ ने अपनी असाधारण मनीषा और सहज-बोध के द्वारा जिन सत्यों का आविष्कार और व्यवहार किया है, उनमें से प्रत्येक का समर्थन श्री अरविन्द की स्वतन्त्र चिन्ता में मिल जाता है।

आधुनिक काल में शिक्षा-सम्बन्धी सूक्ष्म समस्याएं और कुछ अनिवार्य मतभेद अनायास ही हमारे सामने आते हैं। उदाहरण के लिए यदि आत्म-तत्त्व और विश्व-तत्त्व एक ही अद्वितीय आत्मा के साथ अभिन्न रूप से युक्त हैं तो शिक्षा के लक्ष्य और साधन भी क्या सब के लिए एक होंगे? अथवा वहाँ अनेक आदर्शों और मार्गों के लिए अवकाश है? परमतत्त्ववाद और सापेक्षिकतावाद में से हम किसे ग्रहण करें यदि उन्हें ग्रहण भी करें तो क्या यह स्वीकार नहीं कर रखना चाहिए कि काल की अनन्त धारा में आज का वैचित्र्य कभी विचित्रतर हो उठेगा? विभिन्न प्रकार के 'टाइप' अथवा जाति-रूपों की निरन्तर परिणति में क्या किसी नवीन की उद्भावना की संभावना नहीं है? यदि है तब तो शिक्षा को भी निरन्तर विकासशील होना पड़ेगा। फिर यदि व्यक्ति बराबर बदलता रहता है और उसे बदलना शिक्षा की जिम्मेवारी है तो व्यक्ति-सत्ता का सुसंगत क्रमिक परिवर्तन किस केन्द्र को घेर कर संभव होगा? अहं, मन, बुद्धि, मूल प्रकृति आदि में से हम किसे विकास का माध्यम मानेंगे? कौन-सा तत्त्व परिणामशील अथवा अपरिवर्तनीय है? उनमें क्या सम्बन्ध है? साथ ही विश्व-तत्त्व में भी विकास की प्रक्रिया चलती है या नहीं? किसी अति-प्राकृत अथवा अति-चेतन की सत्ता को मानना आवश्यक है अथवा नहीं? मानवतावाद पर आधारित संस्कृति हमारे लिए काम्य है अथवा आध्यात्मिक अलौकिक संभावना का ही हम अनुसरण करेंगे?

लक्ष्य करने की बात है कि हमारे तीनों चिन्तानायक पश्चिम के विकासवाद की मान्यता को अस्वीकार नहीं करते। रवीन्द्रनाथ ने अपनी अनेक कविताओं और निबन्धों में विकासवाद के प्रति आस्था दिखाई है। इसकी पूर्णतर विवृति श्री अरविन्द की समस्त चिन्ता के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। विवेकानन्द ने विकासवाद के सूक्ष्म तात्पर्य को लेकर विशेष विचार नहीं किया। उन्होंने समाज अथवा वृहत्तर मानव-सत्ता को भगवान का प्रकाश माना है और श्रद्धा-सहित ईश्वर की सेवा का उपदेश दिया है किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में व्यष्टि और समष्टि की पारस्परिक प्रतिक्रिया तथा सम्बन्ध किस प्रकार काम में लाए जा सकते हैं, यह सोचने-विचारने का अवसर उन्हें नहीं मिला। वे प्रधानतः श्रद्धा, सहानुभूति और सेवा के भाव से अनुप्राणित हैं। इस दृष्टि से हम गांधीजी को उनका मानस-उत्तराधिकारी कह सकते हैं।

रवीन्द्रनाथ के साहित्य और उनके शान्ति-निकेतन की परिकल्पना में प्रारम्भ से ही उक्त चिन्ता के सभी सूत्र अपने को प्रकट करते रहे हैं। इक्कीस वर्ष की वयस में सदर स्ट्रीटवाले मकान में रवीन्द्रनाथ को जो गम्भीर आध्यात्मिक उपलब्धि हुई थी वह 'निर्झरेर स्वप्नभंग' कविता में प्रकट हुई है और उसने उनके समूचे परवर्ती विकास को जैसे एक बीजमंत्र के समान प्रभावित किया है। इसी केन्द्रीय उपलब्धि ने उनके जीवन और शिक्षा दर्शन की समस्त चिन्ता तथा भावसूत्रों को व्यक्तिगत आविष्कार का रूप दिया है। अन्तरात्मा ने 'जीवनदेवता'

(शेष पृष्ठ ९१ पर)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रवीन्द्रनाथ : कला-चिन्तक के रूप में

जगदीश गुप्त

कवि, कथाकार, शिल्पी आदि अनेक रूपों में व्यक्त होने वाली महान् सृजनात्मक प्रतिभा से सम्पन्न विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का व्यक्तित्व अपनी 'गुरुदेव' संज्ञा की वास्तविक सार्थकता कदाचित् एक सजग युगद्रष्टा और तत्वदर्शी कला-चिन्तक के रूप में ही उपलब्ध करता है। उनकी दृष्टि तल-स्पर्शी, गम्भीर और विवेक-युक्त रही है। अपने युग की समस्याओं को, चाहे उनका सम्बन्ध साहित्य और कला से हो चाहे मानव-इतिहास और व्यापक जीवन से हो, उन्होंने पूरी यथार्थता के साथ लक्षित किया और भारतीय संस्कृति की औपनिषदिक युग से चली आने वाली प्रौढ़ चिंतन-परम्परा से यथेष्ट लाभ उठाते हुए उनका यथासंभव संतुलित रीति से समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की। आगे आने वाले सांस्कृतिक संकट का आभास भी उनकी दूरदर्शिता ने पा लिया था और इसीलिए उनके विचार न केवल आज भी उपादेय लगते हैं वरन् मेरी धारणा है कि आगामी युग में भी उनकी महत्ता उत्तरोत्तर बढ़ेगी ही। उनकी वाणी अनुभव-सिद्ध कलाकार की वाणी है। 'दि रिलिजन आफ एन आर्टिस्ट' नामक अपनी रचना में कला और सौन्दर्य के विषय में जो चिंतन सार रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है वह मुझे कलाकार के रूप में पर्याप्त प्रेरक और ग्राह्य प्रतीत होता है। कला के मौलिक स्वभाव को जितनी प्रांजलता और सूक्ष्मता से उन्होंने परिलक्षित किया है उतनी बहुत से ख्याति प्राप्त दार्शनिकों में भी उपलब्ध नहीं होती इसीलिए अब उनके चिंतन को दार्शनिक महत्ता भी प्राप्त होने लगी है। यह संभव है कि उनकी विचारधारा के अंश सर्वथा मौलिक न सिद्ध हों अथवा उनसे आगामी युग अपनी पूर्ण सहमति न व्यक्त कर सके तथापि उनके दृष्टिकोण की महत्ता अक्षुण्ण रहेगी ऐसा सहज ही विश्वास होता है क्योंकि जिस दृष्टिकोण से उन्होंने जीवन और कला को देखा उससे आधुनिक विदेशी चिंतक देखने के अभ्यस्त नहीं हैं। रवीन्द्रनाथ के रूप में भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठतम उपलब्धियों ने इस भौतिकता प्रधान युग में जैसे अपने को पुनः उपलब्ध किया है। गांधी जी ने जिस प्रकार भारतीय नैतिक दृष्टि को पुनः प्रतिष्ठित किया ठीक वैसे ही रवीन्द्रनाथ ने भारतीय सौन्दर्य दृष्टि को पुनरुज्जीवन प्रदान किया। परिणामतः दोनों ही युग पुरुष के रूप में मान्य हुए।

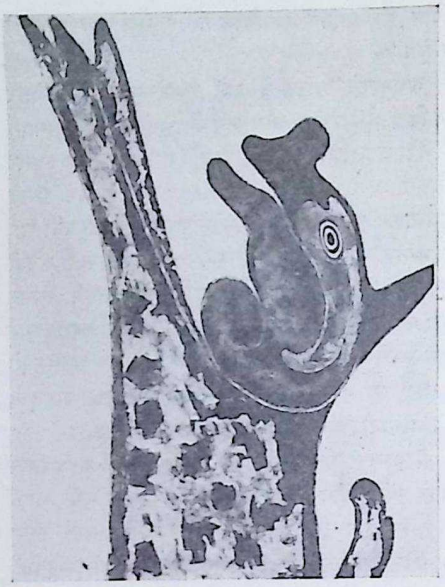

कला विषयक धारणा

"कला मानव के जीवन की सम्पन्नता उद्घाटित करती है जो सम्पूर्णता के स्वरूपों में अपनी मुक्ति खोजती है, ये स्वरूप ही अपने आप में एक साध्य हैं।"

"अमूर्त्त सत्य विज्ञान और अध्यात्म का विषय हो सकता है किन्तु जीता-जागता यथार्थ जगत कला का विषय है"

ऊपर उद्धृत दोनों वाक्य उनके कला-प्रदर्शन के आधारभूत स्तम्भ जैसे हैं, क्योंकि यह उस दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं जिससे एक कलाकार के रूप में उन्होंने जीवन को देखा है और उसमें कला को महत्वपूर्ण पाया है। मार्क्सवादी तथा कुछ अन्य योरोपीय विचारकों की तरह वे उपयोगिता के ऊपरी स्तर से ही कला की महत्ता नहीं नापते थे। मनुष्य के भौतिक शरीर की अपेक्षा उसकी चेतना, उसका मन और उसकी आत्मा उनके निकट अधिक मूल्यवान थी। प्राचीन भारतीय आनन्दवाद का आश्रय लेकर उसी की परितृप्ति को उन्होंने कला का मुख्य उद्देश्य घोषित किया। उनके अनुसार उपयोगितावादी दृष्टि प्रकृति से केवल मनुष्य के संघर्ष और उस पर विजय को ही देख पाती है। प्रकृति में निहित रचनात्मक शक्ति से रागात्मक एकता और तज्जन्य आनन्द की उपलब्धि उसकी शक्ति के बाहर की बात है। जो संतोष मनुष्य को प्राकृतिक शक्तियों को पराभूत करके मिलता है उससे अधिक प्रकृति के सामंजस्य से अपनी रचनात्मक शक्तियों के विकास द्वारा प्राप्त होता है अतएव उपयोगितावादी दृष्टि खंडित सत्य को व्यक्त करती है। मात्र उसी का अनुसरण करके मनुष्य तुष्ट नहीं हो सकता। मुक्ति का अनुभव भी उसे कला और साहित्य में निहित सृजनशीलता के माध्यम से विशेष उपलब्ध हो पाता है। यान्त्रिक सभ्यता का तन्तु-जाल एक सीमा के बाद मनुष्य को मुक्त करने के स्थान पर बांधने और निर्जीव बनाने लगता है। रवीन्द्रनाथ ने भौतिक विकास मात्र से संतुष्ट होने वाली मानवता की

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उपमा उस बालक से दी है जो अपने शरीर मात्र की वृद्धि से उत्फुल्ल हो उठता है । महाकाय मशीनों के जाल में फंसती सभ्यता उन्हें उस युग का स्मरण दिलाती थी जब प्रकृति ने सरीसृपों की आन्तरिक एवं आत्मिक स्वतन्त्रता का अपहरण करके उनकी काया को भीमाकार प्रदान किया था । जिस प्रकार प्रकृति को विवश होकर विकासक्रम में अपना मार्ग बदलना पड़ा उसी प्रकार उनकी दृष्टि से भावी सभ्यता भी भारी मशीनों से ऊब कर लघु उद्योगों की ओर झुकेगी और आन्तरिक परितृप्ति के लिए उसे भौतिकता के स्थान पर कला और साहित्य का मुखापेक्षी होना पड़ेगा । सबसे बड़ी बात उन्होंने यह कही कि वैज्ञानिक विश्लेषण से जो अमूर्त तथ्य उपलब्ध होते हैं वे जगत के सत्य स्वरूप को व्यक्त नहीं करते । उसकी मायामयता कला-सृजन के अधिक निकट है ।

यह बात दूसरे उद्धरण में स्पष्ट कही गई है । प्लेटो आदि यूनानी विचारकों ने कला को हीन स्थान इसलिए दिया कि वे उसे अनुकृति की अनुकृति मानते थे परन्तु रवीन्द्रनाथ ने भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए अनुकृति के स्थान पर कला के प्रसंग में आत्म-संस्कृति के तत्व पर विशेष बल दिया और उसे अद्वितीय महत्ता प्रदान की । कला के संस्पर्श में अमरत्व का गुण निहित है इसको लक्षित करते हुए उन्होंने उसे अपनी आनन्दवादी व्याख्या से जोड़ दिया ।

आन्तरिक अन्विति के सहारे 'विश्वमानव' की प्रतीति कराने की क्षमता उनकी दृष्टि में उस कल्पना-व्यापार में ही निहित है जो कला का मूल आधार है । कला को वे मानव की एक अनिवार्य आवश्यकता मानते थे क्योंकि इस सम्बन्ध में वे अतिरिक्त ऊर्जा के सिद्धान्त के पोषक थे । इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य में आत्म रक्षण (सैल्फ प्रिजरवेशन) के लिए अपेक्षित ऊर्जा से अधिक शक्ति निहित है । जिसको वह आत्माभिव्यक्ति में प्रयुक्त करने के लिए विवश होता है और साहित्य-संगीत-कला आदि इसी का परिणाम हैं । आत्मरक्षण तो पशु भी कर लेते हैं । मानव की मानवीयता और आत्मगौरव इसी में है कि वह उससे उच्चतर स्थिति में अपने को प्रतिष्ठित करे । कला का कल्पनामय प्रकाश मनुष्य को उसी तरह वेष्ठित किए हुए है जैसे पृथ्वी को प्रकाशपूर्ण वातावरण । मनुष्य मनुष्य के बीच एकता के सूत्रों को संवारने की उसमें अद्भुत सामर्थ्य है ।

जहां तक मैं अवगत हूं आज का विश्व-चिन्तन इसी 'विश्वमानव' की खोज में व्यस्त है । राष्ट्रीय, जातीय और धार्मिक अहंकारों में विभाजित मनुष्य क्या उनसे ऊपर उठकर किसी प्रकार विश्व व्यापी धरातल पर एक हो सकता है, यही प्रश्न आज का सबसे प्रमुख प्रश्न है और इसके समाधान का जो संकेत गुरुदेव ने किया है वह उनके विश्व कवित्व को सार्थक करता है । निश्चय ही कला और साहित्य ही वह क्षेत्र है जहां मनुष्य की उदात्त भावनाओं को पूर्ण और विशुद्ध अभिव्यक्ति मिलती है अतएव यही वह स्तर है जहां आधुनिक मनुष्य की एकता संभव है । मध्यकाल की तरह आज का मनुष्य पुनः धर्म की साम्प्रदायिक परिधि में घिर कर संतुष्ट नहीं हो सकता । उसे केवल नैतिकता ही नहीं संवदना का भी संबल चाहिए जो साहित्य और कला के ही क्षेत्र की बात है ।

सौन्दर्य विषयक अभिमत

कला और सौन्दर्य परस्पर अविभाज्य हैं अतएव कला विषयक धारणाएं सौन्दर्य-बोध की एक निश्चित प्रक्रिया की ओर निर्देश करती हैं । रवीन्द्रनाथ सापेक्षिक रीति से सौन्दर्य को जीवन में क्या स्थान प्रदान करते थे, इसका कुछ आभास उनकी 'दुइ नारी' शीर्षक प्रसिद्ध कविता से मिलता है जिसमें उन्होंने उर्वशी और लक्ष्मी के प्रतीकों से अपनी बात कही है । उर्वशी यौवन की उद्दाम प्रज्वलित आकांक्षा और मादकता का प्रतीक है और लक्ष्मी सौम्य उदात्त और मातृ गौरव से युक्त सौन्दर्य की प्रतिमा । रवीन्द्र दर्शन के एक विशेषज्ञ ने इस संदर्भ में उनकी तुलना जर्मन दार्शनिक नीत्शे से करते हुए लिखा है कि यहां उक्त प्रतीक - विधान नीत्शे द्वारा कला में निर्दिष्ट एपोलोनियन और डायोनीसियन तत्वों के समानान्तर दिखाई देता है । साथ ही जहां नीत्शे को केवल प्रतिकूलता प्रतीत हुई वहां टैगोर को नितान्त विरोध लक्षित हुआ । कविता के अन्त में कवि ने एक ही सृजन-प्रक्रिया के दो पक्षों के रूप में दोनों प्रतीकों की यथार्थता स्वीकार करली है ।

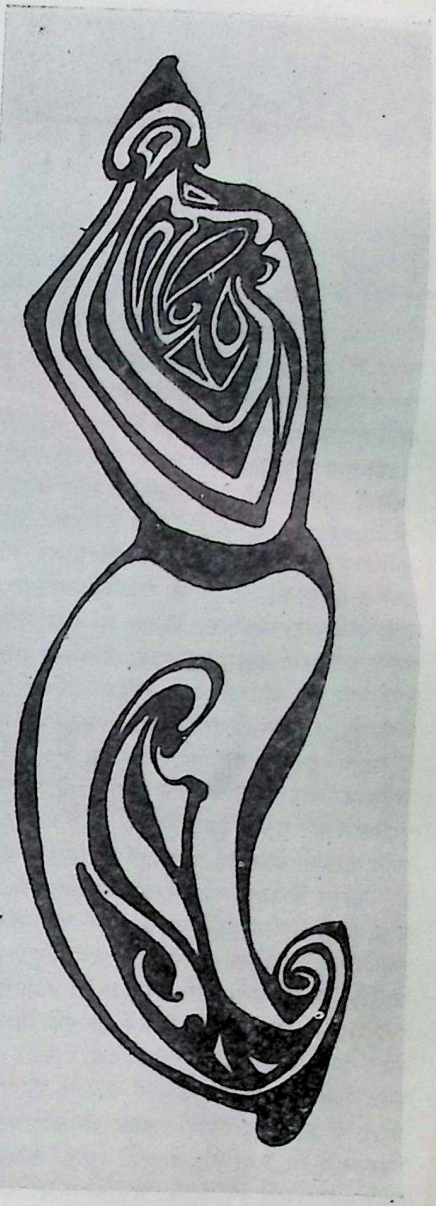

कविता का कथ्य अन्ततः सांकेतिक ही होता है अतः सौन्दर्य विषयक उनके स्पष्ट अभिमत के ज्ञान के लिए जिज्ञासु को पुनः उनकी गद्य-कृति तक जाना पड़ता है ।

आन्तरिक संगति, सत्य की उपलब्धि, आत्मिक शान्ति और आनन्द की स्थिति उनके सम्पूर्ण जीवन दर्शन के आधार-बिन्दु रहे हैं । उनका

(शेष पृष्ठ ९६ पर)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

त्यागमूर्ति पं० मोतीलाल नेहरू

गोविन्द दास

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री एच० जी० वेल्स ने एक जगह लिखा है—"मैं पैदा हुआ यही तो सब से महान् घटना है।" इस सृष्टि में न जाने कितने सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और ग्रह हैं। इनमें से सूर्य पर तो वनस्पति और जीव सृष्टि की रचना उसके ताप के कारण सम्भव नहीं है, यद्यपि हाल ही में एक ऐसे पौधे का पता लगा है जो सैकड़ों डिग्री ताप में भी जीवित रहता और विकास करता है। शेष चन्द्रमाओं, नक्षत्रों और ग्रहों में से किसी में वनस्पति और जीवधारियों की सृष्टि है या नहीं, इसका अब तक पता नहीं लग पाया है। जो कुछ हो, हमारी पृथ्वी पर भी नित्य न जाने कितने जीव जनमते और मरते रहते हैं। इस दृष्टि से अन्य जीवों की तुलना में मनुष्य के सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने पर भी किसी व्यक्ति का क्या महत्त्व है। यों कोई भी मनुष्य एक सूखी पत्ती, एक पानी के बुदबुदे और एक रजकण के भी तुल्य नहीं है। हाँ, काम का अवश्य महत्त्व है और इस दृष्टि से इस क्षणभंगुर शरीर वाले उस व्यक्ति का महत्व हो ही जाता है जो अपने जीवन में करने योग्य कार्य कर पाता है। श्री वेल्स महोदय का यह कथन भी और किसी पर चाहे लागू न हो, पर मोतीलाल जी के सदृश व्यक्तियों पर अवश्य लागू होता है, यदि उस कथन में थोड़ा-सा परिवर्तन कर 'मैं' के स्थान पर 'वह' कर दिया जाए।

भारत के आधुनिक युग में राजनैतिक क्षेत्र के व्यक्तित्व की दृष्टि से शायद पं० मोतीलाल जी नेहरू से बड़ा व्यक्तित्व और कोई नहीं हुआ। एक तो निसर्ग ने ही उन्हें भव्य बनाया था, दूसरे उस भव्यता में जिन भव्य बातों का समावेश हो गया था, उनके कारण उनके व्यक्तित्व में यह उक्ति चरितार्थ हो गई थी कि 'सोने में सुगन्धि' का मिश्रण हुआ है।

पण्डित जी न बहुत ऊंचे थे और न बहुत ठिगने ही। अवस्था के बढ़ाव के साथ शरीर की स्थूलता भी कुछ बढ़ी थी, पर उसमें बहुत भद्दापन न आ पाया था। वे अपने सत्तरवें वर्ष में स्वर्ग सिधारे। परन्तु अन्तिम कुछ वर्षों को छोड़कर वृद्धावस्था तक व्यायाम करते रहे। यही कारण था कि शरीर में स्थूलता आने पर भी भद्दापन न आ पाया। काश्मीरी गौर वर्ण के तो होते ही हैं, अतः पण्डित जी को भी यह वर्ण-वरदान प्राप्त हुआ। फिर इस गौरे रंग को बुढ़ापे के कारण श्वेत हो गए केश और भी गोरा बना रहे थे। जवाहरलाल जी के सदृश मोतीलाल जी के सिर के बाल नहीं झड़े थे। इस अवस्था में भी वे संवारे हुए बाल रखते थे। सन् १९२६ तक उनके मूंछें भी थीं और मूंछें छोटी या खसखसी नहीं, खूब बड़ी तथा दोनों ओर की नोकें एकदम ऊपर उठी हुईं। मुझे तो उनका मूंछों से युक्त आनन मूंछों से रहित मुख की अपेक्षा कहीं अधिक भव्य जान पड़ता था। और मुझे ही क्यों जब सन् १९२६ में उन्होंने मूंछें निकाल दीं, तब शिमला में केन्द्रीय

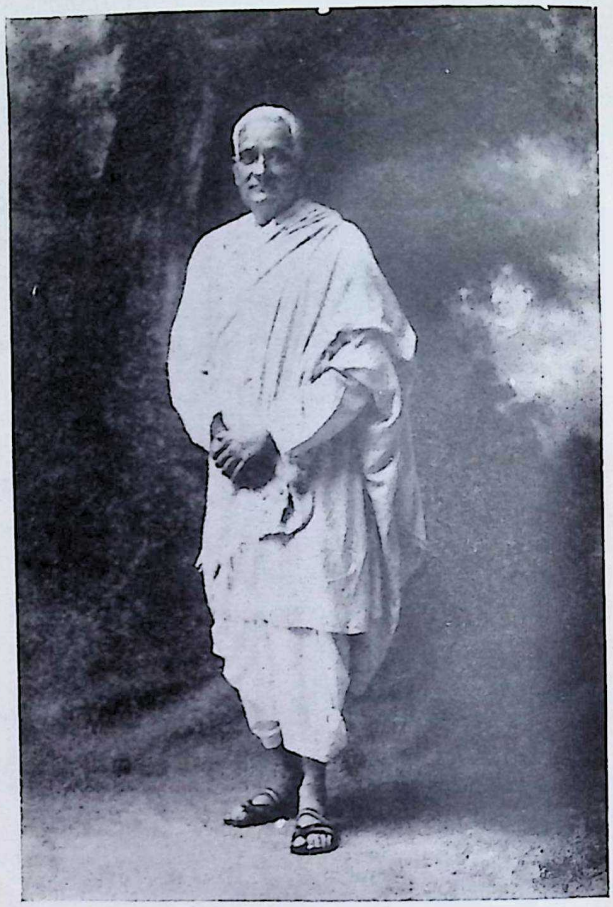

त्यागमूर्ति पं० मोतीलाल नेहरू

व्यवस्थापिका सभा के अधिवेशन के समय शिमले की नारियों की ओर से एक शिष्ट मण्डल उनसे इसीलिए मिला कि वे अपनी मूंछों से पुनः सहयोग करें।

असहयोग के समय पण्डित जी ने अपनी पश्चिमी वेश-भूषा को छोड़ खादी का कुरता और धोती धारण करना आरम्भ किया। उस समय खादी बहुत अच्छी तो नहीं मिलती थी, परन्तु जो अच्छी से अच्छी खादी प्राप्य थी, उस खादी के उनके वस्त्र होते थे। सन् १९२३ में स्वराज्य पार्टी के नेता के रूप में जब उन्होंने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में प्रवेश किया, तब उनकी असहयोग वाली वेश-भूषा भी उसी प्रकार बदल गई जिस प्रकार असहयोग में आते ही पश्चिमी ढंग की वेश-भूषा बदली थी।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अब उन्होंने शेरवानी और चूड़ीदार पाजामा पहनना प्रारम्भ किया, जो वेश-भूषा उनकी अन्त तक चलती रही।

मोतीलाल जी में शाही शान और बुद्धिवादियों की शान दोनों का अनोखा मिश्रण था। वे अपने जमाने में प्रयाग हाई कोर्ट के दो सर्वोच्च वकीलों में थे। उस समय प्रयाग हाईकोर्ट में सर सुन्दर लाल और पण्डित मोतीलाल जी सर्वोच्च वकील माने जाते थे। दोनों की ही अन्धाधुन्ध आमदनी थी। पर अन्तर यह था कि सुन्दरलाल जी अपनी आय का एक-एक पैसा संग्रह करते थे और मोतीलाल जी उसे दोनों हाथों से उलीचते थे। आनन्द भवन का क्या रहन-सहन था? शायद बड़े से बड़े राजा-महाराजाओं का भी वैसा नहीं। इस रहन-सहन के कारण ही जन-साधारण में यह धारणा फैल गई थी कि मोतीलाल जी के कपड़े पेरिस से धुलकर आते हैं।

मोतीलाल जी स्वभाव से दबंग और गर्वीले थे। अपनी वकालत में सफलता मिलने के बाद इस स्वभाव में बुद्धिवादी शासन और शाहियानापन का पुट और चढ़ गया। उनके इस शाहियानापन का तो उनके जीवन पर शायद कोई बुरा असर नहीं पड़ा, यह इस लिए भी कि वे गाँधीजी के असहयोग में सम्मिलित हो गए। परन्तु उनकी बुद्धिवादी शान का उनके जीवन पर कुछ ऐसा असर भी पड़ा जिसने मोतीलाल जी के अनेक विरोधी भी बना दिए थे। इस सम्बन्ध में यहां एक दो उदाहरण दूंगा। जब वे केन्द्रीय असेम्ली में काँग्रेस दल के नेता थे, उस समय काँग्रेस दल के मंत्री थे उड़ीसा के श्री नीलकंठदास। नीलकंठदास जी के रहन-सहन में स्वच्छता का थोड़ा अभाव रहा करता था। एक दिन शिमले में वे पण्डित जी से मिलने पहुँचे और उनके निकट की एक कुर्सी पर बैठ गए। श्री नीलकण्ठदास जी के कुछ लम्बी-सी दाढ़ी थी। कुछ ही देर बाद पण्डित जी ने कहा, "कभी-कभी तो नीलकण्ठ दास, दाढ़ी में साबुन लगा लिया करो। बदबू आ रही है, तुम्हारी दाढ़ी से"। सन् १९२६ के चुनाव में लाला लाजपतराय के विरोध में भी मोतीलाल जी के भाषणों में कटुता आ गई थी। सार्वजनिक व्यवहार में भी इस बुद्धिवादी शान के कारण पण्डित जी अनेक बार अपने विरुद्ध बड़ा भारी विरोध खड़ा कर लेते थे।

इस प्रसंग में दो साधनाओं का उल्लेख कर दूं, एक तो विरोध करते समय सिद्धान्तों की ही चर्चा करें, व्यक्तिगत बातों को नहीं। दूसरे हम सामूहिक रूप से किसी भी प्रान्त, जाति या समुदाय पर कभी आक्षेप न करें, चाहे हमारा पक्ष कितना ही सत्य और न्यायपूर्ण क्यों न हो। सिद्धान्तों पर अगर मतभेद हो तो आदमी को सर्वथा अकेले खड़े रहने का साहस भी होना चाहिए जैसा गाँधी जी ने अनेक प्रसंगों पर कहा और किया है। मोतीलाल जी इन्हीं सब बातों में, भाव, स्वभाव में गाँधी जी से भिन्न रुचि रखते थे। गाँधी जी जहाँ अपने विरोधियों को अपनी पारदर्शी सच्चाई, अपने निश्छल प्रेम और विनम्र व्यवहार तथा मोहक व्यक्तित्व से जीत लेते थे वहाँ मोतीलाल जी गाँधी जी के उल्टे उन लोगों की खबर लिए बिना नहीं रहते थे जिनकी राय उनके खिलाफ होती थी। उन्हें सदा इस बात का ध्यान रहता कि उनका मिजाज शाही है और अपने इसी शाही मिजाज के कारण वे विरोधी को पचा नहीं पाते थे। जवाहरलाल जी ने अपने पिता के स्वभाव के इस पक्ष पर 'मेरी कहानी' में लिखा है --"विरोध से वह अधीर हो जाते थे, विरोध को सहन नहीं कर सकते थे।" उनके प्रति लोगों का या तो आकर्षण होता था या तिरस्कार। उनसे कोई उदासीन या तटस्थ नहीं रह सकता था। अनिवार्यतः हरेक को या तो उन्हें पसन्द करना पड़ता था या नापसंद। अपने इसी रोबीले व्यक्तित्व के कारण वे जिस समाज में जा बैठते उसके केन्द्र बन जाते और लोग सहज ही उन्हें मुखिया मान बैठते।

पण्डित जी के हृदय में प्रेम की मात्रा भी पर्याप्त रूप से थी, इसीलिए वे व्यक्तिगत सम्बन्धों को भी बहुत महत्त्व देते थे। कभी किसी पर कुपित होते तो उसका परिमार्जन तो करते ही पर इस परिमार्जन के सिवा प्रेमपूर्ण व्यक्तिगत सम्बन्ध भी रखते। उस समय के नेताओं में से अधिकांश में यह बात थी। लोक मान्य तिलक से मैं केवल एक ही बार मिला। पर उस भेंट में मैंने उनमें एक विशेष प्रकार की प्रेम-भावना देखी। महात्मा गाँधी, श्रीमती एनी बेसेन्ट, पण्डित मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, देशबन्धु चित्तरंजनदास और मोतीलाल जी सभी में यह बात थी। मोतीलाल जी का यह व्यक्तिगत सम्बन्ध बहुत लोगों से था, मुझ से भी। उनके और मेरे इस सम्बन्ध में मैंने उनसे सदा अटूट स्नेह, और पितृ वात्सल्य पाया। इसके साथ ही जैसा कि स्वाभाविक ही था जहाँ दुलार मिलता है वहाँ कुछ फटकार भी सहनी पड़ती है। एक बार मुझे पण्डित जी का कोप भी सहना पड़ा था।

इस प्रकार मोतीलाल जी में एक तरफ दबंगपन था, जिसमें अनेक बार कटुता आ जाती थी और दूसरी ओर प्रेम की भी कमी नहीं थी। परन्तु इन भावनाओं के बावजूद वे मूल रूप से हृदय से शासित न होकर मस्तिष्क से ही शासित होते थे। एक अनुभवी, सफल और सर्वोच्च वकील होने के कारण उन्हें व्यष्टि और समष्टि का सच्चा ज्ञान हो गया था। यह ज्ञान आदर्शों से अधिक व्यावहारिक था। जब वे किसी बात पर गम्भीरता से विचार करते और उस विचार में कोई भावना प्रधान समस्या न रहती, तब उनका संतुलन कभी न बिगड़ता। ऐसे समय जब निर्णय करने के लिए स्थिति पेचीदा रहती है और भगवान के इस कथनानुसार कि--'कि कर्म किंअकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः' कार्य दिशा निश्चित करने में उलझन रहती है तब उनके निर्णय प्रायः आकाट्य रहते। ऐसे समय वे सदा तर्क का आश्रय लेते, और जो आत्म-विश्वास उन्हें अपनी सफलताओं के कारण प्राप्त हो गया था, वह उन्हें अपने निर्णयों पर अचल रखता। इसीलिए उनमें एक अद्भुत प्रकार की शालीनता आ गई थी। उनमें कोई जोश की मात्रा नहीं थी, यह तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि उनमें जोश का सर्वथा अभाव होता तो वे गाँधी जी के साथ कैसे होते और विशेषकर जिस रूप में आजादी के आन्दोलन में उन्होंने भाग लिया बिना जोश के न ले पाते। यद्यपि गाँधी जी के साथ होने में और देश के स्वातन्त्र्य आन्दोलनों में भाग लेने में जोश से अधिक उनकी देशभक्ति थी, जिसे उन्होंने गाँधी जी को लिखे एक पत्र में अपना धर्म माना है। यद्यपि देशभक्ति और देश-प्रेम स्वयं अपने आप में एक उत्साह प्रेरित जोशपूर्ण भावना है। मनुष्य के इस देश-प्रेम पर जब चोट होती है अथवा उसे दबाया जाता है तो वह तिलमिला उठता है। देश-प्रेम की यह भावना जब आदमी के भीतर उमड़ती है तो उसके अन्दर ठिठुरन या ठंडक नहीं वरन् अंगारे और ज्वालाएं उठती हैं। फिर ये देश-प्रेम के दहकते अंगारे और ज्वालाएं तब तक शांत नहीं होते जब तक उसे अपनी मातृभक्ति, देशभक्ति, देशप्रेम का अधिकार नहीं मिल जाता। इस प्रकार मोतीलाल जी भी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आजादी के दीवाने थे, देशप्रेम, देशभक्ति के परवाने थे, उनमें भी देश-भक्ति की उस शमां आजादी की उस लौ और देशप्रेम की उस मशाल में जल जाने, मर मिटने की चाह थी, उत्साह और जोश था, पर यह था अत्यन्त संयत । इस जोश में उस पतंगे की तरह निरर्थक उन्माद न होकर वह सार्थक विवेक था, जो बुद्धिवादी जीव के लिए उपयोगी और आवश्यक है।

मोतीलाल जी बड़े से बड़े बुद्धिवादियों में से एक थे । एक सफल वकील होने के नाते जीवन भर उनकी विचारधारा वैधानिक ही रही। उन्होंने नरम दल के नेता के रूप में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। यह प्रधानतया उनकी वैधानिक विचारधारा का ही परिणाम था। चूंकि उनमें देशभक्ति कूट-कूट कर भरी हुई थी और देश की स्वाधीनता का प्रयत्न वे अपना कर्त्तव्य कर्म ही नहीं, धर्म मानते थे। इसलिए आगे चलकर वे गाँधी जी के प्रभाव में आए और जवाहरलाल जी के गाँधी जी के प्रति अत्यधिक खिंचाव के कारण गाँधी जी का यह प्रभाव मोतीलाल जी पर और अधिक पड़ा जिसके फलस्वरूप जो कानून उनके लिए आदरणीय था, उस कानून को भी तोड़कर उन्होंने जेल यात्राएं तक कीं।

मोतीलाल जी का सार्वजनिक जीवन तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला विभाग सन् १९०७ से सन् १९१८ तक। दूसरा, सन् १८ से २० तक और तीसरा सन् २० से ३० तक। तीसरे विभाग के दो खण्ड हैं, एक खण्ड में वे गाँधी जी के अनुयायी रहे तथा दूसरे खण्ड में वे देश के एकमात्र नेता रहे।

सन् १९०७ से १८ तक उनका नेतृत्व इलाहाबाद और संयुक्त प्रान्त तक ही सीमित रहा। वह समय ही ऐसा था, जब इधर-उधर कुछ छुट-पुट राजनैतिक कार्य होते रहते थे। अपने सार्वजनिक जीवन के दूसरे विभाग में उन्होंने पहले विभाग की अपेक्षा कहीं अधिक प्रसिद्धि पाई। पंजाब के हत्याकाण्ड के बाद उन्होंने उस सम्बन्ध में पंजाब में जो कार्य किया, उसका एक ऐतिहासिक महत्त्व है। सन् १९१८ में काँग्रेस के अमृतसर अधिवेशन का उन्होंने सभापतित्व किया और सारा देश उन्हें जान गया।

सन् १९२० के सितम्बर में गाँधी जी के असहयोग कार्यक्रम को काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में स्वीकृत किया और उस समय के देश के प्रधान नेताओं में मोतीलाल जी पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने उस कार्यक्रम का समर्थन किया। इसी वर्ष नागपुर में काँग्रेस का साधारण अधिवेशन हुआ। इसमें देश के उस काल के सभी प्रधान नेता गाँधी जी के साथ आ गए। इन नेताओं में गाँधी जी के प्रधान अनुयायी मोतीलाल जी ही थे।

मोतीलाल जी देश के प्रधान नेता सन् १९२४ से २९ तक रहे जब उन्होंने केन्द्रीय असेम्बली में स्वराज्य और काँग्रेस दल का नेतृत्व किया। इस नेतृत्व की उनमें जैसी क्षमता थी, वैसी उस समय के अन्य किसी व्यक्ति में नहीं। वे उस समय की केन्द्रीय असेम्बली के सब से अच्छे वक्ता नहीं थे। उनसे भी अच्छे वक्ता उस समय उस असेम्बली में मौजूद थे। पर व्यक्तित्व की दृष्टि से पण्डित जी का व्यक्तित्व उस सभा का सबसे बड़ा व्यक्तित्व था। इसके कुछ कारण थे। उनमें व्यक्तित्व की जैसी शान थी, वैसी किसी अन्य में नहीं। मैंने सन् १९२३ में केन्द्रीय असेम्बली में मोतीलाल जी के साथ प्रवेश किया था। तब से अब तक मैं केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं में ही रहा हूँ। यहाँ मैंने न जाने कितने नेताओं और अंग्रेजी राज्य के समय अनेक अंग्रेज सदस्यों को भी देखा है, लेकिन ३८ वर्षों में नेतृत्व के रूप में मैंने यहां मोती-लाल जी से बड़ा कोई व्यक्तित्व नहीं देखा। दूसरे, जिस शालीनता के साथ जो त्याग उन्होंने सन् २० के बाद किया था वह सारे सभा भवन पर छाया रहता था। भारत में अपरिग्रही मानवों, त्यागियों का सदा ही सर्वोपरि स्थान रहा है। त्याग हमारे धर्म का एक प्रधान अंग भी माना जाता है। फिर देशभक्ति और देशप्रेम की पोथी में तो त्याग, और सर्वस्व त्याग का पाठ हर देश प्रेमी के लिए सर्वप्रथम पढ़ना आवश्यक होता है। इसके अभाव में देशप्रेम के लिए की गई सारी बातें फीकी पड़ जाती हैं।

मोतीलाल जी जैसे कि हमारे अन्य नेतागण हुए कोई धार्मिक पुरुष नहीं थे, उनका रहन-सहन और विचारधारा भी पश्चिम से प्रभावित थी। वे साधु-संतों-महात्माओं को नहीं मानते थे, पूजा-पाठ भी नहीं करते थे। स्वदेश की तीर्थ-यात्राओं की बनिस्बत उन्हें विदेशों का पर्यटन अधिक सुहाता था। अपने इष्ट संकल्पों की पूर्ति के लिए न वे कभी किसी देव को भजते थे और न किसी देवता की भक्ति अथवा मनौती करते थे। इसके विपरीत अपनी बुद्धि, विवेक, पुरुषार्थ और अनुभव के आधार पर कायम किए अपने आत्मबल पर उन्हें सदा एक दृढ़ आस्था रहती थी। अपनी इस दृढ़ आस्था, श्रद्धा और निष्ठा के बल पर उन्होंने देश के स्वातंत्र्य आन्दोलन में अपनी सारी शक्ति लगा दी। आनन्द भवन, जो वैभव पूर्ण वातावरण और विलासिता के लिए प्रसिद्ध था त्याग भवन बन गया। यही नहीं त्याग के आत्म बलिदान पथ का केन्द्र बना था। साथ ही गाँधी जी की पहले करनी फिर कथनी के सिद्धान्त के अनुरूप आनन्द भवन के मुखिया मोतीलाल जी ने न केवल त्याग के कठिन पथ का पथिक अपने को बनाया अपितु, अपने इकलौते पुत्र, जवाहरलाल, अपनी धर्मपत्नी श्रीमती स्वरूपरानी देवी, अपनी पुत्री विजयलक्ष्मी और कृष्णा, अपनी पुत्र-वधू, कमला, अपने दामाद रणजीत पण्डित, और सभी नजदीकी और दूर के नाते-रिश्तेदारों को त्याग की दीक्षा से दीक्षित किया। फिर क्या था, आनन्द भवन से जहाँ हर दिन हर समय सुख भोग की साज-सज्जा की जाती रही, अब सर्वस्व त्याग की सरिता उमड़ पड़ी। जहाँ श्रृंगार गीत गाए जाते थे, वह त्याग-बलिदान के नारों से गूंज उठा। पिता पुत्र मोतीलाल जी और जवाहरलाल एक ओर देशवासियों में देशानुराग और देशप्रेम की भावनाएं भर रहे थे तो दूसरी ओर सास-बहू, स्वरूपरानी जी और कमला देश की महिलाओं में नवचेतना ला रही थीं। आजादी की आकांक्षा जो मोतीलाल जी के हृदय में उठी वह असहयोग के संसर्ग से आग बन गई और यह देशप्रेम की उठती ज्वालाओं में सारे देश में फैल गई। स्वाधीनता की पवित्र वेदी पर आहूति रूप मोतीलाल जी का न केवल निज का व्यक्तित्व अपितु सारे परिवार रूप से समग्र व्यक्तित्व बाजी पर लगा हुआ था। आन्दो-लन काल में देश में यज्ञ का वातावरण था। देश का ही नागरिक अपनी सामर्थ्य और शक्ति अनुरूप इस यज्ञ में अपनी श्रद्धाहुतियाँ अर्पित कर रहा था, कोई किसी रूप में कोई किसी रूप में। पर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सर्वरूप से सर्वस्व बलिदान की भावना से अभिभूत स्वतंत्र यज्ञ की इस बलि वेदी पर यदि कोई व्यक्ति उस काल अभय भाव से खड़ा रहा तो वह था त्यागमूर्ति पण्डित मोतीलाल नेहरू। अनुशासित सैनिक-सा नेहरू परिवार क्रमशः स्वतंत्रता के इस बलिदानी पथ पर अडिग भाव और अचल निष्ठा से अन्त तक चल त्याग के श्रेष्ठ सोपान पर चढ़ता गया जहाँ हमारे साधकों, सन्यासियों, सन्तों, और भक्तों का भगवत् साक्षात्कार होता है। तपोमय त्यागमूर्ति मोतीलाल जी का वह सर्वस्व त्याग और सतत् साधनावाला व्यक्तित्व ही आज पुत्र रूप से स्वाधीनता का साक्षात्कार और सेवन कर रहा है। श्री एच० जी० वेल्स के कथनानुसार भारत के इस युग की--"वह पैदा हुआ यही तो सब से महान् घटना है।"

मोतीलाल जी के त्याग-गर्वित इस व्यक्तित्व पर अपनी अगणित श्रद्धांजलियाँ अर्पित करता हूँ।

भारतीय शिक्षा-चिन्ता और रवीन्द्रनाथ--(पृष्ठ ८५ का शेषांश)

का स्वरूप पाया है, जिनके सौन्दर्य और महिमा की गवाही समस्त रवीन्द्र-काव्य में सौरभ के समान बसी हुई है। उस पर व्यक्तिगत अनुभूति की छाप है। जीवन देवता के साथ उनके चैत्य-पुरुष की विरह-मिलन लीला उनके गीतों में निरन्तर छन्दित और नन्दित हो उठी है। भावना यहां इतनी अन्तरंग है कि अनुरागी श्रोता और पाठक उसे प्रत्यक्ष सत्य के रूप में उपलब्ध करते हैं।

ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग के अनेक व्यावहारिक सूत्र हमें रवीन्द्रनाथ में मिलते हैं किन्तु एक विशेष रस--जिसे वे 'आनन्दयोग' कह कर पुकारते हैं--जीवन और शिक्षा की मूल प्रेरणा के रूप में उनका मौलिक दान है। ऋषियों ने जिस आनन्द तत्त्व की बहुविध व्याख्या की है, रवीन्द्रनाथ के प्रसाद से हम उसे जीवन्त और क्रियाशील रूप में व्यवहार-जगत् में रूपान्वित करने का आश्वास पाते हैं।

पश्चिम में शिक्षा दर्शन को अनेक श्रेणियों में विभक्त किया गया है जैसे आदर्शवाद, स्वभाववाद, व्यवहारवाद, मानवतावाद, अतिप्राकृतवाद अथवा यथार्थवाद। इन सभी दार्शनिक अथवा 'एकेडेमिक' मतान्तरों का समन्वय और समाधान प्रकारान्तर से रवीन्द्रनाथ के जीवन, साहित्य और शान्तिनिकेतन की परिकल्पना में मिल जाता है। मानव अपने स्वभाव की मुक्ति के साथ श्रद्धा-भाव को भी बनाए रख सकता है; स्वायत्तशासन के साथ गुरु की उपस्थिति में कोई अनिवार्य विरोध नहीं--यह सत्य उनके अनेक नाटकों में सजीव हो उठा है। इस प्रसंग में हम 'फाल्गुनी', 'डाकघर', 'राजा' आदि नाटकों का सहज ही स्मरण कर सकते हैं। अन्यान्य मतवादों का समाधान अनेक अविस्मरणीय गीतों में बड़े मोहक ढंग से मिल जाता है।

युक्ति और तर्क के निकट जो दुरूह है, रवीन्द्रनाथ की रस-चेतना उसी को सहज-प्राप्य बनाए हुए है। आदर्शवाद की श्रद्धा, स्वभाववाद की सहज स्वकीयता, व्यावहारवाद की सामाजिकता और प्रयोग सिद्धता--सभी राविन्द्रिक दृष्टिभंगी में अपना वैर भुला कर परस्पर मिल सके हैं। उनका शान्तिनिकेतन उनकी समस्त नीति और कर्म-कौशल के साथ 'आनन्दयोग' का साक्षी है। शिक्षा के सूत्र साहित्य में और वाणी की चेतना कर्म में इस तरह घुल-मिल गई है कि आधुनिक मानव के चित्त तक पहुंचने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। अन्तरात्मा का आवेदन किस प्रकार 'गीताञ्जलि' के माध्यम से विश्व-मानव के हृदय तक पहुंच सका था, यह इतिहास हम सभी का जाना हुआ है। तथापि शान्तिनिकेतन में ही उनकी समस्त प्रेरणा, चिन्ता और कर्म मानो अपनी पूर्णता में रूपान्वित हो उठे हैं; कदाचित, इसीलिए स्वर्गीय जगदीशचन्द्र बसु ने शान्तिनिकेतन को 'इस युग की सर्वोत्तम साधना' कह कर पुकारा था।

अनुवादक : मोहनलाल वाजपेयी

रवीन्द्र का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव--(पृष्ठ ८२ का शेषांश)

का अत्यधिक प्रभाव है, यह पहले ही कहा जा चुका है। महाकवि 'निराला' गुरुदेव रवीन्द्रनाथ से कितने प्रभावित हैं, इसका सहज अनुमान इसी तथ्य से हो जाता है कि 'निराला' जी की सर्वप्रथम साहित्यिक गद्य रचना का शीर्षक है--रवीन्द्र कविता कानन। इसमें प्रतिभा का विकास, स्वदेश-प्रेम, महाकवि का संकल्प, शिशु सम्बन्धिनी रचना, शृंगार, संगीत काव्य शीर्षक अध्यायों के अन्तर्गत महाकवि रवीन्द्र की कविताएं देवनागरी लिपि में प्रस्तुत की गई हैं और उनका विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। महाकवि रवीन्द्र ने प्राचीन संस्कृत कवियों से सुन्दर शब्दावली पाई, मध्य युगीन सन्तों के काव्य से भाव और जगद्वितैषिता प्राप्त की तथा उपनिषदों से वह रहस्यवाद पाया जो आपकी समस्त कृतियों का प्राण है। इसी से आपने समस्त भारतीय साहित्य को प्रभावित किया और उनमें युगान्तर उपस्थित किया।

सन्देह का कारण

मैं हूं कितना बड़ा--कहे नकली हीरा।
तभी मुझे सन्देह, तुम न असली हीरा।

--रवीन्द्र

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रवीन्द्र-रचना-कोष

चित्तरंजन देव

श्रीरामकृष्ण परमहंस के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए रवीन्द्रनाथ ने लिखा है:—

बहु साधकेर बहु साधनार धारा
धेयाने तोमार मिलित हयेछे तारा ।
तोमार जीवने असीमेर लीला पथे
नूतन तीर्थरूप निल ए जगते ।।

रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में इस 'बहु साधना की धारा' का सम्मिलन हुआ है। आज तक प्रकाशित सम्पूर्ण रवीन्द्र-साहित्य को पढ़कर लगता है मानो मानव-जगत् का क्रमिक इतिहास चित्र की भांति आँखों के सामने से गुजर गया हो। महाभारत के सम्बन्ध में एक स्थान पर रवीन्द्रनाथ ने लिखा था :—

> "जिस प्रकार आतशी शीशे के एक ओर सूर्य का प्रकाश परिव्याप्त है और उसके दूसरी ओर जिस प्रकार केन्द्रित दीप्ति-रश्मि है वैसे ही महाभारत के एक ओर व्यापक जनश्रुतियों की राशि है और दूसरी ओर है उन सम्पूर्ण जनश्रुतियों से निकलती हुई संहत ज्योति—वह ज्योति ही भगवद्गीता है।"

अपनी विशालता, विविधता और व्यापकता में रवीन्द्र-साहित्य महाभारत की याद दिला देता है। रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में एक तरफ से धर्म, दर्शन, विज्ञान और साहित्य सभी कुछ संकलित हुआ है। उपर्युक्त विषयों में से प्रत्येक लेखक के अनुशीलन और मनन का फल है। उनकी रचनाएँ न केवल बंगालियों अथवा भारतवासियों के अध्ययन की सामग्री हैं बल्कि सम्पूर्ण धरा के लोगों की दैनन्दिन जीवन-यात्रा का पाथेय हैं। शायद ही ऐसा कोई विषय, ऐसा कोई भाव हो जिसे रवीन्द्र-साहित्य में स्थान न मिला हो। आस्तिकता-नास्तिकता, साकार-निराकारवाद आदि सभी प्रसंगों की उन्होंने पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर चर्चा की है। मानव से मानव का परिचय जिससे सहज और सुन्दर ढंग से हो सके मानो इस संकल्प को लेकर ही रवीन्द्रनाथ ने जन्म ग्रहण किया था। संकल्प-पूर्ति के इस मार्ग को अपनाकर जिस प्रकार उन्होंने ऋषियों-मुनियों के जीवन का अध्ययन किया उसी प्रकार वे अपने देश के अवहेलितों-उपेक्षितों, बाउलों (बंगाल का गायक साधु-सम्प्रदाय विशेष), संन्यासियों से भी आन्तरिक भाव से मिले। उन्होंने निरक्षर ग्रामीण का स्वतः स्फूर्त लोक-संगीत सुनकर अपने द्वारा रचित गानों में उन सुरों को स्थान दिया है। दैनिक जीवन में पग-पग पर सामाजिक एवं सांसारिक नियमों को स्वीकार करके वे जीवन-मार्ग में अग्रसर हुए हैं। पिता के साथ-साथ की गई प्रथम हिमालय-यात्रा से आरम्भ कर पैतृक जमींदारी की देख-भाल के सिलसिले में शिलाइदह-पतिसर में रहने तक एक ओर दरिद्र ग्रामवासियों के जीवन-यापन के चित्र तथा दूसरी ओर वेद-उपनिषद्, रामायण-महाभारत, कालिदास, विद्यापति, चण्डीदास, कबीर, दादू, तुकाराम, तुलसीदास प्रभृति भारतीय इतिहास के हर अध्याय में वर्णित असंख्य प्रसंग, चित्र, ज्ञान-ध्यान सभी तो रवीन्द्र-रचना-रत्नाकर में छिपे हुए हैं। रवीन्द्रनाथ की वाणी में ही मानो हम सुन पाते हैं:—

> तारा मोर माझे सबाइ विराजे केह नहे नहे दूर,
> आमार शोणिते रयेछे ध्वनिते तारि विचित्र सुर।

'महामानवों का सागर-तीर' कहकर कवि ने स्वदेश की अर्चना की है। अपने जीवन के आदर्श-पुरुष राममोहन राय को उन्होंने 'भारतपथिक' की उपाधि दी है। तथापि किसी व्यक्ति अथवा देश विशेष की सीमाओं में अपने को बाँधकर नहीं रखा। उन्होंने घोषणा की:—

> सब ठाँइ मोर घर आछे आमि सेइ घर मरि खुंजिया।

घर बैठे हुए विभिन्न देशों के जिन गुणीजनों—ज्ञानियों के जीवन-रस का आस्वादन किया, उनके कीर्ति-कलापों से परिचय प्राप्त किया तथा उन महात्माओं की कार्य-स्थली के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित होकर ही उन्होंने कई बार पृथ्वी का पर्यटन किया। इन यात्राओं में उन्होंने हर देश के हर व्यक्ति के हृदय को छुआ। अतीत और वर्तमान का सिंहावलोकन कर उन्होंने सभी को भविष्य की कल्याणी-वाणी सुनाई :—

> पश्चिम आजि खुलियाछे द्वार, सेथा हते सबे आने उपहार,
> दिबे आर निबे, मिलाबे मिलिबे, यावेना फिरे।

पहले हमें लगता था कि अपने देश के विद्यासागर, भगवतीदेवी (विद्यासागर की माता), तथा बंकिमचन्द्र आदि प्रमुख व्यक्तियों को श्रद्धांजलि अर्पित करके ही रवीन्द्रनाथ का हृदय-रस सूख गया हो किन्तु बाद में ज्ञात हुआ, वहाँ प्रचुर रस अवशिष्ट था भगिनी निवेदिता, दीनबन्धु एण्डरूज और विलियम पियर्सन के निमित्त।

स्वदेश के बुद्ध-महावीर से आरम्भ कर शाहजहाँ और मुमताज के अतिरिक्त विदेश के ईसा-मुहम्मद, सुकरात-अरस्तू, होमर-शेक्सपियर, वर्डस्वर्थ, अलेक्जेंडर, नेपोलियन, गैरीबाल्डी आदि कोई भी तो रवीन्द्रनाथ से नहीं छूटा। वास्तव में उन्होंने किसी की भी उपेक्षा नहीं की, सभी को अपने में समेट लिया है। इसीलिए जो लोग रवीन्द्रनाथ के विरोधी थे वे भी आज उनकी उपेक्षा नहीं कर पाते हैं। जाति-वर्ण-धर्म-देश आदि के भेदों को भूलकर आज सभी रवीन्द्रनाथ की ओर उत्सुकतासूर्ण दृष्टि से ताक रहे हैं। इस उत्सुकता का कारण केवल रवीन्द्र-साहित्य ही नहीं अपितु इसका एक मुख्य कारण है इस लेख में उल्लिखित देश-विदेश के विशिष्ट व्यक्ति और उनका कृतित्व। उन विशिष्ट व्यक्तियों में से प्रत्येक के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से अध्ययन-अनुशीलन का

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सुयोग सभी को नहीं मिलता। इनमें से किसी के बारे में कुतूहल उत्पन्न होने पर रवीन्द्र-साहित्य के माध्यम से उसका निवारण किया जा सकता है। इस स्थिति में 'रवीन्द्र-रचनावली' पथ-प्रदर्शक का काम कर सकती है। सभी की हर विशिष्ट व्यक्ति अथवा हर विषय में रुचि न होने पर भी जिसकी जिसमें रुचि है उसी के सम्बन्ध में उस व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु 'रवीन्द्र-रचनावली' का आकार-प्रकार जितना वृहत् है उसमें से किसी विषय के सम्बन्ध में पूर्णरूप से सभी सम्बन्धित अंशों का संग्रह करने में लगभग पन्द्रह से बीस हजार मुद्रित पृष्ठ उलटने-पलटने होंगे।

सभी के लिए सम्पूर्ण रवीन्द्र-साहित्य का अध्ययन करना समीचीन होने पर भी सभी से यह कार्य होना सम्भव नहीं। किसी विषय में यदि किसी की थोड़ी-बहुत रुचि होती भी है तो उपयुक्त अवसर के अभाव में वह रुचि अंकुरित होते ही मुरझा जाती है अथवा सरसरी तौर पर रवीन्द्र-साहित्य उलटने-पलटने के फलस्वरूप रुचि के उस अंकुर स्थल विशेष में विष-वृक्ष भी पनप सकता है। 'रवीन्द्र-रचनावली' में उल्लिखित सभी व्यक्तियों और विषयों से सम्बन्धित अंशों को संकलित कर एक सहज-सुबोध कोष-ग्रन्थ की रचना हो जाने पर ये सारी असुविधाएँ दूर हो जातीं एवं किसी प्रकार के दुष्परिणाम की भी आशंका न रह जाती।

किसी पाठक की कोई प्रिय पंक्ति, उक्ति, विषय अथवा व्यक्ति के बारे में रवीन्द्रनाथ ने कहाँ क्या कहा है या उसकी कोई प्रिय कविता, कहानी, गान, निबन्ध आदि रवीन्द्रनाथ की किस पुस्तक में है—इस प्रकार के प्रश्न अब बहुतों के मन में आने लगे हैं। यदि किसी एक कोष-ग्रन्थ से इन सब जिज्ञासाओं का निवारण हो पाता तो कुतूहली पाठक की उत्सुकता निश्चितरूप से दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई पहले किसी विशेष विषय के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के बाद ही किसी अन्य विषय की ओर उन्मुख होती। सम्पूर्ण रचनावली के बीस हजार पृष्ठों को उलटने-पलटने के आकस्मिक भय से वे साधारण पाठक मुक्ति पा जाते। ठीक जिस बात को पाठक जानना चाहता है उसे कोष में खोजकर वह धीरे-धीरे एक-एक कर अन्य ग्रन्थों के अध्ययन की ओर अग्रसर हो सकता है। इस प्रकार कोष-ग्रन्थ पाठक की अंगुली पकड़कर आखिर उसे जब 'रवीन्द्र-रचनावली' के अन्तिम पृष्ठ तक पहुँचा देगा तो उस दिन हठात् कृपण पाठक विस्मय से चकित रह जाएगा।

एक उदाहरण देने से मेरा कथन और भी स्पष्ट हो जाएगा, यथा किसी पाठक के मन में यह प्रश्न उठे कि तुलसीदास के सम्बन्ध में भी गुरुदेव ने कुछ कहा या लिखा है? इस पर यदि पाठक 'रवीन्द्र-रचना-कोष' उठाकर तवर्ग के अन्तर्गत तुलसीदास को खोजे तो वह देखेगा कि नाम के आगे रवीन्द्र-साहित्य में जहाँ-जहाँ तुलसीदास अथवा उनसे सम्बन्धित प्रसंग आए हैं उन सबका उल्लेख वहाँ किया गया है। अब निर्देशानुसार यदि पाठक मूल ग्रन्थ के बताए हुए पृष्ठ को खोले तो उसे तुलसीदास के सम्बन्ध में गुरुदेव का निम्न वाक्य मिलेगा :—

> "...तुलसीदास की रामायण में शब्दों की खण्डता को अर्थ का अमृत पूर्ण कर दिखाता है। उस पूर्णता को देखना ही तुलसीदास की रामायण को पढ़ने का वास्तविक उद्देश्य है...।"

इससे निश्चय ही उसकी उत्सुकता बढ़ जाएगी और किस-किस स्थान पर रवीन्द्रनाथ ने तुलसीदास के बारे में लिखा है, इस सबको जान लेने की इच्छा पाठक को होगी। जिससे वह पुनः कोष-ग्रन्थ का आश्रय लेगा और 'रवीन्द्र-रचनावली' खोलकर देखेगा। इस प्रकार होते-होते एक तुलसीदास के कारण ही रवीन्द्र-साहित्य उस पाठक का हर समय साथ रहनेवाला साथी बन जाएगा।

इसी प्रकार कालिदास, कृष्णदास, गोविन्ददास, रैदास प्रभृति और भी अविस्मरणीय मानवों और उनकी कीर्ति-कथाओं को रवीन्द्रनाथ के शब्दों में भिन्न-भिन्न रुचि के लोग सुनना-सुनाना चाहेंगे। ऐसे पाठक भी मिल सकते हैं जो रवी. साहित्य में कालिदास के अतिरिक्त अन्य कुछ खोजना न चाहेंगे अथवा महाराष्ट्र के सन्त तुकाराम ही किसी व्यक्ति विशेष की उत्सुकता का केन्द्र हो सकते हैं। इस प्रकार जिज्ञासु पाठक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार जब जिसके बारे में जानना चाहेंगे 'रवीन्द्र-रचना-कोष' की सहायता से उसे खोज सकेंगे। तब प्रत्येक देश के, हर प्रकार की रुचि रखने-वाले पाठकों का रवीन्द्रानुराग सतही न होकर किसी न किसी विषय के सम्बन्ध में स्पष्ट से स्पष्टतर होता हुआ अपना मार्ग स्वयं खोज लेगा।

रवीन्द्रनाथ की अधिकांश रचनाएँ 'रवीन्द्र-रचनावली' के नाम से कुल अट्ठाइस खण्डों में एवं अवशिष्ट रचनाएँ तथा 'चिठि-पत्र' आदि उक्त ग्रन्थावली के अतिरिक्त कतिपय स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में प्राप्य हैं। उपर्युक्त ग्रन्थावली एवं अन्य ग्रंथों में प्रकाशित रवीन्द्रनाथ की सम्पूर्ण कहानियों, निबन्धों, कविताओं के शीर्षक और उन कविताओं की प्रथम पंक्ति; उपन्यास, कहानियों और नाटकों में आए हुए पात्रों के नाम; रवीन्द्र-साहित्य में किसी भी रूप में उल्लिखित व्यक्ति, स्थान, देव-दानव, विशेष-विशेष विषय तथा घटनाएँ; संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि विभिन्न भाषाओं के शब्द; वाक्य और सूक्तियों के उद्धरण; वेदोपनिषदादि के मन्त्रांश; प्रवाद-प्रवचनादि; विशेष अर्थ-बोधक शब्द तथा (स्वयं कवि द्वारा गढ़े गए विचित्र शब्द); गुरुदेव के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाएँ एवं उनसे सम्बन्धित विषयों का उल्लेख अकारादि क्रम से 'रवीन्द्र-रचना-कोष' के प्रथम खण्ड में किया गया है। प्रत्येक शब्द, वाक्य या वाक्यांश कहाँ, किस ग्रन्थ में आया है इसका विवरण निर्दिष्ट ग्रन्थ के सांकेतिक नाम और पृष्ठ-संख्या ('रवीन्द्र-रचनावली' में प्रकाशित रचनावली की एवं पृथक पुस्तक के रूप में प्रकाशित उक्त पुस्तक की पृष्ठ-संख्या) के साथ दिया गया है।

ऊपर उल्लिखित रूप में निर्देश-मात्र मिलने से रवीन्द्र-साहित्यानुरागियों को कितनी सुविधा होगी यह पहले ही कहा जा चुका है। किन्तु केवल निर्देश देना ही 'रवीन्द्र-रचना-कोष' का उद्देश्य नहीं बल्कि इसके मूल में एक और महत्तर उद्देश्य निहित है अर्थात् प्रथम खण्ड में संकलित विषयों में से कतिपय विशेष शब्दों और वाक्यों का आवश्यकतानुसार विस्तृत विवरण देते हुए 'रवीन्द्र-रचना-कोष' के द्वितीय खण्ड के संकलन का कार्य ही मुख्य है। उसमें शान्तिनिकेतन और रवीन्द्रनाथ के सम्पर्क में आए व्यक्तियों की संक्षिप्त जीवनी और उसका विवरण, उद्धरण किस मूल-ग्रन्थ से लिए गए हैं एवं उन विषयों का उल्लेख, कविता, उपन्यास, कहानी-निबन्ध के अन्तर्गत रचना का उद्देश्य तथा उसके पहली बार प्रकाशित होने की तिथि, तदनुरूप संक्षिप्त विवरण और रवीन्द्र-साहित्य में आए हुए पात्रों का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

(शेष पृष्ठ ९७ पर)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रवीन्द्रनाथ : विश्व-नागरिक के रूप में

रामसिंह तोमर

महान् कवि, चित्रकार, संगीतज्ञ, विचारक, तत्वदर्शी, मनीषी देश-काल के बन्धनों और सीमाओं से मुक्त रहते हैं। गुरुदेव का व्यक्तित्व भी ऐसा ही था। यों तो उनकी किसी न किसी श्रेष्ठ काव्य कृति का अनुवाद संसार की प्रत्येक उन्नत भाषा में हो चुका है और संसार के सभी देशों के शिष्ट जनों को उनकी प्रतिभा की झलक मिल चुकी है। फिर भी उनकी बहुमुखी प्रतिभा का अच्छा परिचय अभी अपने देशवासियों को ही नहीं मिला है तो विदेशियों का तो कहना ही क्या है। भारतीय भाषाओं में से कदाचित् सबसे अधिक अनुवाद उनकी कृतियों के हिन्दी में हुए हैं। शान्ति-निकेतन के रवीन्द्र सदन में गुरुदेव की विभिन्न भाषाओं में अनूदित कृतियों का अच्छा प्रतिनिधि संग्रह है। उससे पता चलता है कि हिन्दी में भी कम ही अनुवाद हुए हैं। मूल बंगला में भी अभी उनकी सम्पूर्ण रचनाएं (जैसे पत्रादि) प्रकाशित नहीं हुई हैं। जो प्रकाशित हुई हैं उनका परिमाण क्या कम है -- २९ बड़ी-बड़ी जिल्दें, लगभग १६,००० पृष्ठ। उनकी प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य पर्याप्त माध्यम नहीं सिद्ध हुआ। इसलिए लगभग सत्तर वर्ष की अवस्था में उन्होंने चित्रकला को अपनाया। सन् १९२७ से लगभग १०-१२ वर्ष की अवधि में उन्होंने दो हजार से भी अधिक चित्र बनाए। जैसे उनकी अद्भुत सृजन शक्ति नए रूप में प्रवाहित होने के लिए व्याकुल थी उसने नए-नए रूप और सौन्दर्य से युक्त चित्रों में अपने को प्रकट किया।

फ्रांस और जर्मनी में १९३० में उन्होंने अपने कुछ चित्रों की प्रदर्शिनी की थी तो कला मर्मज्ञों को उनके श्रेष्ठ चित्रकार होने पर आश्चर्य हुआ। काव्य में भाषा और संगीत में शास्त्रीयता प्रेषणीयता में बाधा उत्पन्न करते हैं। जो बंगला नहीं जानता या अनुवादों की भाषा भी नहीं जानता वह काव्य रस का आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता। संगीत के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। संगीताचार्य ओंकारनाथ ठाकुर और फैयाजखां के संगीत को सुनाकर यदि योरोप के लोगों से राय पूछी जाती है तो वे अनुमान से कह देते हैं कि शायद हास्य रस का कोई मखौल किया जा रहा था। चित्रकला के सम्बन्ध में ऐसी बात कम लागू होती है। उसकी भाषा अधिक व्यापक है, किन्तु विषय उसके भी सीमित प्रभाव वाले हो सकते हैं। मीकेलांजेलो के काप्पेल्ला सीस्तीना की भित्तियों पर अंकित महान् चित्र एक हिन्दू को उतनी मात्रा में प्रभावित नहीं कर सकते यद्यपि उनका विषय बहुत कुछ मानव मात्र से सम्बन्धित है। इसी प्रकार अन्य कलाकारों के विषय में भी कहा जा सकता है। गुरुदेव के चित्र इस प्रकार के स्थानीय विषयों की परिधि से बहुत कुछ परे हैं। किसी को उन्हें देखकर उत्तरी योरोप की चित्रकला का स्मरण आ जाता है, किसी को इतालीय मोदील्यानी का। जो हो, गुरुदेव की महान् बहुमुखी प्रतिभा का पूर्ण परिचय देश-विदेशों को अभी भी प्राप्त करना है। साहित्य, संगीत, कला तीनों को ही उनकी देन महान् है।

वे अपने देश की पूर्ण रूप से श्रद्धा करते थे। उन्होंने कहा है-- 'सार्थक जनम आमार जन्मेछि एई देशे' अर्थात् इस देश में जन्म मिला है, मेरा जन्म सार्थक है।

महान् साहित्यकार शाश्वत मानव मूल्यों को अपने देश के इतिहास, समाज, संस्कृति का सहारा लेकर व्यक्त करते हैं। महाकवि दान्ते ने अपनी कृति 'दिवीना कोमेदिया' (ईश्वरीय रूपक) में नरक, शुद्धि लोक और वैकुण्ठ के वर्णन ग्रीक-रोमन-ईसाई धार्मिक साहित्य से लिए हैं। इन नामों और कथाओं को पृष्ठभूमि में रखकर सार्वभौमिक मानव के मानसिक संघर्ष का दान्ते ने चित्रण किया है। गुरुदेव ने विशाल भारतीय साहित्य और समाज तथा पाश्चात्य साहित्य का आलोड़न किया था। भारतीय समाज और पुराण, इतिहास से उन्होंने अपने साहित्य के विषय चुने किन्तु उनके साहित्य में शाश्वत, सार्वभौम मानव का चित्रण हुआ है। अफगानिस्तान का मेवा-फल बेचनेवाला पठान सामान्य पितृ स्नेह के प्रतीक के रूप में लिया जा सकता है।

धर्म, जाति और दश की संकीर्णताओं का उन्होंने सारे जीवन विरोध किया। भारतवर्ष के इतिहास की धारा (भारतवर्ष इतिहासेर धारा) पर विचार करत हुए उन्होंने जातियों के घात-प्रतिघातों का बड़ा गम्भीर विवेचन किया है। भारतीय इतिहास का पर्दा उठाते ही आर्य-अनार्यों का प्रचण्ड संघर्ष सामने आता है। इस संघर्ष के दो पक्ष थे जो सब संघर्षों में रहते ह,--परस्पर विच्छेद और मिलन। जिन महापुरुषों ने अनार्यों के साथ आर्यों का मेल कराने का प्रयत्न किया और इस कठिन प्रयास में जिनको सफलता मिली उनको हमारे देश में अवतार मानकर आज भी पूजा जाता है। रामायण की कथा में इस प्रकार के मेल करानेवाले तीन नेताओं के दर्शन होते हैं --तीनों ही क्षत्रिय थे-- जनक, विश्वामित्र और रामचन्द्र। इन तीनों में एक विशेष अभिप्राय के कारण सम्बन्ध था। रामचन्द्र को विश्वामित्र जीवन कार्य की दीक्षा देते हैं तथा विश्वामित्र रामचन्द्र के सम्मुख जो लक्ष्य प्रस्तुत करते हैं वह उन्हें राजा जनक से प्राप्त हुआ था। ब्राह्मण-क्षत्रियों की स्पर्धा, बौद्ध-ब्राह्मणों के संघर्ष, आर्य-अनार्यों के देवताओं की प्रतिष्ठा को लेकर हुए संघर्ष, भारतीय इतिहास के भावजगत् के महत्वपूर्ण विप्लव हैं। नाना जातियां आईं और यहां आकर विलीन हो गईं, उनके साथ समझौता करने के लिए कदाचित् जातिभेद की व्यवस्था की गई। सभी ने कुछ न कुछ दिया। समन्वय की इस अद्भुत भारतीय क्षमता का कविगुरु ने अनेक बार उच्छ्वसित होकर स्मरण किया है-- जैसे, 'भारततीर्थ' शीर्षक प्रसिद्ध कविता में आर्य-अनार्यों की धारा का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं :

Nepal Sanskrit University. Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हे मोर चित, पुण्य तीर्थे जागो रे धीरे
एइ भारतेर महामानवेर सागर तीरे।.....
केह नाहि जाने कार आह्वाने कत मानुषेर धारा
दुर्वार स्रोते एल कोथा हते, समुद्रे हल हारा।
हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़ चीन
शक-हूण-दल पाठान मोगल एक देहे हल लीन।

सम्पूर्ण कविता में विभिन्न वंशों और जातियों के लोगों को भारत-तीर्थ में आकर भारतमाता के मंगलघट को भरने के लिए आमन्त्रित किया है। भारत वास्तव में महामानव-सागर है। जातियों, धर्मों की एकता के समर्थक गुरुदेव ने जाति-धर्म की संकीर्णता पर अनेक स्थलों पर बहुत ही भावपूर्ण आक्षेप किए हैं। चंडालिका को अस्पृश्य जाति की होने के कारण लांछन, अनादर, अपमान सहने पड़ते हैं, अन्त में बुद्ध के शिष्य आनन्द उसका उद्धार करते हैं। 'दुराशा' कहानी में वद्राओन के नवाब की पुत्री केशरलाल के ब्राह्मणत्व पर अपने आपको निछावर कर देती है; किन्तु केशरलाल उसके स्पर्श से भी अपने को अपवित्र हुआ समझता है, अन्त में केशरलाल के ब्राह्मणत्व का पतन हो जाता है और वह भोटिया स्त्री के साथ जीवन यापन करने लगता है। उसको पाने के लिए नवाब-जादी घर से निकलकर सारा जीवन भटकती रहती है; अन्त में उसके पतन को देखकर बहुत ही अनुतप्त होती है और अपने यौवन को 'ब्राह्मणत्व' के लिए गंवा देने पर बड़ी आत्मग्लानि का अनुभव करती है। धर्म और वर्णादि के ऐसे अनेक चित्र गुरुदेव ने प्रस्तुत किए हैं, इन चित्रों को ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया है कि वे वर्णन स्वयं ही सब कुछ व्यंजित कर देते हैं, शुष्क, नीरस उपदेशक के सामान कलाकार अपना मत कहीं नहीं व्यक्त करता। वर्ण, धर्म और जाति सबके ऊपर कविगुरु मानवता को स्थान देते हैं।

पूर्व और पश्चिम की दो भिन्न संस्कृतियां और सभ्यताएं हैं। गुरुदेव ने दोनों के ऐक्य और पार्थक्य के सम्बन्ध में गम्भीर विवेचन किया है और दोनों के समन्वय का ध्यान बराबर उन्हें रहा। पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं और संस्कृतियों के मिलन की कल्पना को मूर्तरूप देने के लिए ही उन्होंने विश्वभारती की स्थापना की। विश्वभारती के आदर्शों को उसके समावर्तन समारोह के अवसर पर प्रतिवर्ष दुहराया जाता है। पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों में जो सर्वोत्तम है, उसका केन्द्रस्थल बनाने की गुरुदेव की कल्पना अभी आंशिक रूप में ही कदाचित् सफल हुई है। पूर्वीय सभ्यता के सर्वोत्तम को आकर ग्रहण करने का निमन्त्रण न तो अभी पश्चिम वालों ने ही स्वीकार किया है और पूर्व वाले तो अभी पश्चिम से शान्त चित होकर कुछ ग्रहण कर सकें, ऐसी स्थिति में ही नहीं है।

राष्ट्रीयता (राष्ट्रवाद) का जो अर्थ प्रचलित है उसके गुरुदेव पूर्ण विरोधी थे। 'नेश्नेलिज्म' में संग्रहीत उनके भाषणों में आधुनिक 'नेश्नेलिज्म' की उन्होंने भर्त्सना की है। भारतीय इतिहास पश्चिमी 'राष्ट्रवाद' के इतिहास से भिन्न रहा है। मानव इतिहास का भी उद्देश्य राष्ट्र-पूजा नहीं रहा है। विभिन्न जातियों और वंशो के प्रतिनिधियों को अपनी सामाजिक व्यवस्था में स्थान देने में हो सकता है, भारत ने भूलें कीं हों किन्तु हज़ारों वर्षों से भारतीय इतिहास में ये प्रयोग होते आ रहे हैं। गुरुदेव ने भारतीय परम्परा की तुलना एक ऐसी घर-मालकिन (होस्टेस) से की है जिसे नाना रुचियों वाले मेहमानों की सुविधा का ध्यान रखना पड़ता है। नाना देशों से आने वाले विभिन्न स्वभाव के व्यक्तियों की देखभाल करना और उनमें एकता स्थापित करना बड़ा कठिन कार्य है। मनुष्य के सब भेदभावों पर सहानुभूतिपूर्ण ढंग से विजय पाना और उनमें सच्ची सहानुभूति स्थापित कराना आदि काल से भारतीय संस्कृति का उद्देश्य रहा है। हमारा इतिहास राजवंशों के उत्थान, पतन, राजनीतिक युद्धों और प्रभुत्व स्थापित करने का इतिहास नहीं है। हमारा इतिहास सामाजिक जीवन और आध्यात्मिक आदर्शों की प्राप्ति का इतिहास है। सारे संसार को एकात्म रूप में समझना ही भारत का उद्देश्य रहा है। अनेक राजमुकुट आए और बादलों की भांति विलीन हो गए, वे प्राकृतिक दुर्घटनाओं की भांति थे जिनका नाम-निशान कुछ ही काल में मिट जाता है। आधुनिक राष्ट्रवाद पश्चिम की देन है, राष्ट्रवाद देश की सारी जनता को राजनीतिक, आर्थिक संगठन में एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बांध देता है। इस यंत्रवत् राष्ट्रवाद के गुरुदेव घोर विरोधी थे। व्यक्तिगत मानव का ध्वंस हो जाता है, व्यक्ति को मिटा दिया जाता है और उसका स्थान विधि और नियम ले लेते हैं। वे यह नहीं कहते कि पश्चिम ने शतियों के अनुभव के बाद जो प्राप्त किया है वह सारहीन है। सत्य के पहलू को पूर्व और पश्चिम ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखा है। दोनों का मूल्य है। एक को दूसरे का पूरक मानना चाहिए। पश्चिम की लहर हमारे देश में ऐसे बीज बिखेर रही है जो अमर हैं। भारत को पश्चिम के महान् सत्यों को अपने ढंग से आत्मसात् करने की चेष्टा करनी चाहिए। पश्चिमी राष्ट्र-वाद को ज्यों का त्यों अपनाना घातक होगा, उससे पूर्व के देशों की नैतिक शक्ति नष्ट हो जाएगी। भारत और पूर्व के देशों के लिए भी भविष्य है। जिनके पास समृद्ध नैतिक आदर्श हैं उनका भविष्य भी उज्ज्वल है, केवल बहुत सी भौतिक सामग्री का होना ही पर्याप्त नहीं है।

जापानी राष्ट्रवाद से गुरुदेव दुखी थे और इसका उन्होंने जापान में दिए भाषण में आभास भी दिया था जो जापानियों को अच्छा नहीं लगा था। व्यक्ति के रूप में वे अंग्रेज की श्रद्धा करते थे किन्तु राष्ट्रवादी के रूप में वे इंगलैण्ड के प्रशंसक नहीं थे। अस्सीवीं वर्ष गांठ के अवसर पर उन्होंने 'सभ्यता का संकट' नाम से जो भाषण दिया था उसमें साम्राज्यवादी अंग्रेजों के प्रति उन्होंने बड़ा क्षोभ प्रकट किया है, यद्यपि उन के व्यक्तिगत चरित्र की प्रशंसा की है। मनुष्य-मनुष्य के बीच के सम्बन्धों को मेटनेवाली हर एक शक्ति के वे विरोधी थे। संसार में भाव ऐक्य को वे सबसे अधिक महत्व देते थे। इस ऐक्य के अनेक उदाहरणों की उन्होंने सृष्टि की है जो उनके साहित्य में बिखरे हैं। भारतीय इतिहास की झलक प्रस्तुत करते हुए उन्होंने अपनी प्रिय प्रार्थना दुहराई है जो उनके सच्चे भारतीय और विश्वनागरिक के रूप और आदर्श को यथार्थ-रूप में व्यंजित करती हैं; उसका भावार्थ यह है: वह (ईश्वर) एक है, अवर्ण है, सभी वर्ण के जीवों के निहितार्थों की वह पूर्ति करता है, वह विश्व के आदि अन्त को जानता है, वह शुभ बुद्धि द्वारा हम सबको मिलाए —

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रवीन्द्रनाथ : कुछ प्रसंग

हरिदत्त भट्ट 'शैलेश'

घायल की गति घायल जाने

गुरुदेव दूसरों की भावनाओं का कितना खयाल रखते थे, इस सम्बन्ध में अनेक प्रसंग हैं। दूसरों के प्रति उनका बहुत ही उदार दृष्टिकोण रहा है। एक समय की बात है कि शान्तिनिकेतन में कुछ विशेष अतिथि आए हुए थे। गुरुदेव उन्हें सभी विभागों में ले गए। 'कला-भवन' देखने की दर्शकों की बहुत ही इच्छा थी। अतः गुरुदेव उन्हें कला-भवन की ओर भी ले गए, किन्तु वहां जाते ही देखते हैं कि 'कला-भवन' के 'मास्टर मोशाय' नन्दलाल बोस अपने ध्यान में ही डूबे हुए हैं। गुरुदेव ने उनकी समाधि तोड़ना ठीक नहीं समझा और अतिथियों के साथ कुछ देर वैसे ही चुपचाप प्रतीक्षा में खड़े रहे। पर आचार्य नन्दलाल बोस तो अपने चिन्तन में मग्न थे। एकटक दूसरी तरफ देख रहे थे। काफी देर ऐसे ही जब प्रतीक्षा करते हो गई तो गुरुदेव ने दर्शकों से कहा--"अभी चलिए, मास्टर मोशाय की समाधि तोड़ना ठीक नहीं, वे न जाने किस स्वप्न-लोक में विचर रहे हैं।" अतः गुरुदेव अतिथियों के सहित कला-भवन को बिना देखे ही लौट पड़े--यह कहते हुए कि आप लोग फिर बाद में चले जाना, अभी उनकी चिन्तन-धारा भंग करना ठीक नहीं, न जाने किस रूप-शिल्प की कल्पना में वे विभोर हैं।

नया-पुराना

एक बार गुरुदेव ने अपने एक मित्र से कहा--"मुझे आदि ब्रह्म-समाज पुस्तकालय में एक पुरानी जीर्ण-शीर्ण हस्तलिखित पांडुलिपि मिली है। उसमें अनेक गीत हैं। भाषा मैथिली-मिश्रित है। उसमें से मैंने कुछ गीत लिए हैं।" ऐसा कहकर गुरुदेव उन्हें कुछ गीत सुनाने लगे। मित्र आत्मविभोर और गद्गद् होकर कहने लगे--"वाह ! वाह ! ऐसे गीत चंडीदास और विद्यापति भी नहीं लिख सके। मुझे जल्दी ही वह पांडुलिपि दिखाओ और कवि का नाम भी। मैं शीघ्र ही इस अप्राप्य संग्रह को प्रकाशित करना चाहता हूं।" फलतः 'भारती' में भानुसिंह की ये कविताएं दनादन छपने लगीं। इन्हीं दिनों श्री निशिकान्त चटर्जी जर्मनी में बंगाल के वैष्णव कवियों पर प्रबन्ध लिख रहे थे। उन्होंने भी अपने प्रबन्ध में भानुसिंह के गीतों पर जी-खोलकर लिखा और भानुसिंह को बंगाल के प्राचीन वैष्णव कवियों में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। निशिकान्त चटर्जी को डाक्टरेट भी मिल गई और तब गुरुदेव ने भानुसिंह का रहस्य खोला कि वह तो नूतनतम कवि हैं। रवि और भानु समानार्थी हैं--अर्थात् रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वयं ब्रज कलियों में ये गीत भानुसिंह के नाम से लिखे थे।

नटी की पूजा

गुरुदेव ने प्रायः संसार के सभी देशों की यात्राएं कीं। सर्वत्र उनका भव्य स्वागत हुआ। इस युग में वे जन-जन के मानस देवता बन गए थे। विश्व की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में उनकी रचनाओं के अनुवाद छपे। उनकी बात करोड़ों लोगों ने जानी और सभी उनकी बहुमुखी प्रतिभा के चमत्कार से विस्मित हो गए। श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने केवल 'रवीन्द्र साहित्य' को मूल में पढ़ने के लिये ही बंगला पढ़ी। प्रसिद्ध कवि यीट्स ने लिखा कि मैंने बसों, गाड़ियों और जलपान गृहों में कई पाठकों को 'गीतांजलि' में आत्म-विभोर देखा। गीतांजलि पढ़ते हुए उनकी आंखों में आंसू देखे। ऐसा था विश्व कवि रवीन्द्र की लेखनी का जादू। पर गुरुदेव के हृदय में सदा एक कसक सी रही, जिसको कई अवसरों पर उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त भी किया। एक बार श्री चन्दोला ने उनकी 'नटीर पूजा' का हिन्दी में अनुवाद किया। अनुवाद की प्रति गुरुदेव को दिखाने के लिये ले गए। गुरुदेव उन दिनों अपनी चित्रकला में डूबे रहते थे। अनुवाद की प्रति उनके सामने रखी गई तो गुरुदेव ने बार-बार साधुवाद किया किन्तु यकायक उनके स्वर में कुछ परिवर्तन हुआ और करुण स्वर में उन्होंने कहा--"हमारे लिये और सब लोग सब करेंगे, पर अपने लोग कुछ नहीं करेंगे।"

रवीन्द्रनाथ : कला-चिन्तक के रूप में--(पृष्ठ ८७ का शेषांश)

सौन्दर्य बोध इन बिन्दुओं की सघनता से उत्पन्न ऐसी परिधि है जिसमें इस देश की चिन्ताधारा का सारा सार तत्व समाविष्ट प्रतीत होता है। सबसे महत्वपूर्ण बात उनके दर्शन में यह रही है कि प्राचीन भारतीय ऋषियों एवं मनीषियों की तरह ही उन्होंने भौतिक सत्ता के स्थान पर चैतन्य को केन्द्र में रख कर विचार किया है। प्रस्तुत लेख के आरम्भ में ही इसकी ओर संकेत किया जा चुका है। देखने में यह अन्तर विशेष महत्व का चाहे न प्रतीत हो पर वास्तविकता यह है कि इससे सारा दृष्टिकोण ही बदल जाता है और जो मूल्य इससे निर्धारित होते हैं वे भौतिक सत्ता मात्र को केन्द्र में रख कर उपलब्ध किए हुए मूल्यों से सर्वथा भिन्न होते हैं। जहां तक मेरा विचार है सच्ची मानवतावादी दृष्टि बिना चैतन्य को महत्वपूर्ण माने विकसित ही नहीं हो सकती।

रवीन्द्र का सौन्दर्य-बोध इतना सचेतन था कि असंतुलन, असहजता और कृत्रिमता-जन्य दोषों को उन्होंने सरलता से देख लिया था। आधुनिक सभ्यता में उन्हें ऐसे अनेक निर्जीव तत्व दिखाई दिए जो उनकी सौन्दर्य-दृष्टि को खटकते थे। यदि ऐसा न होता तो वे 'शान्ति निकेतन' की संस्थापना में जीवन के प्रौढ़ वर्षों की अमूल्य आहूति न देते। उनको भय था कि भौतिक समृद्धि पाकर कहीं मनुष्य जीवन के मूल चारुत्व को परखने की क्षमता ही न खो बैठे। इसके लिए उन्होंने अपने समस्त आत्मबल और बुद्धि वैभव का उपयोग करके युग के सामने एक ऐसा आदर्श रखना चाहा जिससे पाश्चात्य संस्कृति की बाहरी चमक से चमत्कृत एवं युगों से पराधीन भारतवासी अपना विवेक जागृत

(शेष पृष्ठ ९७ पर)

Nepal Sanskrit University. Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

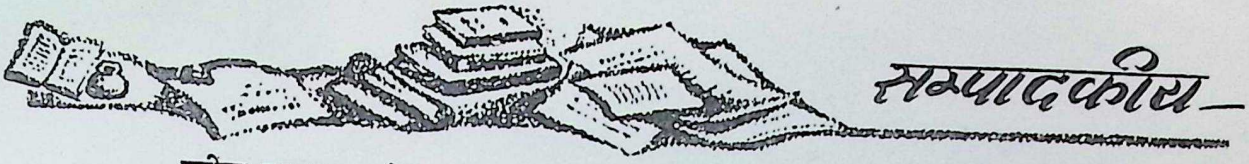

रवीन्द्र जन्म शताब्दी

८ मई १९६० के दिन महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म हुआ था। आज ठीक १०० वर्षों के बाद उनकी जन्म शताब्दी विश्व भर में मनाई जा रही है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की श्रेणी के महान साहित्यकार कभी-कभी जन्म लेते हैं। एक महान साहित्यकार होने के अतिरिक्त गुरुदेव एक महान व्यक्ति भी थे। भारत के नवनिर्माण तथा भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का स्थान अन्यतम है। पिछले २०० सालों में भारत ने जिन दो अमर और महानतम व्यक्तियों को जन्म दिया, उन में युग-पुरुष महात्मा गांधी के बाद गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का ही स्थान है। ये दोनों महापुरुष न केवल समकालीन थे अपितु एक दूसरे से निरन्तर प्रेरणा लेते रहे। आज गुरुदेव की जन्म शताब्दी के अवसर पर हम अपनी तथा 'आजकल' परिवार की ओर से गुरुदेव क प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

रवीन्द्र-साहित्य का प्रकाशन

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी किशोरावस्था ही से साहित्य निर्माण का प्रारम्भ कर दिया था। जीवन भर उन्होंने बहुत अधिक लिखा, बहुत विविध लिखा और बहुत अच्छा लिखा। उन्होंने जितने साहित्य का निर्माण किया है, यदि कोई व्यक्ति सिर्फ उसकी कापी भी करना चाहे, तो उसे पूरे ७ वर्ष, दूसरे शब्दों में लगभग ४२००० घण्टे लगातार लिखना होगा। गुरुदेव की सर्वतोमुखी प्रतिभा कविता, गीति काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, हास्य, शिशु साहित्य आदि में तो समान रूप से चमकी ही, वह अपने युग के युगान्तरकारी चित्रकार, अभिनेता, निदेशक और संगीतकार भी थे। उनके द्वारा लिखे गए साहित्य की श्रेष्ठता सम्पूर्ण विश्व स्वीकार करता है। यह सन्तोष का विषय है कि साहित्य अकादमी के तत्वावधान में गुरुदेव की बड़ी जीवनी तथा स्मृतिग्रन्थ के अतिरिक्त रवीन्द्र साहित्य के एक अच्छे बड़े अंश का अनुवाद सभी भारतीय भाषाओं में तथा तिब्बती, नेपाली और सिंहली आदि में भी प्रकाशित हो रहा है। संसार के अधिकांश देशों में रवीन्द्र साहित्य के सुन्दर अनुवाद प्रकाशित करने की प्रशंसनीय योजनाएं बना ली गई हैं। रूसी में ८ बड़े खण्डों में तथा चीनी में १० बड़े खण्डों में रवीन्द्र-साहित्य के अनुवाद प्रकाशित हो रहे हैं। हमारी राय से रवीन्द्र जन्म शताब्दी के अवसर पर सब से अधिक महत्वपूर्ण कार्य यही था कि गुरुदेव द्वारा लिखित साहित्य का अधिक से अधिक प्रचार हो। गुरुदेव की रचनाएं पढ़ना और उन्हें हृदयंगम करना उनके प्रति वास्तविक आदर प्रकट करने का सब से अच्छा साधन है।

मोतीलाल नेहरू जन्म शताब्दी

६ मई १९६१ को भारत के वर्तमान युग के एक शक्तिशाली नेता पं० मोतीलाल नेहरू की जन्म शताब्दी है। इसी अंक में पाठक उनके सम्बन्ध में एक लेख पढ़ेंगे। पं० मोतीलाल नेहरू अपने युग के प्रतिभाशाली पार्लियामेण्टेरियन होने के अतिरिक्त देश के सर्वमान्य नेता थे। अपने युग में राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी के बाद उन्हीं का स्थान था। देश की आज़ादी की लड़ाई में उन्होंने अपना सर्वस्व निछावर कर दिया था। वह महान साहसी थे और निडरता उन का सब से बड़ा गुण था। इस शुभ अवसर पर 'आजकल' परिवार आदर के साथ उनका स्मरण करता है।

कृतज्ञता प्रकाश

'आजकल' का रवीन्द्रनाथ ठाकुर अंक आप के हाथों में है। इस अंक के लिए सामग्री एकत्र करने में हमें इस अंक के विविध योग्य लेखक महानुभावों के अतिरिक्त, साहित्य अकादमी और उसके मन्त्री श्री कृष्ण कृपलानी तथा शान्तिनिकेतन के हिन्दी भवन के श्री मोहनलाल वाजपेयी व श्री हरिशंकर शर्मा से मूल्यवान सहायता मिली है। चित्रों के लिए हम विश्व-भारती तथा टाटा आइरन तथा स्टील वर्क्स के प्रकाशन विभाग के विशेष आभारी हैं। इन सभी के प्रति हम कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं।

रवीन्द्रनाथ : कला-चिन्तक के रूप में—(पृष्ठ ९६ का शेषांश)

रख सकें। स्वयं वे इतने विवेकशील थे कि विज्ञान और कला के क्षेत्र में यथार्थ और यथार्थवाद का सूक्ष्म परिसीमत कर सकते थे। जिस प्रकार विज्ञान में हर प्रकार का यथार्थ ग्राह्य होता है वैसा कला में नहीं। कला की अपनी स्वतन्त्र मर्यादा होती है जिसका निर्धारण सौन्दर्य-बोध की प्रवृत्ति से होता है। इसीलिए उन्होंने यथाशक्ति इस प्रकृति को भारतीय संस्कार देने की चेष्टा की।

अन्त म मैं इतना अवश्य जोड़ना चाहूंगा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कला और सौन्दर्य विषयक विचारों को सहानुभूति पूर्वक देखने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति उनके आभिजात्य संस्कार से विचलित न हो जाए। कभी कभी वे अलौकिक और अतीन्द्रिय आनद पर इतना अधिक बल देते दिखाई देते हैं, मानो धरती के दारिद्र्य की दाहकता ने उन्हें तपाया ही न हो। वास्तव में उनके विचारों को तात्विक स्तर पर ही ग्रहण करना उचित है। अन्य अनावश्यक संदर्भों से जोड़ने पर उन्हें कोई पुनरुत्थानवादी भी कह सकता है पर मेरे निकट वे एक महान् कलाकार और तत्वदर्शी ही थे।

रवीन्द्र-रचना-कोष—(पृष्ठ ९३ का शेषांश)

उपरोक्त विवरण से सुधी पाठकों को यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'रवीन्द्र-रचना-कोष' के निर्माण का कार्य कितना जटिल, दुरूह और परिश्रम सापेक्ष है। सच पूछा जाए तो इस क्षेत्र में वृहत्तर आयोजन की आवश्यकता है। हमारे देश में गुरु-ऋण के परिशोध को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अपनी सीमाओं को जानते हुए भी हम आशा करते हैं कि 'रवीन्द्र-रचना-कोष' के माध्यम से रवीन्द्र-साहित्यानुरागियों की ओर से उक्त ऋण के यत्किंचित परिशोध का प्रयास चरितार्थ हो सकेगा।

अनुवादक : हरिशंकर शर्मा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

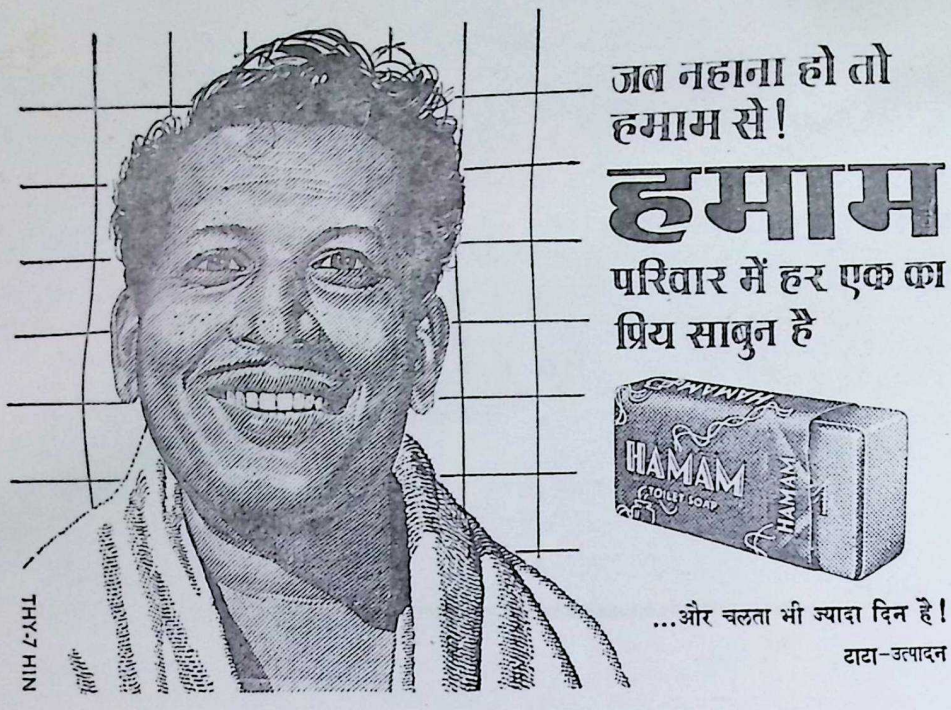

सुभाषित

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति

झरते हैं रातों के आंसू व्यर्थ सूर्य के शोक में,
रातों को सूरज न कभी लौटा करता इस लोक में।

मध्यम की सतर्कता

उत्तम तो निश्चिन्त भाव से चलें अधम के संग,
मध्यम वे, जिनका हो अलग-अलग चलना ही ढंग।

अ-कृतज्ञ

यही गूंज की रीत : मूल ध्वनि का मुंह सदा चिढ़ाती है,
ऋणी उसी की किन्तु पोल तो पीछे ही खुल पाती है।

निजी और सार्वजनिक

कहे चन्द्रमा उजियाला जग में छितराया है मैंने,—
जो कलंक है, उसे प्रेम से गले लगाया है मैंने।

सगापन

मिट्टी के दिये से बोली मिट्टी तेल-भरी ढिबरी :
'मुझको बहन कहा तो गला टीप दूंगी; —मैं कहूं खरी।'
इतने ही में चांद निकल आया, मुसकाया आसमान,
मिट्टी-तेल की ढिबरी बोली: 'आओ, मेरे भाई जान।'

रूपान्तरकार : युगजोत नवलपुरी

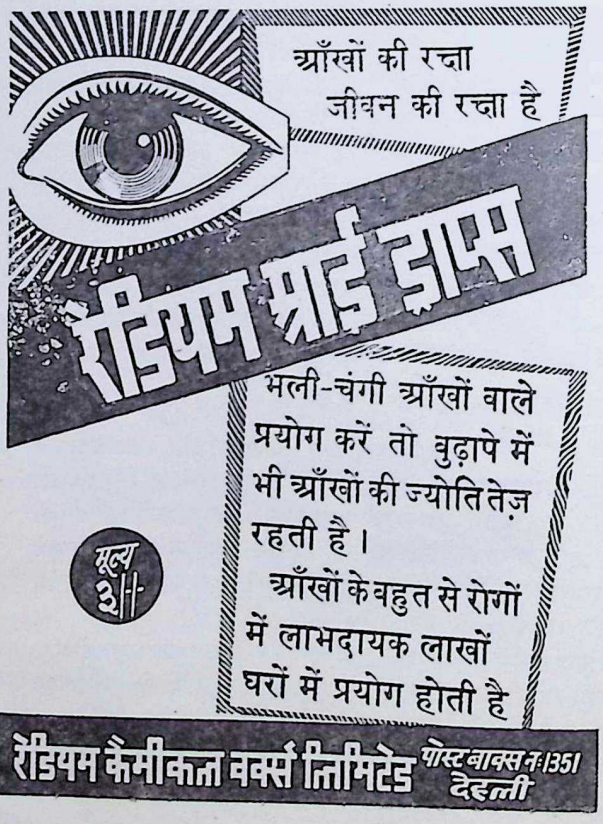

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

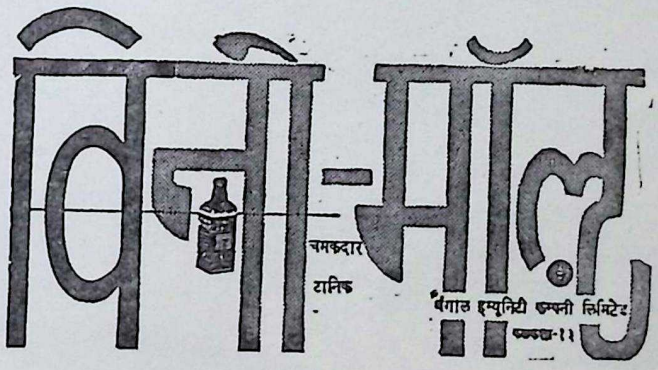

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

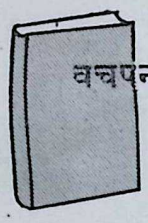

लेव तोलस्तोय :

बचपन, किशोरावस्था, युवावस्था

अमर रूसी कलाकार लेव तोलस्तोय का कालजयी
आत्मकथात्मक उपन्यास।
पृष्ठ संख्या ५१२, मूल्य रु० २.८१ रजिस्टर्ड पोस्टेज रु० १.४६

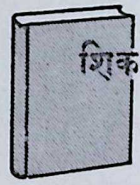

पावेल लुकनीतस्की :

शिकारी के शब्द-चित्र

एक अमर रूसी शब्द-चित्रकार की लेखनी से प्रसूत
ज़ारशाही रूस की जीवन झांकियां।
पृष्ठ संख्या ५८७, मूल्य रु० २.८१
रजिटर्ड पोस्टेज रु० १.४६

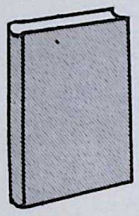

इवान तुर्गेनेव :

ओइकुमेना

आधुनिक सोवियत लेखक का लिखा रोचक उपन्यास—नये
ताजिकिस्तान के जन्म की घटनाओं से परिपूर्ण
कहानी।
पृष्ठ संख्या ४१२, मूल्य रु० ३.१२ रजि० पोस्टेज रु० १.६९

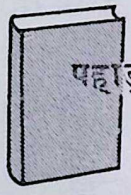

इवान येफ्रीमोव :

पहाड़ों की बेटी

प्राचीन मिस्र और यूनान की पृष्ठभूमि पर लिखा
किशोरोपयोगी उपन्यास, रोचक, शिक्षापूर्ण और सरस।
पृष्ठ संख्या ४४९, मूल्य रु० २.०६
रजि० पोस्टेज रु० १.३४

प्राप्ति - स्थान :

१. पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, (प्र०) लि०, एम० एम० रोड, नई दिल्ली
२. पी० पी० एच० बुकस्टाल, १९०-बी, खेतवाडी मेन रोड, बम्बई-४
३. पीपल्स बुक हाउस, ७, विशेश्वर नाथ रोड, लखनऊ
४. पीपल्स बुक हाउस, फ्रेजर रोड, पटना-१

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

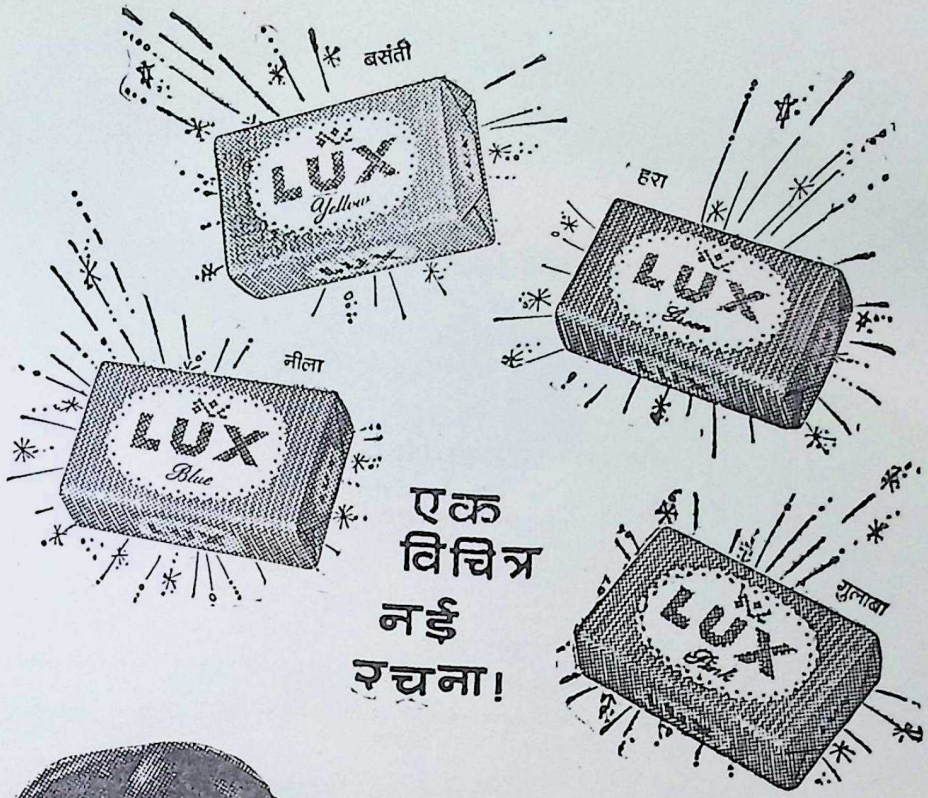

एक विचित्र नई रचना!

शुद्ध, मुलायम झाग वाला लक्स
इंद्रधनुष के ४ रंगों में
और आप का मनपसंद सफ़ेद भी

देखिये! सुहाने रंगों में लक्स — जिस रंग का साबुन उसी रंग का आवरण! और सफ़ेद भी! रंग अनेक, साबुन एक — आप का मनपसंद, शुद्ध लक्स, आप के रंगरूप की रौनक!

'देखिये तो — मनोहर रंगों की यह अलबेली बहार!'
वहीदा रहमान कहती हैं

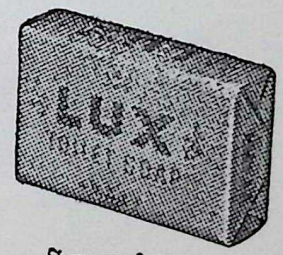

LTS. 81-X52 HI

हिंदुस्तान लीवर का उत्पादन

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रकाशित हो गया !

भारत में अंगरेज़ी राज

दूसरे विश्वयुद्ध से कुछ पहिले पं० सुन्दरलाल जी ने 'भारत में अंगरेज़ी राज' नामक पुस्तक लिखी थी, जिसमें उन्होंने उस समय के भारत की राजनीतिक दशा का बहुत सच्चा विवरण दिया था। सत्यता का विवरण देते हुए यदि अंगरेज़ों के खिलाफ़ कोई बात लिखनी पड़ी तो उसे भी उन्होंने नहीं छोड़ा था। वह पुस्तक लोगों को इतनी पसन्द आई कि बहुत से लोग उसे स्वतंत्रता-संग्राम की गीता कहने लगे थे। पर उस समय की अंगरेज़ी सरकार ने इस पुस्तक को प्रकाशित होने के कुछ ही दिनों बाद ज़ब्त कर लिया जिसके कारण बहुत अधिक भारतीय इसको पढ़ने में असमर्थ रहे।

आज हम स्वतंत्र हैं, अतः पुस्तक के महत्व को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने इसे दुबारा प्रकाशित करने का निश्चय किया है। उस समय १,८०० पृष्ठ की यह पुस्तक ३ जिल्दों में प्रकाशित हुई थी। अब हम इसे दो बड़ी जिल्दों में प्रकाशित कर रहे हैं। इस ऐतिहासिक महत्व की पुस्तक का प्रथम खण्ड प्रकाशित हो गया है। आप अपना आर्डर लौटती डाक से भेज दें।

मूल्य : कपड़े की जिल्द में : रु० १०.०० कागज़ की जिल्द में : रु० ८.०० (डाक खर्च अलग)

शाखाएं

पब्लिकेशन्स डिवीज़न
पो० बॉ० नं० २०११
ओल्ड सेक्रेटेरिएट, दिल्ली-६

आकाशवाणी भवन, ईडेन गार्डेन्स, कलकत्ता-१
प्रास्पेक्ट चैम्बर्स, दादाभाई नौरोजी रोड, बम्बई-१
आनन्द सागर, ८ सेनथोम हाई रोड, मद्रास-४

श्रेष्ठ हिन्दी कहानियां

स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त लिखी गई २७ श्रेष्ठ
हिन्दी कहानियों का अनुपम संग्रह
क्राउन अठपेजी आकार : पृष्ठ २५५
मूल्य ३ रुपये

(डाक खर्च ४५ न० पै०, रजिस्ट्रेशन अलग)

पब्लिकेशन्स डिवीजन
ओल्ड सेक्रेटेरिएट, दिल्ली-६
शाखाएं : कलकत्ता, बम्बई, मद्रास

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MHRD

थोड़ा सा सनलाइट मगर ढेरों धुलाई

-यह इस के अधिक झाग का कमाल है

दादी मां की शाबशः दादी मां को घर चलाने का वर्षों का अनुभव है। इसी लिए तो लक्ष्मी ने सनलाइट साबुन से जो कमाल किया है उसे देख कर वे खुश हो गई हैं!

लक्ष्मी जानती है कि ज़रा ही से सनलाइट से कमीजें, चादरें, तौलिये—यानी सभी कपड़े जगमगाते हुये सफ़ेद और उजले धुलते हैं।

कपड़ों को कूटे पीटे बग़ैर, सनलाइट का बढ़िया भरपूर झाग मैल के कण कण को बहा ले जाता है! घर भर के कपड़ों की धुलाई के लिए आप भी सदा सनलाइट साबुन इस्तेमाल कीजिये।

सनलाइट से कपड़े सफ़ेद और उजले धुलते हैं!

R 262-X52 HI

हिंदुस्तान लीवर लिमिटेड ने बनाया

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

स्वर्गी श्री जयेन्द्र वम मल्ल
ज्यूको सकलनमा रहेका
पुस्तकहरु सार्वजनिक प्रयोगका
लागि प्रदान गरिएको छ ।
श्रीमती मेदिनी मल्ल

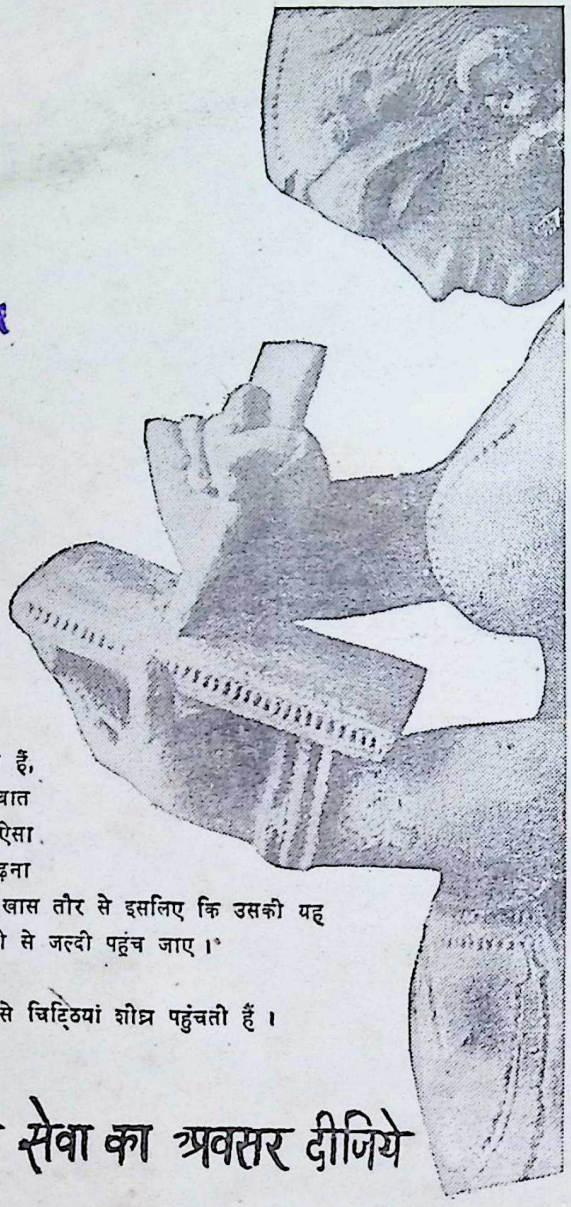

निजी बात...

आप अपने पत्र में क्या लिखते हैं, यह आपकी बिल्कुल निजी बात है, पर पत्र का एक भाग ऐसा भी है जिसे डाकिये को पढ़ना होता है । वह है — पता । खास तौर से इसलिए कि उसकी यह कोशिश रहती है कि पत्र जल्दी से जल्दी पहुंच जाए ।

साफ और पूरे पते से चिट्ठियां शीघ्र पहुंचती हैं ।

हमें उत्तम सेवा का अवसर दीजिये

डाक-तार विभाग

डीए ६०/३६८

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu